भारतीय संस्कृति

प्रो० शिवदत्त ज्ञानी, एम० ए०

रा ज क म ल प्र का श न
दिल्ली : बम्बई : नई दिल्ली

मूल्य पाँच रुपये

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई द्वारा, भारतीय विद्याभवन
बम्बई की आज्ञा से प्रकाशित ।

गोपीनाथ सेठ द्वारा, नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित ।

प्राक्कथन

ज्ञानीजी की यह पुस्तक मेरी सूचना से लिखी गई है। आर्य संस्कृति का समग्र दिग्दर्शन एक ही पुस्तक में हो जाय, इस उद्देश्य को लेकर लेखक ने यह पुस्तक लिखी है। ज्ञानीजी ने इस पुस्तक के लिए बहुत मेहनत उठाई है।

'भारतीय विद्याभवन' का परम लक्ष्य है कि आर्य संस्कृति को जागृत करे तथा उसे दृढ़ बनाए। इस कार्य में यह पुस्तक मदद करेगी, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। संस्कृति-सम्बन्धी परीक्षाओं के लिए भी इसका पूरा उपयोग हो सकेगा।

बम्बई
५, सितम्बर, १९४४

—क० मा० मुन्शी

दो शब्द—

प्रस्तुत पुस्तक पू० मुन्शीजी की प्रेरणा का फल है। लेखक ने इस पुस्तक द्वारा जनसाधारण के सम्मुख भारत की प्राचीन संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। उक्त संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन करके उसने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीनकालीन अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक सर्वतोमुखी, लोक-कल्याणकारी तथा उपादेय है; क्योंकि वह सत्य सनातन सिद्धान्तों पर स्थित है।

भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास का विवेचन करते हुए लेखक को कितने ही विवादास्पद विषयों का विवेचन करना पड़ा है; यथा आर्यों का आदिम निवास-स्थान, वेदकाल-निर्णय, भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव आदि। ऐसे अवसर पर विभिन्न मतों को समझाते हुए लेखक ने अपना भी मत दिया है, किन्तु उसका यह आग्रह कदापि नहीं रहा है कि उसका मत ही ग्राह्य माना जाय। सुज्ञ पाठकों को स्वयं निर्णय का पूर्ण अधिकार तथा स्वातन्त्र्य है। लेखक की तो यही इच्छा रही है कि गुरुजनों की कृपा से जिस प्रकार उसने भारत माँ के प्राचीन गौरव के दर्शन किये हैं, उसी प्रकार जनसाधारण भी दर्शन करे।

पू० मुन्शीजी के अतिरिक्त गुरुवर्य डॉ० अ० स० अलतेकर (काशी विश्वविद्यालय) भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। अनेकों आवश्यकीय कार्य रहते हुए भी आपने अपने शिष्य की प्रार्थना मानकर प्रस्तुत पुस्तक की हस्तलिखित प्रति आदि से अन्त तक पढ़कर कितनी ही बहुमूल्य बातें सुझाई थीं, जिनका लेखक ने पूरा-पूरा लाभ उठाया, यद्यपि कहीं-कहीं विचार-भिन्नता के लिए भी स्थान था। गुरुवर्य डॉ० अलतेकर की

इस कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए लेखक के पास शब्द नहीं हैं।

निर्णयसागर मुद्रणालय के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना रह नहीं सकता, जिसने इतनी योग्यता के साथ पुस्तक-मुद्रण का कार्य सम्पादित किया। साथ ही, वहाँ के पंडित भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने समय-समय पर कुछ बातें सुझाईं जिनसे लेखक को बहुत लाभ हुआ।

सुज्ञ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत पुस्तक को रखते हुए लेखक को आनन्द होता है। यदि यह पुस्तक पाठकों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति सच्चा प्रेम व सच्ची लगन उत्पन्न करने में सफल हो सके तो लेखक अपने प्रयत्नों को कृतकृत्य समझेगा।

बम्बई
भाद्रपद शुक्ला, १,
वि० सं० २०००

विनीत,
शिवदत्त ज्ञानी

पुनश्च—

परिवर्तित व संशोधित रूप में 'भारतीय संस्कृति' का द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए लेखक को आनन्द होता है। इस संस्करण में पुस्तक का कलेवर कुछ कम कर दिया गया है, साथ ही कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं, तथा विषय का प्रतिपादन इस तरह किया गया है, जिससे विद्यार्थी और साधारण पाठक दोनों की समझ मे सरलता से आ सके। अतएव इतिहास के क्षेत्र में विवादास्पद व कम महत्त्वपूर्ण बातों तथा टिप्पणियों को आवश्यकता से अधिक स्थान नहीं दिया गया है।

लेखक 'भारतीय विद्या भवन' बम्बई का कृतज्ञ है, जिसने उसे इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों को भेंट करने का अवसर प्रदान किया है।

आशा है, सुज्ञ पाठक इस संशोधित संस्करण का स्वागत कर तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को अपने जीवन में अनुवादित कर विश्व-शान्ति का मार्ग ढूँढने में अग्रसर होंगे। इसी में लेखक के प्रयास व प्रयत्न की कृतकृत्यता है।

बराणपुर
वि० सं० २००८

विनीत,
शिवदत्त ज्ञानी

विषय-सूची

१

भौगोलिक विवेचन

विस्तार व सीमा—यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष हिन्दुस्तान व पाकिस्तान ऐसे दो विभागों में विभाजित किया गया है, तथापि भौगोलिक व सांस्कृतिक दृष्टि से इस विभाजन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव भौगोलिक विवेचन में इस विभाजन का कोई स्थान नहीं है।

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक छोटा महाद्वीप ही है। यूरोप में से यदि रूस निकाल लिया जाय तो क्षेत्रफल में यह यूरोप के बराबर हो जायगा। इसका क्षेत्रफल १,०००,००० वर्गमील है, उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग २००० मील है व ब्रह्म देश को सम्मिलित करने पर पूर्व से पश्चिम तक इसकी चौड़ाई २५०० मील है।

इसके उत्तर में पर्वतराज हिमालय है, जो हमेशा बर्फ से ढका रहता है। उत्तर छोर पर वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला गया है। आजकल की परिभाषा में ब्रह्मपुत्र और सिन्धु नदियों के दक्षिणी मोड़ों को उसकी पूर्वी व पश्चिमी सीमा माना जाता है। हिमालय शब्द मुख्यतः उन दोनों के बीच सनातन हिम से ढकी उस परम्परा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें नांगा, नुनकुन, बन्दरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसाईंथान, गौरीशंकर, काञ्चनचंगा, चुमलारी आदि प्रसिद्ध पहाड़ हैं। उत्तर भारतीय मैदान व उसके बीच के पहाड़-पहाड़ियों को और दो शृङ्खलाओं में बाँटा गया है जिन्हें क्रमशः भीतरी

या छोटी हिमालय-शृङ्खला और बाहरी या उपत्यका-शृङ्खला कहते हैं, और जिन्हें असली हिमालय की निचली सीढ़ियाँ कहना चाहिए। भीतरी शृङ्खला का नमूना काश्मीर की पीरपञ्चाल-शृङ्खला, कांगड़ा-कुल्लू की धौलाधार आदि हैं। उपत्यका-शृङ्खला का अच्छा नमूना शिवालक पहाड़ियाँ हैं। यह हिमालय कम-से-कम १४०० मील लम्बाई में है और लगभग १६००० फुट ऊँचाई में है। इसकी चोटियाँ २५००० से २६००० फुट ऊँची हैं। इस पर्वतमाला में से कहीं-कहीं उत्तर की ओर जाने का मार्ग भी है, जैसे गिलगिट से पामीर, लेह से तिब्बत आदि जाने का रास्ता।

भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर में भी हिन्दुकुश, सुलेमान आदि पर्वत-श्रेणियाँ हैं। इन्हीं में खैबर, कुर्रम, बोलन आदि प्रसिद्ध घाटियाँ हैं, जिनके द्वारा कितने ही विदेशी व आक्रमणकारी भारत में आकर बसे थे व उन्होंने यहाँ के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मचाई थी। कहा जाता है कि ये घाटियाँ पहले नदियाँ थीं।

पूर्व की ओर भी भारत घने जंगलों व नांगा, पतकुई, आराकान आदि पर्वतों के कारण दुर्गम है, अतएव सुरक्षित है। साधारण आवा-गमन के लिए इनमें मार्ग अवश्य हैं, किन्तु इनसे बड़ी-बड़ी सेनाएँ नहीं आ सकतीं। यही कारण है कि इस दिशा से भारत पर कोई भी आक्र-मण नहीं हुआ।

दक्षिण में पूर्व व पश्चिम की ओर झुकता हुआ समुद्र है। ठीक दक्षिण में हिन्द महासागर लहराता है, तथा पूर्व व पश्चिम में क्रमशः बंगाल की खाड़ी व अरब का समुद्र है। इस प्रकार दक्षिण भारत भौगो-लिक दृष्टि से प्रायःद्वीप कहा जा सकता है। यह भाग भी प्राचीन काल में विदेशियों के आक्रमणों से सुरक्षित ही था। किन्तु व्यापार आदि के लिए विदेशियों का नौका द्वारा आना-जाना प्राचीन काल से ही जारी था। समुद्र के किनारे रहने वाले भारतीय अत्यन्त ही प्राचीन काल से दूर-दूर के देशों से व्यापार करते थे।

जलवायु, पर्वत, नदी आदि—यहाँ का जलवायु उष्ण है, क्योंकि भूमध्यरेखा इसके पास से ही जाती है व उष्ण-कटिबन्ध इसके दो त्रिकोण बनाता है। समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों का जलवायु समशीतोष्ण व हिमालयनिकटवर्ती का अत्यन्त ही शीत है। इस प्रकार यहाँ हर प्रकार के जलवायु का अनुभव किया जा सकता है। पर्वत व नदियों के कारण भी जलवायु पर प्रभाव पड़ता है। पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश साधारणतया शीत-प्रधान रहते हैं।

यहाँ कितने ही छोटे-बड़े पर्वत हैं। मध्य में विन्ध्य है, जो भारत के दो भाग करता है, यथा उत्तरभारत व दक्षिण भारत जोकि प्राचीन काल में क्रमशः उत्तरापथ व दक्षिणापथ कहलाते थे। इसके दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत है, जो दक्खन-उच्चसम भूमि पर फैला हुआ है। पश्चिम में राजपूताने के मध्य में अरावली पर्वत है। पश्चिमोत्तर व उत्तर-पूर्व के पर्वतों का उल्लेख तो पहले ही कर दिया गया है। दक्षिण के दोनों किनारों पर पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) पर्वत स्थित हैं। मैसूर के दक्षिण में नीलगिरि पर्वत है।

इन पर्वतों से कितनी ही छोटी-बड़ी नदियाँ निकलकर भारत के विभिन्न भागों को सींचती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। सिन्धु नदी हिमालय में तिब्बतवर्ती कैलाश-पर्वतश्रेणी से निकलकर आधी दूर तक उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है, फिर हिमालय के छोर से घूमकर दक्षिण की ओर बहती हुई अरब समुद्र में गिरती है। यह अपने उद्गम से मुख तक लगभग १८०० मील लम्बी है। यह जिस भाग में से बहती है उसको इससे जीवन मिलता है। प्राचीन काल में पंजाब व सिन्ध अत्यन्त ही उपजाऊ प्रदेश थे। इसके किनारे कितने ही बड़े-बड़े शहर थे। शक लोग तो इसी के किनारे आकर बस गए थे। यही कारण है कि इसका कछार 'शाकद्वीप' नाम से जाना जाता था। पंजाब की झेलम, चिनाब, सतलज, रावी, ब्यास आदि नदियाँ भी इसमें मिल जाती हैं। इस प्रकार यहाँ नदियों का एक जाल-सा बिछ गया है। यहाँ

की भूमि अत्यन्त ही उपजाऊ है। यही कारण है कि वैदिक काल से ही यह भाग बहुत आबाद था। यही नदी-जाल ऋग्वेद में 'सप्त-सिन्धवः' नाम से उल्लिखित किया गया है, जहाँ कि आर्य लोग बस गए थे। मोहञ्जोदड़ो के स्थान पर प्राचीन सुसंस्कृत नगर भी सिन्धु नदी के ही किनारे पर स्थित था।

गंगा नदी हिमालय में गंगोत्री से निकलकर दक्षिण-पूर्व की ओर से उत्तरप्रदेश, बिहार व बंगाल में बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यह गोआलंद के पास ब्रह्मपुत्र की सबसे बड़ी धारा मेघना से मिल जाती है। इसकी लम्बाई लगभग १५४० मील है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह नदी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति का विकास अधिकांश इसी के किनारे हुआ है। गंगा और इसकी सहायक नदी यमुना दोनों ही भारत के धार्मिक जीवन में महत्त्व का स्थान रखती हैं। राम और कृष्ण इन्हीं नदियों के किनारे खेले व कूदे हैं। अधिकतर तीर्थ-स्थान इन्हीं के किनारे हैं। प्राचीन ऋषि-मुनि भी अधिकांश इन्हीं के किनारे अपने-अपने आश्रमों को बसाते थे। कितने ही बड़े-बड़े साम्राज्य इन्हीं के किनारे बने व बिगड़े व इनके द्वारा कितना ही व्यापार किया गया। इस प्रकार भारतीय जीवन के हर एक पहलू में इन नदियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ब्रह्मपुत्र मानसरोवर के पूर्व से निकलकर तिब्बत में पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यह लगभग १८०० मील लम्बी है। नर्मदा विन्ध्याचल में अमरकण्टक से निकलकर उत्तर दिशा में जबलपुर की ओर बहती हुई पश्चिम में मुड़ती है और भड़ौंच के पास खम्भात की खाड़ी में गिरती है। यादव, हैहय आदि के साम्राज्य इसीके किनारे पुष्पित व पल्लवित हुए। सहस्रार्जुन कार्तवीर्य की प्रसिद्ध नगरी माहिष्मती भी इसी के किनारे थी। ताप्ती नदी मध्यप्रान्त के बैतूल जिले में मुलताई के तालाब से निकलकर पश्चिम की ओर बहती हुई सूरत के पास अरब समुद्र में जा गिरती है। गोदावरी, कृष्णा,

कावेरी आदि दक्षिण की नदियां पश्चिमी घाट पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं।

प्राकृतिक सम्पत्ति—प्राकृतिक सम्पत्ति की दृष्टि से भारत की बराबरी और कोई देश नहीं कर सकता। भारत उष्ण-प्रधान देश होने से व हिमालय के समान पर्वत के रहने से यहां मौसमी हवा का खूब दौर-दौरा रहता है, व वर्षा भी पर्याप्त मात्रा में होती है। इसीलिए यह कृषि-प्रधान देश है। नाना प्रकार के अन्न, कपास आदि यहां बहुतायत से होते हैं। पंजाब, उत्तरप्रदेश आदि गेहूँ के लिए; बंगाल, मद्रास आदि चावल के लिए व गुजरात, बराड आदि कपास के लिए प्रसिद्ध हैं। गोपालनादि द्वारा यहाँ घी-दूध भी बहुतायत से होता है। दक्षिण भारत में काली मिर्च, दालचीनी, लौंग आदि गरम मसाले की सामग्री खूब होती है, जिसके व्यापार के लिए यूरोप के लोग पहले-पहल यहाँ आये थे। समस्त भारत में नाना प्रकार के फल-फूल आदि भी बहुत होते हैं। इसके अतिरिक्त लोहा, कोयला, सोना, मेंगेनीज आदि कितने ही खनिज पदार्थ भी यहाँ होते हैं। इस प्रकार भारत-भूमि हर तरह से 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' प्रमाणित होती है।

प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक दृष्टि से भारत के तीन विभाग किये जा सकते हैं, जैसे उत्तरीय मैदान, दक्षिण उच्च समभूमि व दक्षिण भारत। भारत के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए इन विभागों को समझना आवश्यक है। उत्तरीय मैदान हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य में स्थित है, व इसमें पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार व बंगाल का समावेश होता है। इस मैदान में पत्थर का नाम नहीं है व इसमें से बहुत-सी नदियां बहती हैं। परिणामतः यह बहुत उपजाऊ है। इसीलिए यहां मनुष्यों की आबादी भी बहुत घनी है। प्राचीन काल से ही यह भाग राजनीतिक परिवर्तनों का केन्द्र रहा है। आर्यों ने इसी में अपनी संस्कृति को विकसित किया, बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये, व यहीं से दक्षिण पर अधिकार जमाया था। यहीं पर मानव व ऐल-

वंशीय इक्ष्वाकु व पुरूरवस् के वंशजों ने अपने-अपने राज्य का विस्तार किया था। बार्हद्रथ, शैशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य यहीं पर बने व बिगड़े। इस प्रकार भारत के राजनीतिक इतिहास में उत्तरीय मैदान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दक्षिण की उच्चसमभूमि के दोनों सिरों पर पूर्वी व पश्चिमी घाट पहाड़ हैं व विन्ध्याचल से तुङ्गभद्रा तक इसका विस्तार है। यह भाग उत्तरीय मैदान के समान उपजाऊ नहीं है। इसके मध्य-भाग में घना जंगल है, जोकि आजकल मध्यप्रदेश के बैतूल, भंडारा, बालाघाट, मंडला आदि जिलों में स्थित है। इसे आजकल 'गोंडवाना' कहते हैं। प्राचीन काल में यह 'महाकान्तार' कहलाता था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तम्भ-लेख में किया गया है। इस भाग ने भी भारत के प्राचीन राजनीतिक इतिहास में अपना हाथ बँटाया था। यह उत्तरीय मैदान की बराबरी नहीं कर सका। चन्द्रवंशी ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु ने यहीं पर राज्य स्थापित करके अपना वंश चलाया था। राष्ट्रिक, आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने यहाँ राज्य किया व भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बँटाया।

दक्षिण भारत में प्राचीन काल से ही पाण्ड्य, चोल, केरल आदि राज्य स्थापित हुए थे। पुराण तो उन्हें भी उत्तर भारतीयों से ही सम्बन्धित करते हैं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथन कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है। सिंहल द्वीप से इस भाग का राजनीतिक सम्बन्ध विशेष रूप से रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो यह भाग भी अत्यन्त ही प्राचीन काल से भारत का एक अविकल अंग बन गया था। इस भाग का वैदेशिक व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

भौगोलिक परिस्थिति व सांस्कृतिक विकास—सांस्कृतिक दृष्टि से यदि भारत की भौगोलिक अवस्था पर विचार किया जाय, तो कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होंगी। नदियों को पवित्र माना जाकर पूजा जाना स्पष्टतया बताता है कि सांस्कृतिक जीवन में नदियों का

कितना महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के बारे में तो यह बात बिलकुल ही ठीक सिद्ध होती है। आज भी भारत में नदियाँ देवियों के समान पवित्र मानी जाकर पूजी जाती हैं। इन सबमें गंगा तो साक्षात् माता ही समझी जाती है। इसी नदी के किनारे प्राचीन आर्यों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया था। चीन, बाबुल, मिस्र आदि देशों की प्राचीन संस्कृतियाँ भी नदियों के किनारे ही विकसित हुई थीं। निसर्ग ने भारत पर जितनी कृपा की है, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य देश पर की हो। अच्छे-से-अच्छा जलवायु, सुन्दर नदियाँ व झरने, मलयाचल की शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु आदि इसे प्राप्त हैं। अन्न, वस्त्र, फल, फूल आदि यहाँ बहुत ही सरलता से प्राप्य हैं। प्रकृति देवी ने अपने सौन्दर्य को यहीं के जंगलों, नदियों, पर्वतों आदि में बिखेर दिया है जिससे कितने ही कवि-हृदयों ने प्रेरणा प्राप्त की है। इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि कालिदास, भवभूति, बाण आदि श्रेष्ठ कवियों ने प्रकृति देवी के ही सौन्दर्य को अपनी रचनाओं में भर दिया है? यदि भारत में घने जंगल, नदी, पर्वत आदि न होते तो यहाँ ऐसा काव्य विकसित हो न हो पाता।

भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही भारत-भूमि शस्यश्यामला रहती है। यहाँ रोटी का सवाल बिलकुल जटिल नहीं हो सकता, यदि कोई बाह्य शक्ति या बाह्य जीवन-क्रम यहाँ न रहे। प्राचीन काल में यही हाल था। अन्न, वस्त्र आदि बहुत ही सरलता से प्राप्त होते थे, इसीलिए यहाँ के निवासी जीवन के अन्य पहलुओं पर भी अच्छी तरह से विचार कर सके। पेट खाली रहने पर ईश-भजन भी नहीं सूझता। भरपेट खाने के पश्चात् यहाँ के निवासी जीवन की पहेलियों को सुलझाने लगे; जीवन-मरण, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि सम्बन्धी प्रश्न उन्हें क्षुब्ध करने लगे। परिणामतः इस दिशा में अथक प्रयत्न किये गए, जिनको हम उपनिषदादि दार्शनिक ग्रन्थों के रूप में देख सकते हैं। इन्हीं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म, ब्रह्म, जीव, योग आदि

पारलौकिक तत्त्वों व सिद्धान्तों को समझा गया। भारतीय संस्कृति में जो पारलौकिक जीवन को महत्त्व दिया गया है, उसका यही कारण है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति दार्शनिक भूमि पर स्थित है। भारत के निवासियों ने जीवन के हर एक अंग को विकसित किया। अन्न-वस्त्रादि के सरलता से मिलने पर वे आलसी व निकम्मे नहीं बने, किन्तु उन्होंने अपने आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन को अधिक सुन्दर, व्यवस्थित सुसंगठित बनाया। इस प्रकार मानव-हित को सामने रखकर एक सुन्दर सर्वाङ्गीण संस्कृति का विकास किया गया जिसका प्रचार विदेशों में भी हुआ था।

भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने उसके सांस्कृतिक विकास में पूरी-पूरी सहायता दी है। यदि हिमालय, गंगा, यमुना, समुद्र-तट पर्वत आदि भारत को प्राप्त न होते तो कदाचित् भारत का वही हाल होता जो अधिकांशतः अफ्रीका का है, व भारतीय संस्कृति 'हब्शी-संस्कृति' से कुछ बढ़कर न रहती।

२

संस्कृति

संस्कृति का भावार्थ—'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है। यह अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से हुआ। किन्तु इसका भावार्थ अधिक विशद व विस्तृत है। 'संस्कृति' से मानव-समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊँचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। देश-देश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार-सम्बन्धी भावना भी भिन्न रहती है। इसलिए अलग-अलग देशों की संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। यदि इस पर अच्छी तरह विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इस भिन्नता के अन्तर्गत एकता अवश्य है। इसलिए भिन्नता केवल बाह्य है न कि आन्तरिक। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक-से रहते हैं; देश-काल के अनुसार बाह्य स्वरूप में अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

संस्कृति के उद्देश्य—निसर्ग ने मनुष्य में बीज-रूप से तीन प्रकार की शक्तियाँ भर दी हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर, मन व आत्मा से है। शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास ही संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है। जिस संस्कृति में इस विकास का जितना आधिक्य है, वह उतनी ही ऊँची मानी जायगी। इसे संस्कृति की कसौटी भी कहा जा सकता है।

निसर्ग ने प्राणी-मात्र को शरीर दिया है, जिसे चर्मचक्षुओं से देख सकते हैं, व जिसे भारत की दार्शनिक भाषा में 'स्थूल शरीर' कहते हैं। गर्भस्थिति से लेकर चितारोहण या गर्त-प्रवेश तक पाँच तत्त्व के इस पुतले का कैसा विकास होता है, यह एक पहेली है। इस विकास का व शरीर के विभिन्न अंगों का सम्यक् अध्ययन किया जाय तो रहस्य कुछ-कुछ समझ में आने लगेगा। इसी प्रकार तो 'शरीर-शास्त्र' के विभिन्न अङ्गों का विकास हुआ है। इन शास्त्रों को समझकर ऐसा जीवन-क्रम तैयार किया जाना चाहिए, जिससे शारीरिक शक्ति का विकास अच्छी तरह हो सके। किन्तु यह विकास ऐसा न हो जिससे अन्य शक्तियों के विकास में किसी प्रकार भी बाधा पहुँचे। अगर ऐसा हुआ तो संस्कृति अधूरी ही रह जायगी, जैसा कि प्राचीन स्पार्टा में हुआ था। वहाँ शारीरिक शिक्षा को ही सब-कुछ माना गया था। बालक छः महीने का हुआ कि राज-नियम के अनुसार सरकार को सौंप दिया जाता था। यदि बालक अशक्त पाया जाता तो उसे नगर के बाहर की टेकड़ी पर से नीचे फेंककर मार डाला जाता था। इस प्रकार स्पार्टा में केवल शारीरिक शक्ति के वीर ही पनप पाते थे। इसके परिणामस्वरूप संसार को 'लियोनीडास' व उसके वीर सिपाही अवश्य प्राप्त हुए जिन्होंने अपनी वीरता से 'थर्मोपली' को अमर बना दिया, किन्तु मानसिक व आत्मिक विकास की दृष्टि से उन्होंने समय पर अपनी कोई छाप न छोड़ी व मानव-विकास में अपना हाथ नहीं बँटाया। एथेन्स की संस्कृति में मानसिक विकास पर ही अधिक जोर दिया गया था। रोम, मिस्र, बाबुल आदि की प्राचीन संस्कृतियों में भी यही अधूरापन दीखता है। इसीलिए वे संस्कृतियाँ काल की कसौटी पर सच्ची न उतर सकीं, व आज केवल स्मर्तव्य शेष ही हैं। यूरोप की आधुनिक संस्कृति भी सर्वाङ्गीण नहीं है। आत्मिक शक्ति को तो उसने पहचानना भी नहीं सीखा। स्वार्थ से प्रेरित होकर वह भौतिक चकाचौंध में अन्धी हुई जाती है, व उसने आसुरी सम्पत्ति का माया-जाल चहुँओर फैला दिया है। उसे तो 'संस्कृति' शब्द से सम्बोधित

करना भी आत्मवञ्चना के समान प्रतीत होता है।

यदि भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति को इस कसौटी पर कसें तो वह बिलकुल ही ठीक उतरेगी; क्योंकि प्राचीन भारत में शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्ति के सामञ्जस्यपूर्ण विकास को मानव-जीवन का उद्देश्य माना गया था। मानव-जीवन को ऐसे ढाँचे में ढाला गया था, जिससे निसर्ग-सिद्ध शक्तियों का सानुपातिक विकास हो सके।

शक्तियों के विकास के साधन—प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिए इस प्रकार का जीवन-क्रम व ऐसे नियम बनाये गए थे, जिससे शारीरिक विकास मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग में रोड़ा न अटककर उनका सहायक ही बने। शरीर के विकास के लिए शरीर-शास्त्र को समझना आवश्यकीय माना गया था। व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पुष्ट किया जाता था। यही कारण है कि प्राचीन काल के भारतीय दीर्घजीवी होते थे। वेद में 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्' आदि द्वारा कम-से-कम सौ वर्ष तक जीवित रहने का संकल्प दरसाया गया है। आज तो भारतीयों की औसत आयु बाईस वर्ष के लगभग है व उन्हें साठ या सत्तर वर्ष की अवस्था में ही ऐहिक यात्रा समाप्त करके इस दुनिया से सिधारना पड़ता है।

व्यायाम के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास होता है जो यम, नियम आदि की सहायता से सञ्चालित किया जाता है। यह विकास मानसिक शक्ति के विकास के लिए भूमिका भी तैयार करता है। यम-नियम आदि के द्वारा इन्द्रियों पर सफल अधिकार रखना सीखा जाता है। प्राणायाम व आसन चंचल चित्तवृत्ति का निरोध करके उसे एकाग्र बनाते हैं। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है, जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिले। मस्तिष्क में शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में पहुँचने से विचार-शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार प्राचीन भारत ने शारीरिक विकास की एक

ऐसी योजना बनाई थी जिससे मानसिक व आत्मिक विकास को पूरी-पूरी सहायता मिले। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं नहीं दीखती।

सांस्कृतिक विकास में मानसिक शक्ति का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विश्व के प्राचीन व अर्वाचीन सभी देशों ने इसके महत्त्व को पहचानकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार इस दिशा में प्रयत्न किया है। प्राचीन बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम आदि में इस शक्ति के विकास का उत्तरदायित्व साधारणतया धर्माचार्यों पर ही था। यूनान, रोम आदि में शासन की ओर से भी नियन्त्रण रहता था, किन्तु मानसिक विकास सर्वाङ्गीण नहीं हो पाता था। इसका कारण यही है कि इन देशों ने निसर्ग-सिद्ध शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया था। जिन-जिन बातों की उन्हें आवश्यकता हुई उन-उनकी पूर्ति के लिए जितने मानसिक विकास की आवश्यकता थी उतना ही उन्होंने किया। अन्य संस्कृति के संसर्ग से प्राप्त नई सामग्री को भी उन्होंने स्वीकार कर लिया। प्राचीन यूनान, रोम, मध्यकालीन यूरोप आदि की संस्कृतियाँ इसी सिद्धान्त के उदाहरण हैं।

प्राचीन भारत में मनुष्य के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग को अच्छी तरह से समझा गया था। सांख्य, योग आदि दर्शनों ने इस दिशा में विशेष प्रगति की थी। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर आदि के ज्ञान द्वारा भारत में मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई गई थी, जिसे आश्रम-व्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। मानसिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है।

प्राचीन भारत के ऋषियों ने विश्व की पहेलियों को समझना ही मानसिक विकास का उद्देश्य माना। उन्होंने जीव व ब्रह्म की गुत्थियों को सुलझाकर उनमें भी एकत्व के दर्शन करने का प्रयत्न किया जैसा कि वेद, उपनिषद आदि में उल्लिखित है। उन्होंने परमात्मा को उसकी कृति

से समझने की कोशिश की, मानव-सेवा को ही परमात्म-सेवा समझा, जिस प्रकार कवि सम्राट् रवीन्द्र ने तेज धूप में खेत जोतने वाले किसानों में परमात्मा के दर्शन किए, किसी मन्दिर-मस्जिद या गिरजे में नहीं।

परमात्मा की महिमा को उसकी कृति से समझने के भाव से प्रेरित होकर प्राचीन भारत के ऋषियों ने जंगल में बसना उचित समझा, क्योंकि वहीं तो परमात्मा के रहस्यों को समझाने वाली प्रकृति देवी के साक्षात्कार हो सकते हैं; वहीं पुरुष व प्रकृति का नग्न अट्टहास देख व समझ सकते हैं। यही कारण है कि आश्रम-व्यवस्था की प्रथा के अनुसार ब्रह्मचारियों व वानप्रस्थियों को अपना जीवन जंगल में ही व्यतीत करना पड़ता था। वहाँ के शुद्ध वातावरण में गुरुकुल रहते थे, जहाँ प्राचीन भारत के ब्रह्मचारी ब्रह्म-प्राप्ति में प्रयत्नशील होते थे। वे केवल विद्या में ही रत न रहते थे। उपनिषदों के अनुसार केवल विद्या में रत रहने वाले महान् अन्धकार में रहते हैं। अन्य देश तो केवल विद्यार्थी पैदा करते थे, किन्तु भारत ब्रह्मचारियों को जन्म देता था। जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, वे समय की गति व इतिहास के पृष्ठों को भी बदल देते थे। हनुमान, भीष्म पितामह, रामदास, दयानन्द आदि ऐसे ही ब्रह्मचारी थे। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी परमात्मा की कृति का अध्ययन करके उसकी लिखी हुई पुस्तक को अच्छी तरह पढ़कर, मानसिक विकास में अग्रसर होते थे, जिससे आत्मिक विकास में पूरी-पूरी सहायता मिले। आत्मिक विकास के महत्त्व को जितना पहले व जितना अधिक प्राचीन भारत समझा था, उतना और कोई देश न समझ सका। आधुनिक यूरोप तो आत्म-चिन्तन की जरा भी परवाह नहीं करता। आत्मिक विकास के लिए प्राचीन भारत के ऋषियों ने जो साधन बनाये थे, उनमें अष्टाङ्ग-योग का स्थान बहुत ऊँचा है, पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आत्मिक विकास में सहायक बनता है।

सचमुच में जब तक आत्मा को नहीं समझा जाता, तब तक सब ज्ञान अधूरा ही रहता है। हम स्वतः यह भी नहीं जान पाते कि हम

कौन हैं, किस प्रकार इस हाड, माँस, चाम के पुतले में समा गए, व जब निकलते हैं, तब कहाँ जाते हैं। हमने उत्तर व दक्षिण ध्रुव को खोज डाला, अफ्रिका के घने जंगल मथ डाले, दुनिया-भर को ढूँढ मारा, जंगल के जानवरों व आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को समझ लिया, किन्तु हम अपने-आपको न समझ पाए। प्रचीन भारत के ऋषियों ने यही कहा कि "आत्मानं विजानीहि" (अपने-आपको पहचानो)। यूनान के दार्शनिक सुकरात ने भी कहा—"Know thyself" (अपने-आपको पहचानो), जिसके लिए उसे विष का प्याला पीना पड़ा।

आत्म-दर्शन व भारतीय संस्कृति—आत्म-दर्शन ही भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। आज भी भारत का चरवाहा गाता सुनाई देता है—"प्यारे मन की गठरी खोल, उसमें लाल भरे अनमोल।" ध्रुव, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर, तुलसी, नरसिंह मेहता, तुकाराम आदि के जीवन-चरित्र भी आत्म-जागृति की ओर ही ले जाते हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार, आत्मा को समझकर उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव-जीवन का एक-मात्र ध्येय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य को जीवित रहना चाहिए, न कि किसी देश-विशेष या राष्ट्र-विशेष की राज्य-पिपासापूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति के लिए। भारत के दर्शन, साहित्य, काव्य, कला आदि इसी वर्ग चतुष्टय की प्राप्ति के लिए विकसित हुए थे।

आत्म-विकास के मार्ग में कठिनता—आत्म-विकास का मार्ग बहुत ही कठिन माना जाता था। इस पर चलने वाले तो बिरले ही रहते थे, जो तप व परिश्रम से आत्म-सिद्धि करके जन-साधारण के हित के साधन ढूँढते थे। भले ही जन-साधारण इस मार्ग पर चल न पाते हों, किन्तु उन्हें इसका पता तो अवश्य रहता था। वे यह भी भली भाँति जानते थे कि इसी मार्ग पर चलना मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय है। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियों को सञ्चालित करते थे।

प्राचीन काल की अन्य संस्कृतियों में आत्म-तत्त्व को कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया था। इस सम्बन्ध में उनका ज्ञान अधूरा ही था अथवा वे अपनी बाल्यावस्था में ही थीं। इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि आत्म-तत्त्व के कितने ही सिद्धान्त अन्य देशों ने प्राचीन भारत से सीखे थे। इस प्रकार प्राचीन भारत की संस्कृति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसने सर्वांगीण मानव विकास को ही अपना ध्येय माना था।

प्राचीन भारत में सांस्कृतिक विकास—सांस्कृतिक विकास विभिन्न रूपों से देखा जाता है। एक सुसंस्कृत व्यक्ति संसार की पहेलियों को समझने का प्रयत्न करता है, तथा प्रकृति के भिन्न-भिन्न अंगों को जानने का इच्छुक भी रहता है। इस प्रकार विभिन्न विद्या, शास्त्र, कला आदि के विकास का प्रारम्भ होता है। संस्कृति के विकास में इन सबका अपना-अपना स्थान है। किसी भी देश की संस्कृति तब तक समझी नहीं जा सकती, जब तक कि वहाँ के भिन्न-भिन्न शास्त्र, विद्या, कला आदि भली भाँति जान न लिये जायँ। प्राचीन भारत में विभिन्न शास्त्र, विद्या, कला आदि का पर्याप्त विकास हुआ था, जिसका बीज वेदों में पाया जाता है। प्राचीन भारत के धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, विज्ञान, कला आदि पर आगे विस्तृत रूप से विचार किया जायगा, जिससे प्राचीन भारतीय संस्कृति अपने सच्चे स्वरूप में देखी जा सके।

भारतीय संस्कृति का महत्त्व—निसर्ग-सिद्ध शक्तियों के विकास की कसौटी पर चढ़ाने से प्राचीन भारतीय संस्कृति सच्ची उतरती है, इसलिए वह देश, काल आदि से बाधित नहीं हो सकती। वह सब देशों के लिए व सब समय के लिए उपयोगी हो सकती है। इसलिए इस प्राचीन संस्कृति को केवल ऐतिहासिक बताकर आजकल के लिए अनुपादेय मानना उचित नहीं है। इसने प्राचीन कालीन संस्कृतियों को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया था। प्राचीन चीन, बाबुल, मिस्र,

यूनान, रोम आदि की संस्कृतियों पर प्राचीन भारत के दर्शन, धर्म, साहित्य, भाषा, कला आदि का प्रभाव स्पष्टतया दिखा देता है। यूरोप की जिस संस्कृति ने आज विश्व को प्रभावित किया है उसकी जड़ों में भी भारतीय संस्कृति की छाप दिखाई देती है। यूरोप की वर्तमान संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त समता, स्वातन्त्र्य व भ्रातृत्व हैं, जिनको रूसो ने अपनी क्रान्तिकारी पुस्तक 'सोशल कॉण्ट्रैक्ट' में प्रतिपादित किया था। रूसो ने इस पुस्तक के लिए प्रेरणा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू से प्राप्त की थी, और अरस्तू पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव सर्वमान्य है। यूरोप की मध्यकालीन शैक्षणिक संस्थाओं पर तत्कालीन ईसाई मठों का अधिक प्रभाव था, व इन मठों पर बौद्ध मठों का असर साफ-साफ दिखाई देता है। ईसा की ११वीं तथा १२वीं शताब्दी में यूरोप ने विभिन्न शास्त्र तथा विद्याएँ स्पेन के अरब-विश्वविद्यालयों में सीखीं। अरबों ने यह सब ज्ञान भारत से ही लिया था, जैसा कि वे स्वतः स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यूरोप की वर्तमान संस्कृति की जड़ों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है।

बीसवीं शताब्दी की कृत्रिमता—इस बीसवीं शताब्दी में कृत्रिमता ने मानव-समुदाय पर पूरा अधिकार जमा लिया है; दैवी सम्पत्ति के बदले आसुरी सम्पत्ति का साम्राज्य छा गया है; स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का दौरदौरा है; प्रत्येक बात धन की तराजू पर तोली जाती है; धनवान् ही विद्वान्, कुलीन, ज्ञानवान् आदि माना जाता है; सारांश में, जिसके पास धन है वही सुसंस्कृत माना जाता है। यह बात अवश्य है कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक विकास के द्वारा प्रकृति के कुछ रहस्यों को समझ लिया गया है, किन्तु उस ज्ञान का उपयोग भी एक-दूसरे के नाश के लिए किया जा रहा है। इतना सब होते हुए भी पाश्चात्य जगत् अपने को सुसंस्कृत तथा अपनी संस्कृति को एक आदर्श संस्कृति मानने में नहीं हिचकिचाता। आजकल जो बुराइयाँ दीख रही हैं उनमें से अधिकांश का कारण १८वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति है, जिसके परिणाम-

स्वरूप मनुष्य की शक्ति का स्थान यन्त्रों की शक्ति ने लिया। यन्त्र युग के प्रादुर्भाव ने समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को बदल दिया। इससे समाज में ऐसी विषमता उत्पन्न हो गई है कि उसे दूर करना बहुत ही मुश्किल हो गया है। इन यन्त्रों ने गरीबों के सूखे टुकड़े छीनकर धनवानों को हलुआ-पूड़ी खिलाया है। परिणामतः एक ओर तो निर्धनता अपना नग्न अट्टहास करने लगी व दूसरी ओर धन-बाहुल्य से स्वार्थपूर्ण विलासिता अपना साम्राज्य स्थापित करने लगी; पूँजीपति व मज़दूरों के झगड़े खड़े हुए; शक्तिशाली राष्ट्र अशक्त व असभ्य देशों को व्यापार, वाणिज्य, सत्ता आदि के क्षेत्र बनाने लगे। यूरोप के राष्ट्रों में यह अहमहमिका इतनी बढी कि वे स्वार्थान्ध होकर एक-दूसरे का गला घोंटने लगे। ऐसी परिस्थिति में विश्व को कहीं शान्ति मिल सकती है तो भारत की प्राचीन संस्कृति से ही मिल सकती है।

बीसवीं शताब्दी व भारतीय संस्कृति—इस कृत्रिमतापूर्ण बीसवीं शताब्दी में तो भारतीय संस्कृति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जबकि संसार का एक व्यक्ति दूसरे का गला घोंटता हो, एक समाज दूसरे समाज का खून चूसने को तैयार हो, जबकि चहुँ ओर स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य के वातावरण में हिंसा का साम्राज्य छाया हो, ऐसे समय में मानव-जाति की रक्षा सनातन सिद्धान्तों पर स्थित भारतीय संस्कृति ही कर सकती है, वह संस्कृति जिसमे अहिंसा सत्य व तप की त्रिवेणी आदि काल से बहती हो। इन्हीं सिद्धान्तों की भूमिका पर राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र का निर्माण किया है। हिंसा से परितप्त विश्व भी यदि शाश्वत शान्ति का अनुभव करना चाहता है तो उसे भी भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा, सत्य व तप को अपनाना होगा।

३

हमारा नाम

आर्य-हिन्दू विवाद—आज हमारा देश 'हिन्दुस्तान' नाम से जाना जाता है, तथा हम लोग 'हिन्दू' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। साथ ही एक पक्ष इस बात का भी समर्थन करता है कि यह नाम हमारे लिए सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हमारा प्राचीन नाम 'आर्य' है व हमारा देश 'आर्यावर्त' व 'भारतवर्ष' कहलाता था। अतएव इस पक्ष के अनुसार हम 'हिन्दू' व 'हिन्दुस्तान' के स्थान में 'आर्य' व 'आर्यावर्त' या 'भारतवर्ष' स्वीकार लें। वास्तविक रूप में, हमारे समाज में 'आर्य' शब्द से किसी को घृणा नहीं थी। आर्यसमाज के प्रादुर्भाव के पश्चात् उसके विरोधियों ने 'आर्य' शब्द का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप, आर्य-हिन्दू विवाद का जन्म हुआ। निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होगा कि मुस्लिम आक्रमणों के पूर्व हमारे पूर्वज अपने को आर्य ही कहते थे, तथा इस देश को आर्यावर्त या भारतवर्ष कहते थे।

संस्कृत साहित्य में 'हिन्दू' शब्द अप्राप्य—संस्कृत साहित्य में हिन्दू नाम का उल्लेख नहीं आता। कुछ लोग 'हिन्दू' शब्द को ऋग्वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनके मतानुसार वेदकालीन आर्य जिस देश में रहते थे, उसका नाम 'सप्तसिन्धु' था। उसी सप्तसिन्धु से 'हप्तहिन्दु' हुआ व बाद में 'हिन्दुस्थान' 'हिन्दू' आदि शब्द बन गए। किन्तु इस मन्तव्य के लिए ऐतिहासिक, साहित्यिक आदि कोई भी

प्रमाण नहीं हैं ; भाषा-शास्त्र के नियमों से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में किसी देश-विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु नदी तथा पर्वतों के नाम निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार भरत, द्रुह्यु, अणु आदि राजाओं के नामों का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धु' शब्द का उल्लेख कुछ स्थलों पर आता है। सायण आदि ने उसका अर्थ 'सात नदियाँ' किया है। वे नदियाँ इस प्रकार हैं—सिन्धु, वितस्ता, शुतुद्री, असिक्नी, परुष्णी, सरस्वती, कुम्भा (अथवा गंगा व यमुना)। कदाचित् यह शब्द सात नदियों से घिरे हुए देश-विशेष का भी द्योतक हो, किन्तु इससे यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता कि वैदिक काल में समस्त देश 'सप्तसिन्धु' कहलाता था।

प्राचीन साहित्य में उल्लिखित नाम—मनुस्मृति (ई० पू० २०० वर्ष के लगभग) के दूसरे अध्याय (श्लोक १७-२२) में भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का वर्णन आता है, जोकि इस प्रकार है :

"सरस्वती व दृषद्वती नदियों के मध्य जो है, वह देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहाता है। उस देश में परम्परागत जो आचार है वही भिन्न-भिन्न शाखाओं सहित वर्णों के लिए सदाचार है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेनक आदि सब मिलकर ही ब्रह्मर्षि देश बनता है, जो ब्रह्मावर्त के पश्चात् है। इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से भूमण्डल के सब लोगों को अपना-अपना चरित्र सीखना चाहिए। हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य, विनशन के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम में जो देश है वह मध्य देश कहा जाता है। पूर्वीय समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक तथा हिम-विन्ध्य पर्वतों के मध्य में जो देश है वह विद्वानों द्वारा 'आर्यावर्त' नाम से जाना जाता है।"

गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त (ई० स० ३३०—३७५ वर्ष) के प्रयाग-स्थित स्तम्भ-लेख में, उसकी दिग्विजय का वर्णन है, जिसमें इस देश के विभिन्न भागों के नामों का उल्लेख है, यथा (१) दक्षिणापथ—कोसल, महाकान्तार, केरल, पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि, कौट्टूर, एरण्डपल्ल,

कांची, अवमुक्तक व वेङ्गी, (२) आर्यावर्त, (३) प्रत्यन्त—समतट, डवाक कामरूप नेपाल व कर्तृपुर।

पौराणिक साहित्य में भी विभिन्न स्थलों पर 'आर्य',' आर्यावर्त,' 'भारतवर्ष' आदि नामों का उल्लेख आता है, 'हिन्दू' शब्द कहीं भी उल्लिखित नहीं है। विष्णु पुराण (२।३।१) में कहा है कि समुद्र के उत्तर में व हिमालय के दक्षिण में जो 'वर्ष' है, उसका नाम भारत है, जहाँ 'भारती' सन्तति है। वायु पुराण (४५।६९) में कहा है कि यह वही भारतवर्ष है जिसमें स्वायम्भुव आदि ने जन्म लिया है। विष्णु पुराण (२।१।१८–२३) में जम्बूद्वीप के विभागों का वर्णन आता है, जहाँ हेमकूट, नैषध, इलावृत, गन्धमादन आदि वर्षों का उल्लेख है। उसी पुराण (२।१।४१) में आगे चलकर कहा गया है कि भारतवर्ष नौ भेदों से अलंकृत है। वायु पुराण (४५।७५, ७६) में एक स्थल पर आया है कि समुद्र के उत्तर व हिमालय के दक्षिण मे जो वर्ष है वह 'भारत' है, जहाँ भारती प्रजा रहती है। प्रजा के भरण-पोषण के कारण मनु ही भरत कहलाता है। इसीलिए यह वर्ष निरुक्त-वचन के अनुसार 'भारत' कहाता है। 'काव्य मीमांसा' (ईसा की १०वीं शताब्दी) में भौगोलिक दृष्टि से भारत के विभिन्न भागो का वर्णन किया है, जोकि इस प्रकार है :

"वह भगवान् मेरु प्रथम वर्ष-पर्वत है। उसके चारों ओर 'इलावृत्तवर्ष' है। उसके उत्तर में श्वेत, नील, शृङ्गवान् नामी तीन वर्ष हैं। रम्यक, हिरण्यमय, उत्तर कुरु आदि उनके देश हैं। दक्षिण में भी निषध, हेमकूट, हिमवान् तीन (वर्ष) पर्वत हैं। हरिवर्ष, किम्पुरुष, भारत आदि (उनके) तीन देश हैं। उनमें यह 'भारतवर्ष' है। और इसके नौ भेद हैं, यथा इन्द्र द्वीप; कसेरुमान् , ताम्रपर्ण गभस्तिमान् , नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण व कुमारी। पूर्वीय व पश्चिमीय समुंद्र तथा हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य में आर्यावर्त है। यहीं पर चार वर्ण व चार आश्रम पाये जाते हैं। सदाचार की जड़ भी वहीं पर है।"

इन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कितने ही साहित्यिक तथा ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्टतया यह प्रमाणित होता है कि हमारा देश 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नामों से ही सम्बोधित किया जाता था, तथा हमारे पूर्वज अपने को 'आर्य' ही कहा करते थे, न कि 'हिन्दू'। 'नाट्य-शास्त्र' (ईसा की दूसरी शताब्दी) के नियम के अनुसार संस्कृत नाटक में नायिका अपने नायक को 'आर्य पुत्र' नाम से सम्बोधित करती है। किसी भी धार्मिक कृत्य का संकल्प लेते समय आज भी "जम्बू द्वीपे भरत खण्डे..." आदि शब्दों को उच्चारित किया जाता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि मुस्लिम आक्रमण के पूर्व हमारे पूर्वज अपने को 'आर्य' तथा अपने देश को 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि कहते थे। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'हिन्दू' शब्दप्राचीन व हमारा नहीं है तो आज हम सब अपने को एक स्वर से 'हिन्दू' क्यों कहते हैं? इतिहास की सहायता से यह बात भी समझ में आ जाती है।

'हिन्दू' शब्द का ऐतिहासिक विवेचन—'हिन्दू' शब्द का जन्म सिन्धु शब्द से होता है। आधुनिक पारसियों के पूर्वज, जो कि ईरान देश में बसे थे, भारतीय आर्यों को 'हिन्दू' नाम से ही जानते थे। वे स्वतः भी आर्य थे तथा भारतीय भी आर्य थे। ऐसी अवस्था में भारतीयों को विशिष्ट रूप से सम्बोधित करना स्वाभाविक ही था। इसलिए कदाचित् उन्होंने भारतीयों को 'हिन्दु' नदी के पारवर्ती आर्य या 'हिन्दु-आर्य' कहकर हिन्दू नाम को उपयुक्त किया होगा। यहाँ यह जानना आवश्यकीय है कि प्राचीन ईरान-निवासी संस्कृत 'स' के स्थान में 'ह' का उच्चारण करते थे। संस्कृत भाषा का 'स' जेन्द भाषा में 'ह' हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन ईरानियों ने सर्वप्रथम हमारे लिए 'हिन्दु' शब्द प्रयुक्त किया। उनके धर्मग्रन्थ अवेस्ता (वेनिदाद १।१८) में इन सब बातों का स्पष्ट उल्लेख है। यह ग्रन्थ ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के लगभग का है।

प्राचीन अरब के निवासी भी हमें 'हिन्दू' व हमारे देश को 'हिन्द' कहते थे। अङ्क-गणना का नाम उन्होंने 'हिंसा' रखा था, जो 'हिन्द-सा' से बना है, जिसका मतलब होता है हिन्द अथवा भारतवर्ष के समान। कुछ विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि प्राचीन अरबी साहित्य में 'हिन्द' 'हिन्दू' आदि नामों का उल्लेख आता है। अरब के निवासी भी ईरानियों के समान 'हिन्दू' नामों का प्रयोग करने लगे। प्राचीन यूनानियों का भारतीयों से प्रत्यक्ष सम्पर्क सर्वप्रथम ईरान में हुआ था। इसलिए उन्होंने भी ईरानियों के समान भारतीयों के लिए 'हिन्दू' शब्द प्रयुक्त किया। किन्तु यह 'हिन्दू' शब्द यूनानी भाषा में 'इण्डु' अथवा 'इण्डो' हो गया, और भारतवर्ष 'इण्डिका' कहलाने लगा जिस पर से 'इण्डिया' व 'इण्डियन' नाम पड़े। जिन-जिन विदेशियों के सम्पर्क में भारतीय आये, उन्होंने 'हिन्दू' शब्द के किसी विकृत रूप का प्रयोग किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री य्वेनच्वेङ् (ईसा की ७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) भी अपने ग्रन्थ में भारत के लिए 'यिन्टु' नाम प्रयुक्त करता है और यह शब्द 'हिन्दू' से बना है। इसी प्रकार मुसलमानों ने भी भारतीयों को 'हिन्दू' तथा भारतवर्ष 'हिन्द' अथवा हिन्दोस्तां नाम से सम्बोधित किया। कतिपय सज्जनों का मत है कि 'हिन्दू' शब्द' फारसी भाषा का है, तथा इसका अर्थ काला, बदमाश, गुलाम आदि होता है, व मुसलमानों द्वारा ही यह नाम सर्वप्रथम हमको दिया गया। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण तो यह सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों के जन्म के पूर्व भी 'हिन्दू' शब्द का अस्तित्व था। यदि किसी शब्द का अर्थ अन्य भाषा में बदल जाय तो उससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

'हिन्दू' शब्द का अपनाया जाना—मुसलमानों के आगमन-काल में हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं ने अपना आधुनिक रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। इस विकास पर मुस्लिम शासकों का भी प्रभाव पड़ा। अरबी, फारसी आदि भाषाओं के कितने ही शब्द हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में पाये जाते हैं। उर्दू भाषा का प्रादुर्भाव

भी इस प्रभाव का एक उदाहरण कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन भाषाओं में 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि शब्द भी अपना लिये। इसी समय भारत का सामाजिक संगठन ढीला-सा पड़ गया था। शक, हूण आदि के समान मुस्लिमों को पचा लेने के बदले भारतीय समाज अपनापन खोकर उनसे प्रभावित हुआ व उसने 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि नाम अपना लिये। हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य में भी 'आर्य' आदि के बदले 'हिन्दू' शब्द ही प्रयुक्त किया जाने लगा। हिन्दी साहित्य मे तो प्रारम्भिक काल से ही इन शब्दों को अपना लिया गया था जैसा कि चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' मे स्पष्ट होता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'हिन्दू' तथा 'हिन्दुस्तान' नाम मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् भारतीय साहित्य तथा बोलचाल में प्रचलित हुए। किन्तु संस्कृत साहित्य में तो 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम ही प्रयुक्त होते रहे।

भारत के विभिन्न नामों का ऐतिहासिक विवेचन—भारतवर्ष के विभिन्न नामों पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता लगेगा कि वे नाम किस प्रकार भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युगों के सूचक हैं। 'आर्यावर्त' उस अत्यन्त ही प्राचीन काल की स्मृति दिलाता है, जबकि आर्य-संस्कृति का सूर्य निकल रहा था, आर्य-ऋषि अपने आत्मिक विकास के द्वारा वैदिक ऋचाओं के दर्शन कर रहे थे और इस प्रकार आश्चर्यजनक वैदिक वाङ्मय का निर्माण किया जा रहा था। 'आर्यावर्त' नाम सुन-कर ही हमारे मानस-चक्षुओं के सामने वेदकालीन आर्यों का चित्र खिंच जाता है, जिन्होंने प्राचीन काल में अपनी विजय-पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहराई थी। 'भारतवर्ष' नाम सुविख्यात भरत-वंश से सम्बन्धित है। यह नाम एक ऐसे युग का द्योतक है, जबकि आर्य-संस्कृति का सूर्य ऊँचा उठ चुका था व उसकी तीव्र किरणें चहुँ ओर फैल रही थीं। प्राचीन साहित्य का विद्यार्थी भरत-वंश के ऐति-हासिक महत्त्व को भली भाँति समझ सकता है। यह नाम आर्यों के

राजनीतिक विकास का भी द्योतक है। इसको सुनते ही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का साक्षात्कार हो सकता है। 'हिन्दुस्थान' व 'इण्डिया' नाम एक ऐसे युग के सूचक हैं, जब इस देश के निवासी अपने सच्चे अस्तित्व को भूल चुके थे और आर्य-संकृति का सूर्य अस्ता-चल के निकट पहुँच रहा था। ये नाम भारतीयों की मानसिक दासता के सूचक हैं और यह दासता राजनीतिक दासता से ही उत्पन्न होती है। विदेशी नाम व रीति-रिवाजों को अपनाना यह स्पष्टतया बताता है कि सांस्कृतिक श्रेष्ठता भुला दी गई है। विजेताओं के द्वारा पद-दलित किये जाने पर यह मान लिया जाता है कि विजेताओं का सांस्कृ-तिक प्रभुत्व भी स्थापित हो गया है।

उपसंहार—सारांश में यह कहना चाहिए कि वैदिक काल से 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम प्रचलित थे। 'हिन्दू' नाम का सर्वप्रथम प्रयोग ईरानियों ने किया। अरब, यूनान, चीन आदि देशों के प्राचीन निवासियों ने भी इसी शब्द के विभिन्न अपभ्रंशों का प्रयोग किया। मुस्लिमों ने भी इसी नाम को अपनाया। मुस्लिम-शासन में भारतीय अपनी संस्कृति से बिछुड़ने लगे व विदेशियों से प्रभावित होकर 'हिन्दू', 'हिन्दुस्तान' आदि नामों का प्रयोग करने लगे। किन्तु भारतीयों को चाहिए कि वे अपने प्राचीन नामों को ही अपनाएँ, क्योंकि 'आर्य', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' आदि नाम हृदय में प्राचीन गौरव की दिव्य छटा का आभास करा सकते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति इन्हीं प्राचीन नामों से हो सकती है न कि विदेशियों द्वारा दिये गए 'हिन्दू' आदि नामों से। प्रत्येक भारतीय को अपने गौरवान्वित प्राचीन नामों को अपनाना चाहिए।

४

ऐतिहासिक दृष्टि

(१)

ऐतिहासिक समस्या

(क) आर्य लोग

आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व—भारत की संस्कृति व उसके इतिहास का सूत्रपात आर्यों से ही होता है। आर्य लोग कौन थे व उनका आदिम निवास-स्थान कहाँ था, आदि प्रश्न इतिहासकारों के लिए बड़े जटिल बन गए हैं। किन्तु ऐतिहासिक खोज के परिणामस्वरूप आर्यों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। प्राचीन कालीन विभिन्न भाषाओं व संस्कृतियों के आश्चर्यजनक साम्य और उन पर आर्यत्व की छाप के स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने के कारण यह मन्तव्य उपस्थित किया जाता है कि प्राचीन काल में आर्यों का विस्तार व प्रभाव समस्त यूरोप व अधिकांश एशिया में था, और कदाचित् अन्य भूभाग पर भी हो। इस मन्तव्य की मुख्य आधारशिला भाषा-साम्य व सांस्कृतिक साम्य है।

भाषा-साम्य व तुलनात्मक भाषा-शास्त्र—यूरोप व एशिया में बोली जाने वाली कितनी ही भाषाओं के रूप व उच्चारण का शास्त्रीय परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ है कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं व उनका आदिमूल एक ही है। इस प्रकार उन भाषाओं का एक परिवार बनाया गया जिसमें हेलेनिक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक, स्लेव्हो-

निक, लिथ्यूनिक या लेटिक अल्बेनियन आदि यूरोप की भाषाएं, संस्कृत से बनीं चौदह भारतीय भाषाओं का समुदाय, इण्डिक; जेन्द, फारसी, पुश्तु या अफगान, बलूची, कुर्दिश व ओसेटिक भाषाओं का समुदाय इरानिक; आर्मेनियन आदि एशिया की भाषाएँ समाविष्ट की जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन भाषाओं को 'इण्डो जर्मनिक' या 'इण्डो आर्यन' नाम दिया है। इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात ई० स० १७८६ में बंगाल के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने किया। 'एशियाटिक सोसाइटी' के सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि भारत की पवित्र भाषा संस्कृत, ईरान की भाषा, यूनान व रोम की भाषाएँ, केल्ट, जर्मन व स्लेव्ह लोगों की भाषाएँ परस्पर निकटतम सम्बन्ध रखने वाली हैं। उनके इस युग-प्रवर्तक भाषण ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र को जन्म दिया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों विद्वानों ने इस दिशा में अधिक परिश्रम किया, जिसके परिणामस्वरूप वे इस निर्णय पर पहुँचे कि यूरोप, अमरीका, भारत आदि की भाषाएँ एक ही परिवार की हैं व ईसा के बहुत पहले ही से इनकी जन्मदातृ भाषाएँ अटलांटिक महासागर से लेकर गंगा व टेरिम नदी तक के प्रदेश में फैली हुई थीं। उन विद्वानों ने यह भी निश्चय किया कि वे सब प्राचीन भाषाएँ किसी एक भाषा से बनी हैं। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की सहायता से इस मूल भाषा को जानने का प्रयत्न किया गया। उन सब प्राचीन भाषाओं के कुछ शब्दों के प्राचीनतम रूप व सर्वसाधारण धातुओं को लेकर एक मौलिक भाषा बना दी गई। साथ ही यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि उस मौलिक भाषा को बोलने वाली विशिष्ट संस्कृतियुक्त कोई जाति-विशेष रही होगी। उसी जाति को 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया गया। साथ ही, यह मत भी स्थिर किया गया कि ये ही आर्य यूरोप, सीरिया, ईरान, भारत आदि में फैल गए थे।

इस भाषा-साम्य के सहारे इतना तो निश्चित रूप से कहा जा

सकता है कि प्राचीन आर्य-भाषा ने एशिया व यूरोप की भाषाओं पर जबरदस्त प्रभाव डाला था। भाषा का प्रभाव व उसका प्रभुत्व सांस्कृतिक प्रभुत्व के (कदाचित् राजनीतिक प्रभुत्व के भी) अस्तित्व को सिद्ध करता है। ऐतिहासिक खोज ने इन देशों पर आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव पर भी अच्छा प्रकाश डाला है।

सांस्कृतिक साम्य—विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से उन पर आर्य-संस्कृति के प्रभाव का अस्तित्व स्पष्ट होता है। ऋग्वेद व अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्त तथा भारत व ईरान के सामाजिक संगठन की समानता से प्रमाणित होता है कि प्राचीन ईरान के निवासी आर्य थे। इसी प्रकार ईरानियों के ज़रतुस्त्र-धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों पर स्पष्टतया दिखाई देता है। प्राचीन बाबुल व मिस्र के लेखों में आर्य देवताओं तथा आर्य राजाओं के नामों का उल्लेख स्पष्टतया सिद्ध करता है कि ईसा के लगभग १६०० व १७०० वर्ष पूर्व आर्य लोग बाबुल आदि देशों में बस गए थे, जहाँ उनके देवता पूजे जाते थे व उनके राजा राज्य करते थे। प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों के आर्य होने के सम्बन्ध में किसी भी इतिहासकार को लेश मात्र भी शंका नहीं है। उनके देवता धार्मिक सिद्धान्त, सामाजिक संगठन, यज्ञ, श्राद्ध, मृतक-दाह आदि रीति-रिवाज इस मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक साम्य से भी आर्यों के विस्तार व प्रभाव का पता चलता है।

आर्यों का आदिम निवास-स्थान—इस प्रकार भाषा-साम्य व सांस्कृतिक साम्य के द्वारा आर्यों के बृहत् विस्तार को समझकर उनके आदिम निवास-स्थान को ढूँढ़ने का भी प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की। परिणामतः आर्यों के आदिम निवास-स्थान के बारे में कितने ही सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। इन सिद्धान्तों को दो विभागों में बाँटा जा सकता है, जैसे (१) एशिया के किसी भाग

में आर्यों का आदिम निवास-स्थान, (२) यूरोप के किसी भाग में मध्य-एशिया, कॉकेशस-प्रदेश, हिमालय-पारवर्ती प्रदेश, भारत, उत्तर ध्रुव-प्रदेश आदि एशिया के प्रदेशों को तथा आॅस्ट्रिया-हंगरी, उत्तर यूरोप, जर्मनी, पोलेण्ड व यूक्रेन का प्रदेश, रूसी-स्टीपीज़ का प्रदेश, इटली की पो नदी का कछार आदि यूरोप के प्रदेशों को आर्यों के आदिम निवास-स्थान से सम्बन्धित किया जाता है।

आर्यों के आदिम निवास-स्थान के सम्बन्ध में इतना मतभेद रहना ही यह सिद्ध करता है कि ये इतिहासकार अभी सत्य से कोसों दूर हैं। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र इस प्रश्न को कभी भी हल नहीं कर सकता। प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं के कुछ सर्वसाधारण शब्दों को एकत्रित करके उनकी सहायता से उन भाषाओं की जननी किसी प्राचीन मूल भाषा का स्वरूप निश्चित करना निरा काल्पनिक ही होगा एवं सत्य से कोसों दूर रहेगा। भाषा-साम्य की सहायता से मूल भाषा व उसको बोलने वाली किसी जाति की कल्पना तथा उसके सांस्कृतिक जीवन का चित्र खींचना हास्यास्पद ही होगा। भाषा की समानता का जाति की तथा संस्कृति की समानता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह सकता।

भारत आर्यों का आदिम निवास-स्थान क्यों नहीं? यह समझना सचमुच में कठिन है कि भारतवर्ष को ही आर्यों का आदिम निवास-स्थान क्यों नहीं माना जाता? भारत के आदिम निवास-स्थान न होने के सम्बन्ध में जो दलीलें दी जाती हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। भाषा-साम्य की सहायता से जिन-जिन पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का आर्यों के आदिम निवास-स्थान में पाया जाना आवश्यकीय समझा गया है, उनमें से लगभग सब भारत में पाये जाते हैं। बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, हरिण आदि भारत के लिए नये नहीं हैं। भूर्ज वृक्ष भी हिमालय-प्रदेश में पाया जाता है। भारत तो ऐसी पुण्यभूमि है कि यहाँ पर हर प्रकार का जलवायु, हर प्रकार के वृक्ष, फल, पुष्प, पशु, पक्षी आदि पाये जाते हैं। यूरोप में आर्यों का आदिम निवास-स्थान सिद्ध

करते समय अक्सर यह दलील भी दी जाती है कि वहाँ खेती करने व घोड़े आदि के चरने के लिए अच्छी भूमि है। किन्तु भारत में भी ये सब बातें पाई जाती हैं।

भारत के आदिम निवास-स्थान होने के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यह है कि दुनिया को 'आर्य' नाम 'आर्य' जाति व 'आर्य' संस्कृति का सर्वप्रथम ज्ञान भारत से ही हुआ है, न कि और किसी देश से। भारत की ही प्राचीन भाषा के अध्ययन ने उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोलीं और उन्हें पाश्चात्य भाषा व संस्कृति पर आर्यत्व की छाप का भास कराया। उन विद्वानों ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र को जन्म दिया। भारत के ऋग्वेद को पढ़कर ही पाश्चात्य विद्वान् आर्यों के स्वरूप व संस्कृति को समझ पाए। बाबुल तथा मिस्र आदि के प्राचीन लेखों में पाये गए इन्द्र, वरुण, अग्नि, नासत्य आदि देवताओं व अर्ततम, दुसरन्त, सुवरदन्त आदि राजाओं के आर्यत्व को भी विद्वानों ने भारत की सहायता से ही समझा व पहचाना। प्राचीन काल में यदि किसी देश ने अपने को 'आर्यों का निवास-स्थान' कहा हो तो वह भी भारत का 'आर्यावर्त' ही है, जिसका उल्लेख पुराणों और मन्वादि स्मृतियों में आता है। ईरान के अतिरिक्त, यूरोप में या और कहीं ऐसा कोई देश नहीं है, जिसका नाम आर्यों से सम्बन्धित हो। सारांश में, यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐतिहासिक जगत् आज जो-कुछ भी आर्यों के सम्बन्ध में जानता है वह सब प्राचीन भारतीय साहित्य के ही कारण है। प्राचीनतम काल से आज तक 'आर्य', 'आर्यत्व', 'आर्य-संस्कृति' आदि को जिस प्रकार निसर्ग की लाड़िली भारत-भूमि ने अपनाया है, वैसा किसी अन्य देश ने नहीं अपनाया।

इतिहासकारों ने आर्यों को समझने में सबसे बड़ी गलती यह की है कि उन्होंने 'आर्य' शब्द जातिवाचक ही मान लिया। किन्तु उन विद्वानों ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि 'आर्य' शब्द कभी भी जातिवाचक नहीं रहा, वह तो पूर्णतया सांस्कृतिक अर्थ वाला है, जैसा

कि "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" (ऋ० ६.६३.५), "आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि" (ऋ० १०.६५.११) आदि ऋग्वेद के वचनों से स्पष्ट हो जाता है। 'आर्य' शब्द के सांस्कृतिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह तो कहा जा सकता है कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। ऋग्वेद व संस्कृत भाषा की सहायता से जिन सुसभ्य व सुसंस्कृत आर्य लोगों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, वे तो भारत के ही थे, कहीं बाहर से नहीं आये। उनके प्राचीन साहित्य में उनके बाहर से आने का किञ्चिन्मात्र भी उल्लेख नहीं है, और न कोई ऐसी ऐतिहासिक खोज ही की गई है जो इस सम्बन्ध में प्रमाणभूत हो सके। इस प्रकार कम-से-कम इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिन आर्यों को व जिनकी संस्कृति के महत्त्व को आज दुनिया मान रही है और जिस संस्कृति ने प्राचीन संस्कृतियों को प्रभावित किया था, वे आर्य और वह आर्य-संस्कृति भारतवर्ष ही में पैदा हुए, फले-फूले, तथा यहीं से अन्य देशों में उन्होंने अपना सांस्कृतिक सौरभ फैलाया। यदि कोई बाहर से आये हों तो इन सभ्य आर्यों के असभ्य पूर्वज कहीं से आये होंगे, किन्तु उस समय वे आर्य न कहलाते होंगे। अतएव यह कथन उचित ही होगा कि सभ्य व सुसंस्कृत आर्यों को भारत ने ही जन्म दिया है।

(ख) सिन्धु-संस्कृति

कुछ वर्षों पूर्व भारतीय 'पुरातत्त्व विभाग' की ओर से सिन्धु नदी के कछार में जब खुदाई शुरू हुई तो पंजाब में मांटगुमरी जिले के हड़प्पा और सिन्ध में लरकाना जिले के मोहन्जोदड़ो नामक स्थान पर एक प्राचीन शहर के खण्डहर निकले और बहुत-सी पुरानी चीजें निकलीं, जिनके सहारे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आज से लगभग पाँच-साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व उन स्थानों पर एक बड़ा शहर था, जिसके मकान पकाई हुई बड़ी-बड़ी ईंटों के बने थे, सड़कें बहुत ही अच्छे ढंग पर बनाई गई थीं, और जहाँ कुएँ व स्नानागार भी थे। प्रत्येक घर में नालियों

की व्यवस्था थी जोकि घर के बाहर गलियों व सड़कों तक बनी हुई थीं, शहर के बाहर नहीं ले जाई गई थीं। वहाँ बहुत बड़े-बड़े मकान थे तथा सर्वसाधारण के नहाने के लिए बड़े-बड़े स्नानागार थे।

इस शहर के निवासियों के रहन-सहन के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ मालूम होता है। वे लोग गेहूँ, बाजरा बोते थे, भेड़, सूअर आदि मवेशी पालते थे तथा भोजन के लिए मुर्गी आदि भी रखते थे। वे सिन्धु नदी की मछलियों को भी भोजन के काम में लाते थे। भैंस, ऊँट, हाथी एवं कई प्रकार के मृगों के मृत शरीर इस स्थान से प्राप्त हुए हैं। व्याघ्र, घोड़ा व बन्दर तत्कालीन मुद्राओं पर खुदे हुए हैं। कुत्ते तथा घोड़े के अस्तित्व के भी कुछ चिह्न मिले हैं। सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, नाना प्रकार के रत्न, हाथी-दाँत आदि का पता भी उन लोगों को था। भाला, फरसा, कटार, धनुष आदि का भी ज्ञान उन्हें था। यहाँ बच्चों के मिट्टी के खिलौने भी पाये गए हैं।

इन स्थानों में बहुत सी मुद्राएँ भी पाई गई हैं जिन पर चित्र-लिपि में कुछ लिखा हुआ है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इन मुद्राओं की लिपि सुमेर की प्राचीन लिपि से मिलती है। बहुत से मिट्टी के बरतन आदि पर भी कुछ-कुछ लेख मिलते हैं। इन लेखों को अभी तक कोई पढ नहीं सका है।

इन लोगों के धर्म के बारे में भी बहुत-कुछ मालूम होता है। उस समय मूर्ति-पूजा का प्राबल्य था, क्योंकि बहुत सी मूर्तियाँ भी मिली हैं। पृथ्वी की मूर्तियाँ बहुतायत से पाई जाती हैं। इससे मालूम होता है कि पृथ्वी ही मुख्य देवता मानी जाती थी। किसी दो सींग वाले देव की एक मूर्ति पाई गई है, जो कि कुछ विद्वानों के मतानुसार पशुपति शिव की मूर्ति है। वृक्ष तथा पशु भी पूजे जाते थे। मृतकों को गाड़ दिया जाता था या जलाया जाता था।

इन स्थानों के निवासियों ने वाणिज्य-व्यवसाय को भी विकसित किया होगा जैसा कि तत्कालीन मुद्राओं के बाहुल्य से जाना जा सकता

है। सामाजिक जीवन पूर्णतया विकसित रहा होगा। तत्कालीन नगर की व्यवस्था आदि का विचार करने से विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। इस प्रकार इन स्थानों के निवासी पूर्णतया समृद्धिशाली रहे होंगे।

पाश्चात्य विद्वान् इन खण्डहरों में प्राप्त हुई वस्तुओं के सहारे यह कहते हैं कि प्राचीन काल में कोई विदेशी संस्कृति सिन्धु नदी के किनारे फैली थी, जिसका प्राचीन भारतीय संस्कृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। वह संस्कृति प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि की संस्कृतियों से मिलती-जुलती थी, क्योंकि उनके मध्य बहुत सी समानता पाई जाती है, जो कि इस प्रकार है—चित्रलिपि की समानता, मुद्राओं की समानता तथा मिट्टी के बरतन और उन पर खुदी हुई चित्रकला की समानता। इस समानता के जोर पर पाश्चात्य इतिहासकारों ने यह तय कर लिया कि यह संस्कृति प्राचीन बाबुल से यहाँ आई तथा वहाँ की संस्कृति के समान ई० पू० ३००० वर्ष के पहले की होनी चाहिए। उन्होंने इस संस्कृति को प्राचीन भारतीय संस्कृति से बिलकुल पृथक् सिद्ध करने के बहुत से प्रयत्न किए हैं। संस्कृत के विख्यात विद्वान् सर ए० बी० कीथ ने नीचे लिखे मुद्दों के आधार पर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि इस संस्कृति से भारत के आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मुद्दे इस प्रकार हैं:

(१) इतिहास तथा संस्कृत साहित्य का कोई भी विद्वान् यह मानने को तैयार न होगा कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्य लोग भारत में पहुँच गए थे। ई० पू० २००० वर्ष तक भी आर्य लोग भारत में नहीं पहुँचे थे। इसलिए सिन्धु-संस्कृति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता।

(२) ऋग्वेद में नगर के जीवन का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-संस्कृति में नगरों का बाहुल्य है।

(३) ऋग्वेद में चाँदी का उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-

संस्कृति में सोने की अपेक्षा चाँदी का उपयोग अधिक होता था।

(४) ऋग्वेद में शिरस्त्राण और कवच का उल्लेख है, किन्तु गदा हथियार के रूप में कहीं उल्लिखित नहीं है। इसके विपरीत सिन्धु-संस्कृति में गदा का तो पता लगता है, किन्तु कवच का कोई पता नहीं।

(५) ऋग्वेद-कालीन आर्य लोग मछली नहीं खाते थे, किन्तु सिन्धु-संस्कृति के लोग मछली बहुत खाते थे।

(६) मोहञ्जोदड़ो में घोड़ा नहीं पाया जाता, किन्तु ऋग्वेद में घोड़े का आधिक्य है।

(७) ऋग्वेद में बैल की अपेक्षा गाय का अधिक सत्कार किया गया है, किन्तु सिन्धु-संस्कृति में गाय का इतना महत्त्व नहीं था।

(८) ऋग्वेद में मूर्ति-पूजा का कोई उल्लेख नहीं आता, किन्तु सिन्धु-संस्कृति में मूर्ति-पूजा धर्म का मुख्य अङ्ग थी। पशुपति एवं योगिराज के रूप में सिन्धु-संस्कृति के लोगो द्वारा शिव की पूजा की जाती थी, जो ऋग्वेद-काल में ज्ञात नहीं थी।

इन आठ युक्तियों के सहारे कोथ महाशय सिद्ध करना चाहते हैं कि सिन्धु-संस्कृति से आर्यों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। किन्तु ये दलीलें पूर्णतया निर्जीव हैं। निश्चित रूप से यह कोई नहीं कह सकता कि ई० पू० ३००० वर्ष के लगभग आर्य लोग भारत में नहीं थे। अभी तो ऋग्वेद के काल का निर्णय ही नहीं हो सका है। ऋग्वेद में नगर का उल्लेख नहीं है, इसलिए यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि उस काल में नगर थे ही नहीं। ऋग्वेद इतिहास का ग्रन्थ तो नहीं है कि उसमें इन सब बातों का उल्लेख होना ही चाहिए। वह तो एक धार्मिक ग्रंथ है, जिसमें उन ऋषियों के मन्त्रों को संग्रहीत किया गया है, जो जंगलों में आश्रम बसाकर रहते थे। इसलिए उसमें बड़े-बड़े नगरों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख न मिलना स्वाभाविक ही है। किन्तु परोक्ष रूप से यह पता अवश्य लगता है कि ऋग्वेद-काल में बड़े-बड़े नगर भी थे। ऋग्वेद में सभा एवं समिति का उल्लेख कितने ही

स्थलों पर आता है। समिति वेदकालीन 'पार्लामेण्ट' थी तथा कुछ इतिहासकारों के मतानुसार जिस विशाल भवन में उसकी बैठक होती थी, वह सभा कहलाता था। इस सभा में लोग अन्य कार्यों के लिए भी एकत्रित होते थे। यह वर्णन जिस रूप में किया गया है, उससे मालूम होता है कि वहाँ का वातावरण एक नगर का वातावरण हो सकता है। कीथ की अन्य दलीलों का भी यही हाल है। गाय व बैल का कम या अधिक महत्त्व; सोने व चाँदी का कम या अधिक उपयोग; शिरस्त्राण, कवच, गदा आदि का पाया जाना या न पाया जाना; मछली खाना या न खाना आदि के सहारे सांस्कृतिक भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती। एक ही संस्कृति के मानने वाले समाज में ये सब भेद एक ही समय पाये जा सकते हैं।

यह समझना भी कठिन है कि इसे प्राचीन सुमेर, बाबुल आदि से क्यों सम्बन्धित किया जाता है? केवल मिट्टी के बरतनों व उनके ऊपर की चित्र-कला की समानता के सहारे तो एकदम यह नहीं कह सकते कि यह संस्कृति प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि से ही आई थी, जबकि प्राचीन भारतीय संस्कृति के साथ उसकी समानता स्पष्टतया दीखती है। त्रिमूर्ति, योगिराज, पशुपति, शिव, पृथ्वी माता आदि भारत के अपने देवता हैं, प्राचीन बाबुल, सुमेर आदि के नहीं हैं। इन देवताओं के मानने वाले अवश्य भारतीय संस्कृति के रंग में रँगे होने चाहिएँ। सोना, चाँदी, गाय, बैल, गेहूँ, बाजरा आदि जो-कुछ उन खण्डहरों से मिला है, वह सब पूर्णतया भारतीय ही है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभी तक इतिहासकारों ने सिन्धु-संस्कृति के लिए जो-कुछ मत स्थिर किये हैं, उनमें अधिक खोज के परिणामस्वरूप बहुत सुधार की आवश्यकता है। फिर भी निष्पक्ष वृत्ति से इतना तो कहा जा सकता है कि सिन्धु-संस्कृति को भारतीय आर्यों से पृथक् करना कोई सरल काम नहीं है।

(२)
इतिहास निर्माण की सामग्री

भारत इतना प्राचीन देश है कि उसका क्रमबद्ध इतिहास लिखना कोई सरल बात नहीं है। फिर भी भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिए जितनी सामग्री वर्तमान है, उसका विनियोग अच्छी तरह नहीं किया गया है। यह सामग्री चार प्रकार की है— (१) अनुश्रुति, (२) प्राचीन भग्नावशेष, लेख, सिक्के आदि, (३) ऐतिहासिक साहित्य, (४) विदेशियों द्वारा किया गया भारत-वर्णन। प्राचीन इतिहास के निर्माण में अनुश्रुतियों का बहुत ही महत्त्व है। ये अनुश्रुतियाँ, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि साहित्य में समाविष्ट हैं। पुराणों में इनका विशेष भण्डार है। उनमें से ऐतिहासिक सामग्री ढूँढ निकालना कोई मामूली बात नहीं है। वैदिक काल से लेकर तो मौर्य काल के प्रारम्भ तक के इतिहास के लिए यही एक साधन है। प्राचीन भग्नावशेष, लेख, सिक्के आदि का प्रारम्भ मौर्यकाल से हो जाता है व मौर्य, गुप्त आदि कालों के इतिहास पर ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। बैक्ट्रियन, पार्थियन, कुशान, आन्ध्र आदि राज-वंशों के इतिहास के लिए सिक्के ही एक-मात्र साधन हैं। ऐतिहासिक साहित्य में कल्हण-कृत 'राजतरङ्गिणी' (१२ वीं शताब्दी), बाण-कृत 'हर्ष चरित' (ई० स० ६२० के लगभग), भिल्हण-कृत 'विक्रमाङ्कदेव चरित' (ईसा की १२ वीं शताब्दी) आदि का समावेश होता है। विदेशियों द्वारा भारत का सर्वप्रथम उल्लेख ईरानी राजा डेरियस के ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लेखों में मिलता है। यूनानी इतिहासकार हीरोडोटस (ई० पू० ५ वीं शताब्दी), सिकन्दर (ई० पू० चौथी शताब्दी) के कर्मचारी मेगास्थनीज आदि यूनानी राजदूत, व अन्य यूनानी इतिहासकारों ने भारत का वर्णन किया है। चीनी इतिहासकारों ने भी भारत का उल्लेख किया है। फाहियान (चौथी शताब्दी), यूएनच्वाङ्ग (सातवीं शताब्दी) आदि चीनी यात्रियों ने

तथा अलबेरुनी नामी अरब यात्री (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने ग्रन्थों में भारत का विशद् वर्णन किया है।

(३)

पुराणों के द्वारा इतिहास-निर्माण

भारतीय इतिहास के विभाग—भारत की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए भारतीय इतिहास के दो मोटे विभाग किये जा सकते हैं, जैसे (१) महाभारत-काल के पूर्व का इतिहास व (२) महाभारत-काल के पश्चात् का इतिहास। पुराणों ने भी भारतीय इतिहास का विभाजन इसी प्रकार किया है। उनमें भूत व भविष्यत् काल के प्रयोग द्वारा इस विभाजन को कायम रखा गया है।

भारत-युद्ध का समय—भारत-युद्ध के समय के बारे में निश्चित रूप से कहना बहुत मुश्किल है, फिर भी इतिहास के विद्वानों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है, उस पर प्रकाश डालना आवश्यकीय है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ ई० पू० ३१०१ वर्ष में होता है। 'महाभारत' में विभिन्न स्थलों पर कहा गया है कि कलियुग का प्रारम्भ या तो युद्ध के समय हुआ अथवा युधिष्ठिर के राज्यारोहण के समय या कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् हुआ। इसलिए कुछ विद्वान् भारत-युद्ध को ई० पू० ३००० वर्ष तक ले जाते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कलियुग के प्रारम्भ-सम्बन्धी सिद्धान्त को सर्व-प्रथम आर्य भट्ट (भारत-युद्ध के ३५०० वर्ष पश्चात्) ने प्रतिपादित किया। कोई-कोई विद्वान् 'महाभारत' में वर्णित नक्षत्रों व ग्रहों की स्थिति के सहारे भारत-युद्ध का समय जानने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उक्त ग्रन्थ में बाद में जो मिलावट हुई है, उसके कारण यह कहना मुश्किल है कि कौनसा उल्लेख प्राचीन व कौनसा अर्वाचीन है।

वैदिक साहित्य में वर्णित ऋषियों की परम्परा व भारत-युद्ध के पश्चात् तथा शैशुनाग वंश के पूर्व के राजाओं की संख्या की सहायता से रायचौधरी इस युद्ध को ई० पू० ९वीं शताब्दी में निर्धारित करते

हैं। पार्जिटर के मतानुसार इस युद्ध का समय ई० पू० १०वीं शताब्दी है। राजा नन्द व जनमेजय 'द्वितीय' के नाती अधिसीमकृष्ण के बीच के समय में जिन वंशों ने राज्य किया, उनका काल पुराणों की सहायता से निश्चित करके पार्जिटर कहते हैं कि इन दो घटनाओं के मध्य २६ राजा हुए। जिनमें से प्रत्येक को १८ वर्ष दिये गए हैं। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में वर्णित गुरु-शिष्य-परम्परा के सहारे डॉ० अल्तेकर यह सिद्ध करते हैं कि पुराणों के आधार पर स्वीकृत भारत-युद्ध-काल, जो कि ई० पू० १४०० वर्ष के लगभग आता है, बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार जायसवाल आदि विद्वान् पुराणों के सहारे भारत-युद्ध को ई० पू० १४२४ वर्ष या उससे भी पूर्व ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इन विभिन्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि भारत-युद्ध के समय के बारे में अभी तक कोई निश्चय नहीं हो सका है।

महाभारत के पूर्व का काल—इस काल का क्रमबद्ध इतिहास लिखना बड़ा कठिन काम है। कपोल-कल्पित कथाओं में मिश्रित ऐतिहासिक सामग्री को पृथक् करना कोई साधारण बात नहीं है। पुराण, महाभारत आदि से पता चलता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल से भारतवर्ष में दो राज-वंश प्रसिद्ध थे—(१) सूर्य-वंश व (२) चन्द्र-वंश। आज भी भारत के क्षत्रिय अपने को इन दो राज-वंशों से सम्बन्धित करते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार ये वंश सूर्य व चन्द्र से उत्पन्न हुए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा का इतना ही महत्त्व है कि इसके द्वारा उक्त राज-कुलों की प्राचीनता का पता चलता है। सूर्य-वंश को मानव-वंश भी कहा जाता है, क्योंकि पुराणों के अनुसार उक्त वंश का सर्वप्रथम राजा मनु था।

सूर्य (मानव) वंश के राजा—मनु के दस पुत्रों में केवल इक्ष्वाकु शर्याति, दिष्ट आदि का ही वंश-विस्तार हुआ, व कारूष नामी पुत्र ने 'कारूष-क्षत्रियों' को जन्म दिया। दिष्ट के पुत्र नाभाग के बारे में कहा गया है कि वह वैश्य बन गया व दसवाँ पुत्र पृषध्र गुरु-गोवध के कारण

शूद्र बन गया। इसी प्रकार नाभाग के पाँचवे वंशज रथीतर की सन्तान ब्राह्मण बन गई व 'आङ्गिरस' कहलाई। उन्हें "क्षत्रोपेतद्विजातयः" (क्षत्रिय से ब्राह्मण बने हुए) कहा गया है। इक्ष्वाकु-वंशज प्रसिद्ध क्षत्रिय थे ही। इस प्रकार चारों वर्णों की उत्पत्ति को भी मनु से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। मनु के वंशजों में इक्ष्वाकु का वंश ही ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक विचारणीय है। यह वंश भारत के प्राचीन इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हरिश्चन्द्र, राम आदि नर-पुङ्गवों ने, जिनके कारण आज भी भारत गौरव से अपना सिर ऊँचा उठा सकता है, इसी वंश में जन्म लिया था। यह वंश भारतीय राज-वंशों में प्राचीनतम प्रतीत होता है। महाभारतकाल तक इस वंश के लगभग ९८ राजाओं का उल्लेख है। वशिष्ठ मुनि इस वंश के कुल-गुरु थे। भारत-युद्ध के पश्चात् भी इस वंश के राजा राज्य करते रहे। इस वंश की एक और शाखा थी जिसका प्रारम्भ इक्ष्वाकु के द्वितीय पुत्र निमि से होता है। इसी वंश में राम दाशरथि की पत्नी सीता के पिता सीरध्वज जनक ने जन्म लिया था। इस वंश के राजाओं को 'आत्मविद्यारत' कहा गया है।

चन्द्र-वंश—पुराणों ने चन्द्र को इस वंश का संस्थापक माना है। इस वंश का प्रारम्भ मनु की पुत्री इला से होता है। इला का पुत्र पुरूरवस ऐल ही इस वंश का सर्वप्रथम ऐतिहासिक राजा था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (१०।९५) में भी आता है। पार्जिटर महाशय का कथन है कि यही वंश आर्य-वंश है जो कि हिमालय पर्वत से भारत में आकर प्रतिष्ठान (प्रयाग के निकट) में बस गया। उसके मन्तव्यानुसार सूर्य-वंशी भारत के आदिम निवासी द्रविड़ थे। इस सिद्धान्त के अनुसार कितने ही ऋषियों व राजाओं को, यहाँ तक कि हरिश्चन्द्र, राम आदि सबको अनार्य प्रमाणित किया जा सकता है। इस विचित्र मन्तव्य की पुष्टि में चन्द्र-वंश का विस्तार व उसके बहुसंख्यक चक्रवर्ती व प्रतापी राजाओं का हवाला दिया गया है। किन्तु यदि जरा विचार

से काम लिया जाय तो स्पष्ट होगा कि यह मन्तव्य किस प्रकार भ्रमपूर्ण है। चन्द्र-वंश व सूर्य-वंश के राजाओं के आचार-विचार रहन-सहन आदि में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। उनमें परस्पर विवाहादि सम्बन्ध भी वर्तमान था। यदि चन्द्र-वंश का विस्तृत वर्णन मिलता है तो इसका यही कारण हो सकता है कि यह वंश इतना पुराना नहीं है जितना कि सूर्य-वंश। इसीलिए इसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा जा सका। इस वंश के सम्बन्ध में 'विष्णु पुराण' में लिखा है कि "यह वंश अतिबलपराक्रमद्युतिशीलचेष्टायुक्त व अतिगुणान्वित नहुष, ययाति, कार्तवीर्य, अर्जुन आदि भूपालों द्वारा अलंकृत किया गया है।" इस वंश की एक विशेषता यह भी है कि इस वंश के राजा ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों के द्रष्टा भी थे, जैसे पुरूरवस (ऋ० १०।९५) गाधि (ऋ० १९-१२), विश्वामित्र (ऋ० ३।१-२, २४-२७, ३९-५३, ५७-६२) गृत्समद (ऋ० ९।८६।४६-४८) प्रतर्दन (ऋ० ९।९६) ययाति (ऋ० ९।१०१। ४-६) आदि।

चन्द्र-वंश के राजा—ऐतिहासिक दृष्टि से इस वंश का मूल पुरुष पुरूरवस ऐल प्रतीत होता है, जिसने उर्वशी नामी एक अप्सरा को ब्याहा था। इन दोनों के प्रेम-सम्बन्ध का उल्लेख ऋग्वेद में आता है तथा इसकी विस्तृत कथा पुराणों में दी है। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक द्वारा इस प्रतापी राजा की प्रेम-कहानी को अमर बना दिया है। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि पुरूरवस् ऐल ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण राजा था। अपनी पत्नी के साथ यह राजा ऋग्वेद का मन्त्र-द्रष्टा भी है। इसके ज्येष्ठ पुत्र आयुस तथा नाती नहुष ने इस वंश का खूब विकास किया। नहुष के पुत्र ययाति के पाँच प्रतापी पुत्रों यदु, दुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरू,—ने समस्त भारत में अपना शासन स्थापित किया था। इनमें से यदु ने, जो कि दक्षिण में जाकर बसा था, एक ऐसे राजवंश की स्थापना की, जिसमें योगिराज कृष्ण

ने जन्म लिया और जिसके अवशेष आज भी वर्तमान हैं। ययाति के पाँचों पुत्र ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।

महाभारत के पश्चात् का काल—पुराणों ने इस काल के राज-वंशों का भी उल्लेख किया है। इस काल के राज-वंशों में परीक्षित-वंश, इक्ष्वाकु-वंश व बार्हद्रथ आदि मागधेयों के वंश विशेष उल्लेखनीय हैं। परीक्षित-वंश में २७ राजा हुए। इक्ष्वाकु-वंश में २८ राजा हुए। इस वंश का राजा बृहद्बल महाभारत-युद्ध में मारा गया। बार्हद्रथ-मागधेयों के वंश में २२ राजा हुए। इस वंश के राजाओं ने सब मिलकर १००० वर्ष तक राज्य किया। इस वंश का अन्तिम राजा रिपुञ्जय अपने मन्त्री मुनिक द्वारा मारा गया व उस मन्त्री का पुत्र प्रद्योत राज्यगद्दी पर बैठा। इस प्रद्योत के बलाक, विशाखयूप, जनक, नन्दीवर्धन, नन्दी आदि पाँच वंशज हुए, जिन्होंने लगभग १४६ वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् शिशुनाक राजा बना। इसके वंश में १० राजा हुए, जिन्होंने लगभग ३६२ वर्ष तक राज्य किया। इसके पश्चात् मौर्य-वंश के १० राजाओं ने १३७ वर्ष तक राज्य किया। मौर्यों के पश्चात् १० शुङ्गों का राज्य हुआ। अन्तिम मौर्य राजा के सेनापति पुष्यमित्र ने राजा को मारकर अपना राज्य स्थापित किया। अग्निमित्र आदि इसके ९ वंशज हुए, जिन्होंने ११२ वर्ष तक राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा देवभूति को, जोकि व्यसनी था, उसके मन्त्री वसुदेव ने मार डाला व राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इस नये वंश के ४ राजाओं ने ४५ वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम राजा सुशर्मा को उसके आन्ध्र-जातीय मन्त्री बलिपुच्छक ने मार डाला व स्वयं राजा बन गया। उसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण राजा हुआ। आन्ध्र-वंश में २४ राजा हुए, जिन्होंने लगभग ४८६ वर्ष तक राज्य किया।

इस प्रकार पुराणों की सहायता से भारत के प्राचीन राज-वंशों का एक क्रम तैयार किया जा सकता है। इस दिशा में अभी विशेष प्रयत्न नहीं किया गया।

(४)
क्रमबद्ध इतिहास

इतिहासकारों के मतानुसार भारत का क्रमबद्ध इतिहास सिकन्दर के आक्रमण (ई० पू० ३२६) के पश्चात् से प्रारम्भ होता है, जबकि मौर्य-साम्राज्य का सूत्रपात हुआ किन्तु जैन, बौद्ध व ब्राह्मण साहित्य के सहारे इस इतिहास को ई० पू० सातवीं शताब्दी तक भी ले जाया जा सकता है।

बौद्ध साहित्य में वर्णित जनपद व प्रजातन्त्र (ई० पू० सातवीं व छठी शताब्दी)—बौद्ध साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से तो किसी इतिहास का पता नहीं लगता, किन्तु परोक्ष रूप से कुछ ऐतिहासिक बातों का उल्लेख अवश्य है। इस साहित्य में उत्तर भारत के लगभग सोलह जनपदों का उल्लेख है जैसे अङ्ग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी, मल्ल, चेति, वंश, कुरु, पाञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गान्धार, काम्बोज। इस उल्लेख के सहारे कहा जा सकता है कि ई० पू० सातवीं शताब्दी में उत्तर भारत लगभग १६ स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था, जिनका विस्तार आधुनिक बङ्गाल से पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तक था। इसी प्रकार गौतम बुद्ध के समय (ई० पू० छठी शताब्दी) के कुछ प्रजातन्त्रों का भी उल्लेख है, जैसे साकिय (राजधानी कपिलवस्तु), बुलि (राजधानी अल्लकप्प), कालाम (राजधानी केसपुत्त), भग्ग (राजधानी सुंसुमारगिरि), कोलिय (राजधानी रामगाम), मल्ल (राजधानी पांवा), मल्ल (राजधानी कुसीनारा), मोरिय (राजधानी पिप्पलीवन), विदेह (राजधानी मिथिला), लिच्छवी (राजधानी वेसाली) आदि। ये प्रजातन्त्र कोसल के पूर्व में, तथा हिमालय और गङ्गा के मध्य में स्थित थे। ये सब आपस में लड़ते थे और इन्हें आसपास के शक्तिशाली राज्यों की वक्र दृष्टि का सामना भी करना पड़ता था, जिसके परिणाम स्वरूप इनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी जाता रहा।

इन सबमें शाक्य प्रजातन्त्र का वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है, क्योंकि गौतम बुद्ध वहीं के नागरिक थे।

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि शाक्य प्रजातन्त्र में राजधानी के अतिरिक्त कितने ही नगर थे, जैसे चातुमा, सामगाम, खोमदुस्स, सिलावती, मेदलुम्प, नगरक, उलुम्प, देवदह, सक्कर आदि। शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब कार्य सार्वजनिक सभा-भवन में सम्पादित किए जाते थे, जहाँ वृद्ध व नवयुवक सब ही समता के भाव से एकत्रित होते थे। सभा-भवन को 'संथागार' कहा जाता था। इस प्रकार के संथागार बहुत से नगरों में थे। ग्राम्य-जीवन भी सुसंगठित रूप से सञ्चालित किया जाता था। प्रत्येक ग्राम में भी सार्वजनिक कार्य सब ग्रामीणों द्वारा सञ्चालित किये जाते थे। इनकी भी सार्वजनिक सभाएँ हुआ करती थीं। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम एक छोटा प्रजातन्त्र ही था।

कोसल-राज्य—राजतन्त्र वाले राज्यों में कोसल का राज्य अधिक महत्त्वपूर्ण था। तत्कालीन राजनीतिक जीवन का केन्द्र यही था। यहाँ के शक्तिशाली राजाओं ने आसपास के छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर इस राज्य की शक्ति को खूब बढ़ा दिया था। इस सम्बन्ध में कोसल-नरेश कंस द्वारा काशी राज्य का जीता जाना विशेष उल्लेखनीय है। गौतम बुद्ध के समय यहाँ का राजा पसेन्दी (प्रसेनजित्) था, जो मगधराज अजातसत्तु (अजातशत्रु) से अनेकों बार लड़ा, व अन्त में अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। इसकी अनुपस्थिति में प्रजा ने इसके पुत्र विदुदाभ (विरुद्धक) को राजगद्दी पर बैठा दिया। इस नये राजा ने शाक्यों पर आक्रमण किया व कितने ही बालकों व कितनी ही स्त्रियों को तलवार के घाट उतार दिया। अजातसत्तु ने कोसल पर आक्रमण किया, जिसके परिणाम स्वरूप कुछ समय पश्चात् यह राज्य मगध-राज्य में मिला लिया गया।

उत्तर भारत की आर्थिक परिस्थिति (ई० पू० सातवीं शताब्दी)—बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि ग्रामों का संगठन

उत्तर भारत के आर्थिक जीवन की भूमिका था। यद्यपि राजाओं के अधिकार एक प्रकार से निरङ्कुश थे, फिर भी वे राजा ग्राम्य-जीवन की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे केवल खेतों की उपज के दशांश के मालिक थे, जिसकी वसूली प्रतिवर्ष होती थी। राजभाग कभी-कभी षष्ठांश से द्वादशांश तक रहता था। ग्रामीण लोग अपनी भूमि के पूर्णतया मालिक थे, व उनका दैनिक जीवन भी उनकी अपनी पञ्चायत द्वारा सञ्चालित होता था। गाँव के बाहर चारागाह जंगल आदि रहते थे। सावत्ती (श्रावस्ती) का 'जेतवन' व साकेत का 'अञ्जनवन' इसी प्रकार के थे। खेती के लिए नहरों की व्यवस्था भी की गई थी। चावल भोजन का मुख्य अंग था, किन्तु सात प्रकार के अन्य धान्य भी बौद्ध साहित्य में उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त गन्ना, फल, शाक-भाजी, फूल आदि की भी खेती होती थी। इन गाँवों में सहकारित्व के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने की प्रथा प्रचलित थी, जिससे तत्कालीन नागरिकता के भाव की जागृति का पता चलता है। गाँवों के ऊपरी अधिकारी को 'भोजक' कहते थे, जो केन्द्रीय शासन में अपने गाँव का प्रतिनिधित्व करता था।

खेती के अतिरिक्त विभिन्न दस्तकारी, उद्योग-धन्धे आदि भी द्रव्योत्पादन के लिए प्रयुक्त किये जाते थे, जिससे तत्कालीन औद्योगिक विकास का भी पता चलता है। उनमें से कुछ के करने वाले ये हैं—धनुष-बाण बनाने वाले, अनाज उड़ाने का धन्धा करने वाले, धातु का काम करने वाले, जहाज, गाड़ी, घर आदि बनाने वाले, तथा 'थपति', 'थच्छक', 'भमकार' आदि, पत्थर का काम करने वाले, चमड़े का काम करने वाले, चितेरे, लकड़ी का काम करने वाले, सुनार, लुहार आदि। ये सब व्यवसाय 'सेणि' आदि द्वारा संगठित रूप से चलाये जाते थे। इनके अतिरिक्त हाथी-दाँत का काम, कपड़ा बुनना, मिठाई बनाना, मणिकार का काम, फूलों की माला आदि बनाने का काम इत्यादि भी

पूर्णतया प्रचलित थे। इस समय में, आन्तरिक व बाह्य व्यापार भी खूब उन्नति में था।

मगध का शिशुनाग-वंश—पुराणों के अनुसार इस वंश का संस्थापक शिशुनाग या शिशुनाक था, जो कि कदाचित् आधुनिक पटना व गया जिलों के भूमि भाग पर राज्य करता था, व उसकी राजधानी राजगृह थी, जो कि गया के निकट पहाड़ियों पर बसी हुई थी। इस राजा के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात है कि इसने अपने पुत्र को बनारस में रखा, व स्वतः राज-गृह के 'गिरिव्रज' में रहने लगा।

बिम्बिसार (ई० पू० ५५४–५२७)—इस वंश के पाँचवें राजा बिम्बिसार या श्रेणिक (जैनियों के अनुसार) के बारे में बहुत कुछ मालूम होता है। पुराणों के अनुसार इसने २८ वर्ष तक राज्य किया। इसने नये राजगृह का सूत्रपात किया। इसके कोसल तथा लिच्छवी राज-वंशो की राजकुमारियों से विवाह करके पड़ोसी राज्यों से अच्छा सम्बन्ध स्थापित किया था। यह गौतम बुद्ध व महावीर दोनों का समकालीन था। इस प्रकार मगध के राजनीतिक महत्त्व का प्रारम्भ इसी के समय से होता है।

अजातशत्रु (ई० पू० ५५४–५२७)—अजातशत्रु बिम्बिसार की लिच्छवी वंशीय रानी का पुत्र था। जैन साहित्य में इसे कुणिक कहा गया है। पुराणों के अनुसार इसने २७ वर्ष तक राज्य किया। बौद्ध दन्तकथा के अनुसार बुद्ध के विरोधी चचेरे भाई देवदत्त द्वारा उकसाए जाने पर इसने अपने पिता की हत्या की व बाद में परिताप से परितप्त होकर वह गौतम बुद्ध की सेवा मे उपस्थित हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा में कितना तथ्यांश है यह कहना मुश्किल है। कोसल-राज्य से इसने कितने ही युद्ध किये, जिनमें इसकी हार भी हुई थी, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि अन्त में कोसल-राज्य जीतकर मगध में मिला लिया गया था। इसके पश्चात् इसने गंगा के उत्तरवर्ती लिच्छवी-प्रदेश को जीता व उसकी राजधानी वैशाली पर अपना अधिकार जमा लिया।

इस प्रकार गङ्गा नदी व हिमालय के मध्य का सब प्रदेश मगध राज्य के अन्तर्गत आ गया। उसने सोन नदी के उत्तरी किनारे पर जहाँ वह गंगा से मिलती है, पाटली गाँव में किला बनाकर भावी पाटलीपुत्र के गौरव का सूत्रपात किया। इसके पश्चात् इसका पुत्र दर्शक (ई० पू० ५२७–५०३) राजा बना। उसने २४ वर्ष तक राज्य किया। 'स्वप्न-वासवदत्तम्' नाटक में इसका उल्लेख आता है। इसके पश्चात् उदय (ई० पू० ५०३–४००) राजा हुआ। इसने पाटलीपुत्र नगर को बसाया।

नन्द-वंश—पुराणों की वंशावलियों के अनुसार उदय के पश्चात् नन्दीवर्धन व महानन्दिन राजा हुए, जिन्होंने क्रमशः ४० व ४३ वर्ष तक राज्य किया। महानन्दिन का शूद्रा-पत्नी के उत्पन्न महापद्मनन्द नामी पुत्र था, जो पिता के पश्चात् सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार नन्द-वंश की स्थापना हुई। इसने ८८ वर्ष व इसके आठ पुत्रों ने १२ वर्ष तक राज्य किया। ये ही राजा पुराणों में 'नव नन्द' कहे गए हैं। इनके राज्य-काल के बारे में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है, किन्तु सिकन्दर के आक्रमण को ध्यान में रखते हुए नन्दकाल को साधारणतया ६१ वर्ष का बताया जाता है।

पश्चिमोत्तर भारत की परिस्थिति (ई० पू० चौथी शताब्दी)—जबकि पूर्व में एक शक्तिशाली साम्राज्य विकसित किया जा रहा था, उस समय पश्चिम और विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत में एक प्रकार से राजनीतिक अराजकता छाई हुई थी। यहाँ कितने ही प्रजातन्त्र और राजतन्त्र राज्य वर्तमान थे, जो राज्य-वृद्धि की पिपासा से आपस में लड़ते थे। हिन्दुकुश पर्वत के निकटवर्ती प्रदेश में शशिगुप्त नामी भारतीय राजा राज्य करता था व काबुल के उत्तर के पर्वतीय प्रदेश में भारतीय जातियाँ बसी हुई थीं। यह शशिगुप्त सिकन्दर से लड़ने ईरान गया था, किन्तु बाद में उसका मित्र बन गया। आम्भी नामी राजा सिन्धु और झेलम नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में राज्य करता था। उसकी राज-

धानी तक्षशिला थी। झेलम व रावी नदी के मध्यवर्ती प्रदेश पर पौरव (जिसे यूनानियों ने 'पोरस' कहा है) राजा राज्य करता था। उत्तर में 'अभिसार' (काश्मीर के पूँच व नौशेरा ज़िलों का भूमि भाग)—राज्य था, जहाँ का राजा पौरव का मित्र था। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रजातन्त्र भी वर्तमान थे जैसे अश्वष्ट, क्षत्रिय, मालव, क्षुद्रक, शिवि इत्यादि।

सिकन्दर का आक्रमण (ई० पू० ३२६)—यूरोप के मेसिडोनिया प्रदेश के शासक फिलिप का पुत्र सिकन्दर यूनान, मिस्र, सीरिया, ईरान आदि जीतता हुआ ई० पू० ३२६ में ओ हिन्द के निकट सिन्धु नदी को पार करके भारत में आया। तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसका स्वागत किया, क्योंकि उसे अपने शत्रु पौरव से बदला लेना था। पौरव ने अभिसार आदि के राजाओं से मिलकर सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया व खूब तैयारियाँ करने लगा। झेलम नदी के किनारे सिकन्दर व पौरव की भयंकर लड़ाई हुई, जिसमें सिकन्दर जीता व पौरव ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् सिकन्दर और आगे बढ़ा। अश्वष्ट, क्षत्रिय आदि प्रजातन्त्रों ने उसका सामना किया किन्तु वे हार गए। इस प्रकार अपनी विजय-पताका फहराता हुआ सिकन्दर व्यास नदी के किनारे पहुँचा जहाँ उसे पता लगा कि पूर्व में एक अत्यन्त ही शक्तिशाली साम्राज्य है। कहा जाता है कि यहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य से भी उसकी भेंट हुई थी। उसके सिपाही बहुत थक गए थे। इसलिए उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध लौटना पड़ा। झेलम व सिन्धु नदी से होता हुआ वह सिन्ध पहुँचा। मार्ग में मालव, क्षुद्रक आदि प्रजातन्त्रों से उसे खूब लड़ना पड़ा। इसके पश्चात् वह स्थल-मार्ग से ईरान पहुँचा, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव—सिकन्दर ने जीते हुए प्रदेशों में अपने शासकों को नियुक्त किया था, इनमें आम्भी व पौरव भी सम्मिलित थे। उसकी इच्छा थी कि भारत छोड़ने के पश्चात् भी उस

पर अधिकार रहे। किन्तु उसकी पीठ फिरते ही उसकी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। सब राज्य पुनः स्वतन्त्र हो गए; सिकन्दर की सत्ता का कोई चिह्न बाकी न रहा। कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत ने यूनान से बहुत-कुछ सीखा। कहा जाता है कि यूनानी कला, साहित्य, संस्कृति आदि आदि ने भारत को प्रभावित किया। किन्तु, यदि निष्पक्ष वृत्ति से विचार किया जाय तो पता लगेगा कि इस मन्तव्य में कोई तथ्य नहीं है। सिकन्दर कुल उन्नीस मास भारत में रहा, और वह भी केवल पंजाब व सिन्ध में। इस अल्पकाल में उसे कितने ही युद्ध करने पड़े। पंजाब के भारतीय उसे एक राज्य-लोलुप विजेता के रूप में देखते थे। इसलिए, सिकन्दर उन्हें क्या सिखा सकता था ? इसके अतिरिक्त भारत का सर्वांगीण सांस्कृतिक विकास तो कब से हो चुका था। भारत को सिखाने के बदले उसने तक्षशिला के नंगे संन्यासियों से ही बहुत कुछ सीखा।

मौर्य-साम्राज्य (ई० पू० ३२२–१८५)—चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२२–२९८)—दन्तकथा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के राजवंश से सम्बन्धित था, व उसकी माता या दादी मुरा नाम की शूद्रा स्त्री थी। कहा जाता है कि इसी से वह मौर्य कहलाया। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त पिप्पलीवन (हिमालय तटवर्ती) के मोरिय लोगों का वंशज था। कुछ विद्वान् उसे अन्तिम नन्द राजा के सेनापति का पुत्र भी मानते हैं।

चन्द्रगुप्त ने अपने मन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य की सहायता से एक बड़े भारी साम्राज्य की स्थापना की। उसने अन्तिम नन्द राजा को हराकर समस्त उत्तरी भारत पर अधिकार जमा लिया और पश्चात् पंजाब आदि प्रान्तों को भी जीत लिया। ई० पू० ३०५ के लगभग सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्युकस निकॉटर ने भारत पर आक्रमण किया, किन्तु चन्द्रगुप्त की सुव्यवस्थित सेना ने उसे पूर्णतया हरा दिया। परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त को पेरोपेनोसेदाय (काबुल) एरिया (हेरात) व

एरेकोज़िया (कन्दहार) आदि प्रदेश प्राप्त हुए, तथा यूनानी राजकन्या से उसका विवाह भी हो गया। सेल्युकस ने मेगास्थनीज़ नामी अपना राजदूत मौर्य-राजधानी पाटलिपुत्र में रखा। कदाचित् दक्षिण भारत को भी चन्द्रगुप्त ने जीता हो, क्योंकि जैन-कथाओं के अनुसार वह जैन था व भद्रबाहु के साथ दक्षिण में श्रावण बेल गोला (मैसूर) तक गया था।

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था—चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था के बारे में कौटिल्य के अर्थशास्त्र व यूनानी लेखकों से बहुत कुछ मालूम होता है। साम्राज्य के शासन के लिए सम्पूर्ण राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया गया था, जिनकी देख-रेख के लिए 'स्थानीय' (प्रान्त का अधिकारी) 'गोप' (५ या १० गाँवों का अधिकारी), 'ग्रामणी' (गाँव का अधिकारी) आदि कर्मचारी नियुक्त किये गए थे। केन्द्रीय शासन पर राजा का पूर्ण अधिकार था, किन्तु उसकी सहायता के लिए मन्त्रि-मण्डल भी रहता था, जिसके सदस्य अर्थशास्त्र के अनुसार ये थे—समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेष्टि, प्रशास्तृ, दौवारिक आन्तर्वंषिक, मन्त्रिन्, पुरोहित, सेनापति व युवराज। सम्पूर्ण राज्य की तथा राजकर्मचारियों की देख-भाल के लिए गुप्तचरों की भी अच्छी व्यवस्था थी। केन्द्रीय शासन अष्टादश तीर्थों (विभाग) में विभाजित किया गया था, जिसके ऊपरी अधिकारियों को तीर्थाध्यक्ष कहते थे। इन सब पर सम्राट् का वैयक्तिक नियन्त्रण रहता था।

यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि मौर्य-सेना का संचालन तीस सदस्यों की एक 'युद्ध-समिति' द्वारा होता था, जो पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभाजित की गई थी, जिनके आधिपत्य में क्रमशः नौका-सेना, सैनिक सामानादि, पैदल, घुड़सवार, रथ व हाथी की व्यवस्था थी। इस प्रकार मौर्य-सेना सुचारु रूप से संगठित की गई थी। यूनानी लेखकों ने पाटलिपुत्र की व्यवस्था के बारे में लिखा है कि नगर की व्यवस्था तीस सदस्यों की एक समिति द्वारा की जाती थी। इसको भी

पाँच-पाँच सदस्यों की छः उपसमितियाँ थीं, जिन्हें क्रमशः इन कार्यों की व्यवस्था करनी पड़ती थी—विभिन्न उद्योग-धंधे, विदेशियों की देख-रेख, जन्म-मरण का लेखा, वाणिज्य, तैयार किया हुआ माल व बिके हुए माल पर दशांश की वसूली। अर्थशास्त्र से भी नगर की व्यवस्था के सम्बन्ध में पता लगता है। नगर का मुख्य अधिकारी नागरिक कहलाता था। स्थानिक, गोप आदि कर्मचारी उसके हाथ के नीचे काम करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही कर्मचारी थे।

बिन्दुसार (ई० पू० २९८-२७३)—बौद्ध साहित्य में चन्द्रगुप्त के पुत्र व उत्तराधिकारी का नाम बिन्दुसार दिया है, पुराणों में नन्दसार या भद्रसार नाम आता है व यूनानियों ने उसका नाम 'अमित्रघात' लिखा है। बौद्ध साहित्य का नाम अधिक प्रमाणयुक्त माना गया है। इसके राजत्वकाल के बारे में कुछ अधिक नहीं मालूम होता। बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि तक्षशिला में बलवे को दबाने के लिए इसने अपने पुत्र अशोक को भेजा था। इसका सम्बन्ध सेल्युकस निकॉटर से भी था, जिसने अपने दूत डायामेकस को इसके दरबार में भेजा था। मिस्र के राजा टोलेमी-फिलाडेलफोस ने भी डॉयोनिसियस को दूत बनाकर भारत भेजा था। सेल्युकस ने बिन्दुसार से भारतीय दार्शनिकों की भी माँग की थी।

अशोक (ई० पू० २७३-२३२)—बिन्दुसार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक राज्यगद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से उसे तक्षशिला व उज्जयिनी में शासन-कार्य का पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका था। उसके राजत्व-काल के बारे में उसके शिला व स्तम्भों पर के लेखों से बहुत-कुछ मालूम होता है। इन लेखों में वर्ष-गणना अभिषेक के वर्ष से की गई है। सिंहल द्वीप की दन्तकथा के आधार पर इतिहासकार यह मानते हैं कि अशोक का राज्याभिषेक उसके सिंहासनारूढ़ होने के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पू० २६९ वर्ष में हुआ। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में कलिङ्ग को जीता; किन्तु इस विजय ने

उसके जीवन को बिलकुल पलट दिया। कलिङ्ग-युद्ध में अगणित निरपराध जीवों की हत्या का उसके मन पर इतना जबरदस्त असर पड़ा कि उसने भविष्य में राज्य-वृद्धि के लिए रक्तपात को हमेशा के लिए बन्द करने का निश्चय किया, व 'धम्म-विजय' का मार्ग ग्रहण किया, जिसके कारण उसे विश्व के इतिहास में एक अद्वितीय स्थान प्राप्त हो गया।

कलिङ्ग-युद्ध के परिणाम-स्वरूप, अशोक बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित हो गया व उसके कार्य में उत्साहपूर्वक दिलचस्पी लेने लगा। राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में उसने विभिन्न स्थानों की यात्रा की, व ब्राह्मण, श्रमण, वृद्ध आदि जनों को बहुत दान दिया, तथा विद्वानों के संसर्ग से बौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया। यात्रा के पश्चात् उसने अपने कर्मचारियों के लिए आज्ञा जारी की—"मेरे समान तुम लोग धर्म-मार्ग में अधिक उत्साहशील बनो, और मेरी धर्म-आज्ञाएँ शिलाओं व स्तम्भों पर खुदवा दी जायँ।" राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष में उसने अपनी सोलह धर्म-आज्ञाएँ घोषित कीं। इनमें से चौदह गिरनार (काठियावाड़), मानसेरा, शाहबाज़गढ़ी (पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त) आदि स्थानों में चट्टानों पर खुदवाई गईं। इन्हीं में से बारह व अन्य दो उड़ीसा के धौली व जौगड़ा स्थानों में शिलाओं पर अङ्कित की गईं। इसी समय प्रजा के धर्मोत्कर्ष के लिए 'धर्म-महामात्य' के नये पद पर योग्य विद्वानों की नियुक्ति की गई। धर्म-महामात्य की नियुक्ति के पहले ही उसने सब कर्मचारियों के लिए यह आवश्यकीय कर दिया था कि वे प्रति पाँचवें वर्ष दौरे पर जायँ व अपने कार्यों के साथ-साथ धर्म-प्रचार का काम भी करें। इसी समय के लगभग उसने अपने धर्म-प्रचारक सीरिया, मिस्र, सायरिनी, मेसिडोनिया, एपिरस, आदि विदेशों में भेजे थे, जहाँ कि क्रमशः एण्टिऑकस थिऑस, टोलेमी-फ़िलाडेलफोस, मगस, एण्टिगोनस व एलेक्जेण्डर राज्य करते थे। उसके बौद्ध प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करके उन देशों में ईसाई-मत के लिए भूमिका

तैयार की। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि महाद्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। काम्बोज, गान्धार, यवन, भोज, पुलिन्द, पिटेनिक आदि अर्ध सभ्य जातियों में भी धर्म-प्रचारक भेजे गए, साथ ही सिंहल द्वीप में भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया।

यह भी कहा जाता है कि अशोक ने कितनी ही धार्मिक, विशेषकर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित, इमारतें भी बनवाईं। उनकी संख्या ८४००० मानी जाती है। किन्तु इसमें तथ्यांश कितना है यह कहना मुश्किल है। राज्याभिषेक के तेरहवें व बीसवें वर्ष में उसने आजीविकों के लिए बिहार की 'बराबर-पहाड़ी' में वर्षावास बनवा दिए, व पन्द्रहवें वर्ष में कपिलवस्तु के निकट बुद्ध कनकमुनि के स्तूप को सुधरवा दिया। राज्याभिषेक के इक्कीसवें वर्ष में वह बुद्ध के जन्म-स्थान में गया व वहाँ उसने स्मारक-रूप स्तम्भ बनवाए तथा उन पर लेख खुदवाए। अपने राज्याभिषेक के सत्ताईसवें वर्ष में उसने उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में स्तम्भ बनवाकर उन पर अपनी सात धर्म-आज्ञाएँ खुदवाईं। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि अशोक ने काश्मीर में श्रीनगर व नेपाल में देवपाटन आदि नगरों को बसाया। उसके राजत्वकाल में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में तृतीय बौद्ध महासम्मेलन हुआ था, जिसमें बड़े-बड़े बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया था। अशोक के कार्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त विचारों व भावनाओं के कारण, जिनको व्यवहार में लाने में उसने कोई बात उठा न रखी थी, उसका स्थान विश्व के सम्राटों में सर्वोपरि है।

अशोक के धर्म-लेख—अशोक ने अपने लेखों को 'धम्म-लिपि' कहा है। उनकी जो दो प्रतियाँ पेशावर व हजारा जिलों में हैं वे खरोष्ठी लिपि में हैं, बाकी सब ब्राह्मी में। ये लेख स्तम्भ, चट्टान, पर्वत आदि पर खुदे हुए हैं। प्रधान शिलालेख चौदह हैं, और एक के बाद एक ऐसे सब खुदे हुए हैं। सात विभिन्न स्थानों में उनकी पूरी या अधूरी प्रतियाँ मिली हैं; एक आठवीं प्रति और मिली है। सब प्रतियों की इबारत

लगभग एक-सी है। पुरानी सात प्रतियाँ इन स्थानों में मिली हैं—(१) शाहबाज़गढ़ी जिला पेशावर (सीमा प्रान्त) (२) मनसेहरा, जिला हज़ारा (सीमा प्रान्त), (३) कालसी, जिला देहरादून (उत्तर प्रदेश), (४) गिरनार, जूनागढ़ से एक मील पूर्व की ओर (सौराष्ट्र), (५) सोपारा, जिला थाना (बम्बई प्रदेश), (६) धौली, जिला पुरी भुवनेश्वर से सात मील (उड़ीसा), (७) जौगड़ा, जिला गंजाम (उड़ीसा)। आठवीं प्रति अब आन्ध्र के कुनूल जिले में मिली है। धौली व जौगड़ा की चट्टानों पर बारहवें व तेरहवें लेखों के स्थान में दो अन्य लेख हैं, जिन्हें 'कलिङ्ग-लेख' कहा जाता है।

प्रधान स्तम्भ-लेख सात हैं, जो इन स्थानों पर स्थित स्तम्भों पर मिलते हैं—दिल्ली में दो स्तम्भ हैं, जिन्हें फीरोज़शाह तुगलक (ई० स० १३५१-१३८८), अम्बाला (तोपरा) व मेरठ से उठवा लाया था; बिहार के चम्पारन जिले में अरराज नन्दनगढ व रामपुरवा में एक-एक स्तम्भ है, और प्रयाग के किले में एक स्तम्भ है। सात प्रधान स्तम्भ-लेखों में से सातवाँ, जो सबसे लम्बा है, केवल दिल्ली—तोपरा(अम्बाला)—स्तम्भ पर है। प्रयाग-स्तम्भ पर दो गौण लेख भी हैं—एक रानी कारुवाकी का दान-विषयक और दूसरा संघ में भेद डालने के बारे में कौसाम्बी के महामात्यों के नाम। कौसाम्बी वाले उस लेख की एक प्रति भेलसा के निकट साँची (मध्यभारत में भोपाल के पास) में तथा एक सारनाथ (बनारस) में भी है। इन दो के अतिरिक्त दो और गौण स्तम्भ-लेख नेपाल-तराई में स्थित बुटौल जिले में हैं; एक स्तम्भ रुम्मिनदेई में है, जिसका केवल ठूँठ बचा है, और जिस पर यह लिखा है कि "राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष राजा प्रियदर्शी शाक्यमुनि बुद्ध की इस जन्मभूमि में आया।" एक उसके तेरह मील उत्तर-पश्चिम में निगलीवा गाँव के निकट है जिसमें लिखा है कि "कोनाकमन बुद्ध के इस स्तूप को प्रियदर्शी ने दूना करवाया।"

गौण-शिलालेख इन स्थानों पर हैं—(१) रूपनाथ, जिला जबलपुर

(मध्यप्रदेश), (२) सहसराम, जिला शाहाबाद (बिहार), (३), (४) बैराट, जयपुर (मध्यभारत), (५) मास्की, जिला रायचूर (हैदराबाद स्टेट), (६), (७), (८) जिला चीतलद्रुग (मैसूर स्टेट)। इन सबके अतिरिक्त बिहार के गया जिले की बराबर नामक पहाड़ियों की तीन गुफाओं में अशोक के तीन दानसूचक लेख हैं। इस प्रकार उसके कुल तैंतीस छोटे-बड़े धर्म-लेख हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य एक प्रकार से छिन्न-भिन्न हो गया। कुनाल, जलौक, तिवर आदि उसके पुत्रों के बारे में कुछ पता नहीं लगता, केवल उनके नामों का उल्लेख मिलता है। उसके नाती दशरथ का पता बिहार की नागार्जुन की गुफाओं (बराबर-गुफाओं के पास) के लेख से चलता है, जोकि आजीविकों के लिए बनवाई गई थीं। जैनों की दन्तकथाओं से मालूम होता है कि उसका सम्प्रति नामी एक और नाती उज्जयिनी में राज्य करता था। इससे स्मिथ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अशोक के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य के दो टुकड़े हुए। पूर्व में दशरथ व पश्चिम में सम्प्रति राज्य करने लगा, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र और उज्जयिनी थीं। पुराणों से ज्ञात होता है कि मौर्य-वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ अपने सेनापति पुष्यमित्र (पुष्पमित्र) द्वारा मारा गया, और शुङ्गवंश (ई० पू० १८५–७३) की स्थापना हुई। इसके पश्चात् कण्व वंश (ई० पू० ७३-२८) का आगमन हुआ। किन्तु मौर्य-साम्राज्य की बराबरी कोई न कर सका।

मौर्य-साम्राज्य में सांस्कृतिक विकास—मौर्य-काल सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक विकास का समय था। कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, धर्म आदि का पर्याप्त विकास हुआ था। कला के क्षेत्र में अशोक के स्तम्भ, स्तूप, गुफाएँ उल्लेखनीय हैं, जिनका यथास्थान विवेचन किया जायगा।

कुशानवंश (ई० स० ४०-२६०)—यह वंश यूशी नाम की

एक विदेशी जाति का था। इसके संस्थापक केडफिसेस 'प्रथम' (ई० स० ४०-७८) ने हिन्दुकुश के कापिश आदि प्रान्त जीते थे, और इसके पुत्र केडफिसेस 'द्वितीय' (ई० स० ७८-१२०) ने पंजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश आदि भारत के भागों पर अपना राज्य स्थापित किया था, क्योंकि इसके सिक्के इन स्थानों में पाये जाते हैं। इसके पश्चात् कनिष्क (ई० स० १२०-१६०) राजा हुआ। इसके सिक्के भी दूर-दूर तक मिलते हैं तथा इसकी एक मूर्ति बनारस के पास सारनाथ में मिली है। इसने मध्य एशिया के काशगर, यारकन्द, खोटान आदि देश भी जीते थे। इस प्रकार यह एक विस्तृत साम्राज्य का शासक था। यह पूर्णतया भारतीय रंग में रँग गया था। अशोक के समान बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके प्रचार में इसने कोई कसर न उठा रखी। इसके समय में बौद्ध धर्म के तत्त्वों को निश्चित करने के लिए काश्मीर में बौद्ध विद्वानों की एक सभा भी बुलवाई गई थी। इसने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर कितने ही बौद्ध मठ बनवाए थे, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं के रहने की उत्तम व्यवस्था रहती थी। आज भी अफगानिस्तान में इन मठों के खण्डहर पाए जाते हैं। इसके राज्य-काल में 'गान्धार-कला' ने खूब विकास किया। अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वान् भी इसकी छत्र-छाया में रहते थे। इसकी मृत्यु के पश्चात् वाजेष्क, हुविष्क आदि ने राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा का नाम वासुदेव था, जिससे मालूम होता है कि यह वंश पूर्णतया भारतीय बन गया था।

गुप्तवंश (ई० स० ३२०-६०६)—इस वंश का आदि पुरुष श्री-गुप्त था, जिसका उल्लेख इस काल के लेखों में आता है, जहाँ उसे 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया गया है। उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त को भी इसी प्रकार सम्बोधित किया गया है। इससे मालूम होता है कि ये दोनों किसी छोटे-से राज्य पर शासन करते होंगे और किसी के माण्डलिक होंगे। घटोत्कच गुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त 'प्रथम' (ई० स० ३२०-३३०) को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि

इस वंश की राजनीतिक महत्ता चन्द्रगुप्त 'प्रथम' से ही प्रारम्भ होती है। उसने लिच्छवी वंशीय कुमारदेवी से विवाह किया, जिसके परिणाम-स्वरूप गुप्त-वंश का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसने 'गुप्त-संवत्' को भी चलाया, जिसका प्रारम्भ ई० स० ३२० से होता है। उसके राज्य में तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध आदि सम्मिलित थे। उसके पश्चात् उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा।

समुद्रगुप्त (ई० स० ३३०-३७५)—सिंहासन पर बैठते ही समुद्र गुप्त ने विभिन्न प्रदेशों को जीतने का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। उसके प्रयाग-स्थित स्तम्भ-लेख में उसके विभिन्न राजाओं के हराने का वर्णन है। इस लेख से उसकी वैयक्तिक व राजनीतिक महत्ता का अच्छा ज्ञान होता है। इस लेख से मालूम होता है कि उसने उत्तर भारत के दस राजाओं को हराकर उनका राज्य छीन लिया। उसने दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) के लगभग बारह राजाओं को जीता; किन्तु उसने अपना आधिपत्य स्वीकार कराके राज्य लौटा दिए। इनके अतिरिक्त समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमा-राज्य तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक, दैवपुत्र, शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, सैंहलक आदि सब उसके प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस प्रकार उत्तर भारत का सम्पूर्ण प्रदेश उसके प्रत्यक्ष अधिकार में था, जिसका विस्तार पूर्व में ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम में चम्बल तक, उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक था। पूर्वी सीमा के आसाम आदि राज्य, राजपूताना व मालवा के प्रजातन्त्र तथा दक्षिण भारत के लगभग समस्त राज्य उसके प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। पश्चिमोत्तर के विदेशी कुशान राजाओं व सिंहल द्वीप के बौद्ध राजा मेघवर्मा से भी उसका सम्बन्ध था। उनके राजदूत गुप्त-दरबार में रहते थे।

समुद्रगुप्त धार्मिक वृत्ति का था। अपनी विजय के पश्चात् उसने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें ब्राह्मणों को कितना ही दान दिया। इस

यज्ञ की स्मृति में उसने सुवर्ण-पदक भी बनवाए थे। उसके स्तम्भ-लेख से पता लगता है कि वह गायन-कला में निपुण व सिद्धहस्त कवि था। कुछ सोने के सिक्कों पर यह वीणा बजाता हुआ बतलाया गया है। वह धार्मिक साहित्य का भी पठन-पाठन खूब करता था।

चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' 'द्वितीय' (ई० स० ३७५-४१३)—'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के प्राप्त उद्धरणों से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सिंहासन पर बैठा। शकों के आक्रमण से डरकर उसने अपनी रानी शकराज को सौंपना स्वीकार किया। किन्तु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने रानी का रूप धारण करके शत्रु का वध किया, और रामगुप्त को मारकर वह स्वतः राज्य-सिंहासन पर बैठ गया। उसने अपने पिता के पद-चिह्नों पर चलकर मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि राज्य जीते, जहाँ विदेशी शक-क्षत्रप राज्य करते थे। इन राज्यों को जीतने से गुप्त-साम्राज्य का सम्बन्ध विदेशों से स्थापित हो गया। चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की पदवी भी धारण की।

फ़ाहियान का भारत-वर्णन (ई० स० ४०५-४११)—चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के राजत्वकाल में बौद्ध धर्म का अनुयायी चीनी यात्री भारत-यात्रा के लिए आया था। वह यहाँ के विभिन्न भागों में गया व वहाँ पर जो-कुछ देखा व सुना उसको उसने अपनी 'भारत यात्रा' नामक पुस्तक में लिख दिया। उसके वर्णन से मालूम होता है कि उस समय देश बहुत समृद्धिशाली था, शासन-व्यवस्था उत्तम थी और लोगों का नैतिक जीवन भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसने पाटलीपुत्र की समृद्धि व सौन्दर्य का वर्णन किया है, जहाँ अशोक के सुन्दर महल वर्तमान थे। उत्तर भारत में मुफ्त अस्पताल तथा यात्रियों के लिए सराय आदि की अच्छी व्यवस्था थी। उसने मालवा की समृद्धि व सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। फ़ाहियान के मतानुसार उस समय भारत-वासी बौद्धधर्म के अहिंसा आदि सिद्धान्तों को अपने जीवन में ओत-प्रोत करते थे।

कुमारगुप्त, 'प्रथम' (ई० स० ४१३-४५५)—चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के पश्चात् रानी ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमारगुप्त 'प्रथम' सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके राज्य-काल के बारे में अधिक पता नहीं लगता। किन्तु इसके राज्य-काल के अन्त में पश्चिमोत्तर से हूणों का जबरदस्त आक्रमण हुआ, जिसने गुप्त-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र स्कन्दगुप्त (ई० स० ४५५-४६७) सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त को प्रारम्भ से पुष्यमित्रों व हूणों से लड़ना पड़ा और ये युद्ध उसके सम्पूर्ण राज्य-काल में जारी रहे। उसने भी 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य बिलकुल नष्ट हो गया और विभिन्न विभागों में बँट गया।

गुप्त-शासन—गुप्त-राजाओं के स्तम्भ-लेख, ताम्रपत्र मुद्रा, सिक्कों आदि से उनकी शासन-व्यवस्था के बारे में बहुत-कुछ मालूम होता है। समस्त साम्राज्य को विभिन्न विभागों में बाँटा गया था, जिन्हें 'विषय' कहा जाता था। विभागों के सर्वोपरि अधिकारी को साधारणतया 'उपरिक' कहा जाता था। ये शासक अपने-अपने कर्मचारियों की नियुक्ति स्वतः कर लेते थे। केन्द्रीय शासन में राजा सर्वोपरि रहता था, किन्तु उसके मन्त्रि-मण्डल का महत्त्व भी कुछ कम नहीं था। मन्त्रि-मण्डल के सदस्य वंश-परम्परागत रहते थे, जिनमें से कुछ इस प्रकार थे – दण्डग्राहक, संधिविग्राहक, विनयस्थिति-स्थापक आदि। बड़े-बड़े राजकर्मचारियों के चार दर्जे थे—(१) कुमारामात्य, (२) युवराजपदीय कुमारामात्य, (३) श्री युवराजभट्टारकपदीय कुमारामात्य, (४) परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य। कितनी ही मुद्राओं से 'दण्डनायक', 'महाप्रतिहार', 'दण्डपाशाधिकरण' आदि राजकर्मचारियों का पता लगता है। स्थानीय शासन प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर विकसित किया गया था। नगर व ग्रामों में पंचायत द्वारा शासन होता था। श्रेणि, पूग आदि द्वारा समाज के आर्थिक जीवन को भी व्यवस्थित किया गया था। देहातों तक में शासन, न्याय आदि सम्बन्धी सब पत्र सुरक्षित रखे जाते थे।

राज-नियम आदि को लेखबद्ध किया जाता था। लेखन-कार्य करने वाले को 'पुस्तकपाल' कहा जाता था।

सुवर्ण युग—गुप्तकाल को साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म आदि के विकास का सुवर्ण युग कहा जाता है। इस काल में संस्कृति का सर्वांगीण विकास हुआ था। संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त प्रगति की गई थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार कालिदास इसी युग में हुआ था। 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटक भी इसी समय बने। पौराणिक साहित्य ने भी अपना बहुत-कुछ वर्तमान रूप इसी समय धारण किया। 'मत्स्य-पुराण', 'विष्णु पुराण' आदि इसी काल के माने जाते हैं। स्थापत्य, मूर्ति-कला, चित्र-कला आदि का भी खूब विकास हुआ था। अजन्ता व सिग्रिया (सीलोन) की गुफाओं में इस समय की चित्र-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस समय सङ्गीत-कला को भी विकसित किया गया था, जिसमें समुद्रगुप्त स्वतः खूब दिलचस्पी लेता था। गणित, ज्योतिष आदि के क्षेत्रों में भी अच्छी प्रगति की गई थी। इस सम्बन्ध में आर्यभट वराह-मिहिर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मिस्र, रोम आदि से वैदेशिक व्यापार भी खूब बढ़ा-चढ़ा था। धर्म के क्षेत्र में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ था। विष्णु की आराधना विशेष रूप से की जाती थी। गुप्त सम्राट् अपने को 'परम-भागवत' कहते थे। दर्शन के क्षेत्र में सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों का विकास विशेष उल्लेखनीय है।

वर्धन-वंश—(ई० स० ६०६-६४७)—इस वंश का संस्थापक प्रभाकरवर्धन था, जिसने हूणों को मार भगाने के लिए अपने पुत्र राज्य-वर्धन को पंजाब की ओर भेजा था। राज्यवर्धन के गौड़-नरेश शशाङ्क द्वारा मारे जाने पर उसके छोटे भाई हर्ष (ई० स० ६०६-६४७) ने उत्तर भारत के छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर हिमालय व नर्मदा के बीच में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उसने दक्षिण जीतने का भी प्रयत्न किया, किन्तु वहाँ के शासक चालुक्यवंशी पुलिकेशी ने उसे हरा दिया। हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसके राज्यकाल में चीनी

यात्री यूएनच्वेङ् भारत में आया था। उसने हर्ष के राज्यकाल का अच्छा वर्णन किया है। शासन-व्यवस्था अच्छी थी तथा प्रजा सुखी व समृद्धिशाली थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गुर्जर प्रतिहार-वंश—हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत पुनः छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो गया। किन्तु ईसा की नवीं शताब्दी के लगभग कन्नौज का गुर्जरप्रतिहारवंश उत्तर भारत व बिहार में अपना साम्राज्य स्थापित कर सका। इस समय बंगाल में पालवंश शक्तिशाली था। सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

× × ×

दक्षिण भारत—उत्तर व दक्षिण भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त ही प्राचीन-काल से स्थापित हो गया था, जिसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि आर्य-संस्कृति ई० पू० सातवीं या छठी शताब्दी में दक्षिण भारत में फैली। किन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'दक्षिणापथ' 'दक्षिण' आदि का उल्लेख आता है, जिससे पता चलता है कि कदाचित् बहुत पहले से ही दक्षिण भारत ने आर्य-संस्कृति का पाठ पढ़ा था। दक्षिण भारत की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग अभी तक अच्छी तरह से नहीं किया गया, इसलिए दक्षिण भारत की प्राचीनता का स्पष्ट पता नहीं लगता। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर व दक्षिण दोनों कितने ही पहले से एकता के सूत्र में बँध गए थे। उत्तर भारत के राजाओं ने कितनी ही बार दक्षिण को जीतने का प्रयत्न किया; दक्षिण के राजाओं ने भी ऐसा प्रयत्न कभी-कभी किया था।

दक्षिण भारत के विभाग—भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण भारत के दो विभाग किये जाते हैं, जैसे (१) दक्खन, व (२) दूरवर्ती दक्षिण। पहले विभाग के अन्तर्गत नर्मदा के दक्षिण का भाग आता है, जिसमें महाराष्ट्र, रियासत हैदराबाद आदि सम्मिलित किये

जाते हैं। कृष्णा व गोदावरी नदियाँ इसी विभाग में से बहती हैं। दूसरे विभाग के अन्तर्गत कृष्णा व तुङ्गभद्रा नदियों के दक्षिण का भारत आ जाता है। मद्रास (विजगापट्टम व गंजाम के जिलों को छोड़कर) मैसूर, कोचीन, त्रावणकोर आदि राज्य इसमें सम्मिलित किये जा सकते हैं। प्रथम विभाग का जब से व्यवस्थित इतिहास प्रारम्भ होता है, तब से यहाँ पर आन्ध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि वंशों ने राज्य किया।

आन्ध्र वंश (ई० पू० २३०-ई० स०-२२५)—आन्ध्र लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आता है, जहाँ उन्हें विश्वामित्र के भ्रष्ट पुत्रों में सम्मिलित करके दस्यु कहा गया है। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ (ई० पू० ३०० के करीब) ने आन्ध्रों को एक शक्तिशाली राष्ट्र कहा है। अशोक के लेखों (ई० पू० २५६) में भी उनका उल्लेख है पुराणों में आन्ध्र-वंश की विस्तृत वंशावली दी है और कहा गया है कि काण्वायन-वंश के पश्चात् आन्ध्र-वंश ने पाटलीपुत्र में अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु इस वंश के तृतीय राजा सातकरणी का उल्लेख कलिङ्गराज खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख (ई० पू० १७१) में आता है। इससे ज्ञात होता है कि काण्वायनों के पहले से ही यह वंश दक्षिण भारत में शक्तिशाली था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के पश्चात् उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। पुराणों के अनुसार उनका सर्वप्रथम राजा सिमुक था, जिसने कृष्णा के दक्षिणी कछार में स्वतन्त्र आन्ध्र-राज्य की स्थापना की। इस वंश के दूसरे राजा कृष्ण के राजत्वकाल में आन्ध्रराज्य गोदावरी नदी के उद्गम स्थान तक फैल गया। तीसरा राजा श्री सातकर्णी था, जिसका उल्लेख खारवेल के लेख में है। ई० पू० अट्ठाईसवें या सत्ताईसवें वर्ष के लगभग आन्ध्रों ने उत्तर के काण्वायनों का नाश किया। इससे मालूम होता है कि इस वंश का राज्य-विस्तार खूब हुआ होगा। इस वंश के राजा साधारणतया, 'सातकरणी' पदवी धारण करते थे और अपने को 'सातवाहन-वंश' का कहते थे। इसलिए इन नामों की सहायता से किसी

निश्चित राजा का बोध नहीं हो सकता। इस वंश के सत्रहवें राजा हाल का उल्लेख महाराष्ट्री प्राकृत के काव्य 'सप्तशती' के लेखक के रूप में आता है।

आन्ध्रों का विदेशियों से सङ्घर्ष—आन्ध्र-वंश का तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी और चौबीसवाँ राजा वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायी था। उनके राज्यकाल में आन्ध्रों को क्षहरातवंशीय शक-क्षत्रपों से लड़ना पड़ा था, जिनकी शक्ति का विकास दक्षिण भारत में भी होने लगा था। ई० स० ११९ के लगभग गौतमीपुत्र सातकर्णी ने क्षहरात वंश का उच्छेदन किया व उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। गोदावरी का कछार, बरार, मालवा, काठियावाड़, गुजरात व उत्तर कोंकण आन्ध्र-राज्य के विभाग बन गए। गौतमीपुत्र ने शक, पह्लव आदि विदेशियों का नाश करके ब्राह्मण व बौद्ध धर्म को फिर से उन्नत किया तथा ब्राह्मण व बौद्धों को कितना ही दान दिया। ई० स० १२८ के लगभग गौतमीपुत्र का पुत्र वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायी सिंहासन पर बैठा। उसने लगभग तीस वर्ष तक राज्य किया। उसका विवाह उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् 'प्रथम' की कन्या से हुआ था। इस महाक्षत्रप ने अपने दामाद को दो बार हराया व गौतमीपुत्र द्वारा जीते गए सब प्रान्तों को वापस ले लिया। ई० स० १५० तक रुद्रदामन्, ने इस काम को पूरा किया होगा, क्योंकि उस वर्ष उसने गिरनार में अपना एक शिलालेख खुदवाया, जिसमें आन्ध्र-राजा पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी के पश्चात् महत्त्व का राजा, यज्ञश्री (ई० स०-१६६-१९६) हुआ, जिसके कुछ चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो कि शकक्षत्रपों के सिक्कों के समान हैं। इससे मालूम होता है कि कदाचित् उसने क्षत्रपों से कुछ प्रान्त जीतकर पुनः आन्ध्र-राज्य में मिला लिये होंगे। इस प्रकार, पुराणों के अनुसार इस वंश के तीस राजाओं ने लगभग ४६० वर्षों तक राज्य किया।

आन्ध्र राज्य में सांस्कृतिक विकास—आन्ध्र राजाओं के शिला व

गुफाओं के लेखों के सहारे तत्कालीन सांस्कृतिक विकास का स्पष्ट ज्ञान होता है तथा सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति का बोध होता है। इस समय बौद्ध व ब्राह्मण-धर्म की खूब प्रगति हुई थी। दक्षिण की लगभग सब बौद्ध गुफाएँ इसी समय बनवाई गईं और उनमें रहने वाले भिक्षुओं के उदर-निर्वाह के लिए कितने ही गाँव 'दान में दिये गए थे। आन्ध्र राजा स्वतः ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अश्वमेध, गवामयन आदि कितने ही यज्ञ किये तथा ब्राह्मणों को कितनी ही दक्षिणा दी। इस समय भक्ति-मार्ग का जोर था। शिव, कृष्ण (संकर्षण, वासुदेव), इन्द्र, धर्म आदि देवताओं की आराधना की जाती थी। कितने ही शक व अमीरों ने ब्राह्मण-धर्म स्वीकार कर लिया था। आर्थिक दृष्टि से समाज के साधारणतया चार वर्ग थे। पहले में महारथी, महाभोज व महासेनापति थे, जो 'राष्ट्र' (जिला) के ऊपरी थे। दूसरे वर्ग में अमात्य, महामात्य, भाण्डागारिक, नैगम, सार्थवाह, श्रेष्ठिन् आदि थे। तीसरे वर्ग में लेखक, वैद्य, हालकीय (किसान), सुवर्णकार, गान्धिक आदि व चौथे में वर्धकी (बढ़ई), मालाकार, लोहवणिक, दासक (मछुआ) आदि सम्मिलित थे। विभिन्न व्यवसायों को 'श्रेणि', 'पूग' आदि द्वारा व्यवस्थित व सुसंगठित किया गया था। इस समय वैदेशिक व्यापार भी खूब बढ़ा-चढ़ा था। पश्चिम से व्यापारी जहाज लाल सागर से होते हुए भारत के पश्चिमी किनारे के बन्दरस्थानों पर आते थे। इस प्रकार आन्ध्रकाल में पर्याप्त रूप से समाज का आर्थिक विकास हुआ था।

चालुक्य-वंश (ई० स० ५५०—७५३)—आन्ध्रों के पश्चात् दक्खिन के राजनीतिक इतिहास के बारे में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चलता। ईसा की छठी शताब्दी के मध्य भाग में पुलकेशी 'प्रथम' ने इस भू-भाग में चालुक्य (सोलंकी)-वंश की स्थापना की और अपनी राजधानी वातापि (बीजापुर जिले का बादामी) में स्थापित करके राज्य-विस्तार प्रारम्भ किया। उसके पुत्र कीर्तिवर्मा व मंगलेश ने पूर्व व पश्चिम में राज्य का विस्तार किया। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी

'द्वितीय' (ई० स० ६०८–६४२) ने लगभग बीस वर्ष तक लड़कर लाट (दक्षिणी गुजरात), गुर्जर (उत्तर गुजरात व राजपूताना), मालवा, कोंकण आदि देशों को अपनी शक्ति का परिचय दिया। पूर्व में उसने कृष्णा व गोदावरी के मध्यवर्ती वेङ्गी को जीत लिया। चोल, पाण्ड्य केरल आदि दूरवर्ती दक्षिण के राजाओं से भी उसने युद्ध किये। नर्मदा के दक्षिण में निस्सन्देह वह सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। ई० स० ६२० के लगभग उसने हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति को रोक दिया और हर्ष ने अपने साम्राज्य की सीमा नर्मदा को निश्चित कर लिया। प्रसिद्ध चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग उसके दरबार में आया था और उसने उसके राज्य की समृद्धि का सुन्दर वर्णन किया है। ई० स० ६४२ के लगभग पल्लवराज नरसिंह वर्मा ने पुलकेशी को बुरी तरह हराया और कदाचित् उसकी मृत्यु भी इसी युद्ध में हो गई। इसके परिणामस्वरूप लगभग तेरह वर्ष तक चालुक्य-शक्ति का अस्तित्व न रहा, किन्तु ई० स० ६५५ में पुलकेशी 'द्वितीय' के पुत्र विक्रमादित्य 'प्रथम' ने पल्लवों को बुरी तरह हराकर चालुक्य-वंश को पुनः शक्तिशाली बना दिया। किन्तु पल्लवों से चालुक्यों का युद्ध तो जारी ही रहा। ई० स० ७४० के लगभग विक्रमादित्य 'द्वितीय' ने पुनः पल्लव-राजधानी पर अधिकार जमा लिया। ई० स० ७५३ के लगभग प्राचीन राष्ट्रकूट वंश के दन्तिदुर्ग ने विक्रमादित्य 'द्वितीय' के पुत्र व उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा 'द्वितीय' को हरा दिया। इस प्रकार चालुक्य-वंश का अन्त हो गया व दक्षिण की राजनीतिक बागडोर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई और लगभग सवा दो सौ वर्ष तक उन्हीं के हाथ में रही। किन्तु चालुक्य-वंश की उपशाखाएँ पूर्व व पश्चिम के छोटे-छोटे भागों में बहुत समय तक जीवित रहीं।

धार्मिक परिवर्तन—चालुक्य-वंश के दो सौ वर्षों के राज्य में बहुत से धार्मिक परिवर्तन हुए। बौद्ध धर्म की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। ब्राह्मण व जैन धर्म उत्कर्ष की ओर कदम बढ़ा रहे थे। यज्ञादि से

सम्बन्धित कर्मकाण्ड का अच्छा विकास होने लगा और इस विषय के ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। पुराणों में वर्णित धर्म का स्वरूप अधिक लोकप्रिय होने लगा। विष्णु, शिव आदि पौराणिक देवताओं के कितने ही भव्य मन्दिर बनवाये गए। बौद्ध व जैनों की देखादेखी शैव, वैष्णव आदि भी गुफा-मन्दिर बनवाने लगे। मंगलेश चालुक्य द्वारा बनवाया हुआ विष्णु-मन्दिर गुफा-मन्दिर का सुन्दर नमूना है। ई० स० ७३५ के लगभग ज़रतुस्त्र-धर्म के अनुयायी पारसी लोग भी सर्वप्रथम पश्चिम भारत में आकर बसे।

राष्ट्रकूट-वंश (ई० स० ७५३–९७३)—दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसका काका कृष्ण 'प्रथम' सिंहासन पर बैठा। उसने चालुक्य-वंश के अधिकार में जितने प्रदेश थे उन सब पर अपना अधिकार जमा लिया। उसके राज्य काल में इलोरा (हैदराबाद राज्य, औरंगाबाद के निकट) का सुप्रसिद्ध 'कैलाश-मन्दिर' बनवाया गया। इस मन्दिर को पहाड़ में बनाया गया है, जोकि कला का उत्कृष्ट नमूना है। गोविन्द 'द्वितीय' व ध्रुव का राजत्वकाल विशेष महत्त्व का नहीं था। गोविन्द 'तृतीय' (ई० स० ७९३–८१५) ने विन्ध्य पर्वत व मालवा से लेकर दक्षिण में काँची तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके पश्चात् अमोघ-वर्ष (ई० स० ८१५–८७७) ने लगभग बासठ वर्ष तक राज्य किया। वह पूर्व के चालुक्य-राजाओं से हमेशा लड़ता रहा। वह अपनी राज-धानी को नासिक से मान्यखेत (मालखेड़) में ले गया। इस समय दिगम्बर जैन-मत का खूब विकास हुआ। इन्द्र 'तृतीय' (ई० स० ९१४–९१६) ने कन्नौज पर सफल आक्रमण किया। इस वंश का अन्तिम राजा कक्क 'द्वितीय' था, जिसे चालुक्यवंशीय तैलप 'द्वितीय' ने हराया और पुनः चालुक्य-वंश की स्थापना की। इस वंश को कल्याणी का चालुक्य-वंश कहा जाता है। इस वंश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया।

कल्याणी का चालुक्य-वंश (ई० स० ९७३–११९०)—चालुक्य-

वंश के उद्धारक तैलप ने लगभग चौबीस वर्ष तक राज्य किया और उसने गुजरात के अतिरिक्त प्रचीन चालुक्य-राज्य के सब प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया। मालवा के परमार राजा मुञ्ज से उसको बहुत लड़ना पड़ा। उसके पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय राजा बना, जिसके राजत्वकाल में चोलों के राजा राजराज ने चालुक्य-राज्य पर आक्रमण किया। ई० स० १०५२ में चालुक्यराज सोमेश्वर 'प्रथम', जो 'आहवमल्ल' भी कहलाता था, कृष्णा के किनारे चोलराज राजाधिराज से लड़ा। इस युद्ध में चोलराज की मृत्यु हुई। विक्रमादित्य 'षष्ठ' या 'विक्रमाङ्क', जिसके जीवन का वर्णन बिल्हण द्वारा 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में किया गया है, अपने भाई सोमेश्वर 'द्वितीय' को हराकर स्वतः राजगद्दी पर बैठ गया। उसने ई० स० १०७६ से ई० स० ११२६ तक राज्य किया। उसने काँची जीता व दोरासमुद्र (मैसूर) के होयसाल राजा से खूब लड़ाई की। उसकी मृत्यु के पश्चात् चालुक्य-शक्ति क्षीण होने लगी। ई० स० ११५६–६२ के मध्य तैलप 'तृतीय' के सेनापति विज्जन कालचुर्य ने विद्रोह किया और अधिकांश राज्य पर कब्जा जमा लिया। ई० स० ११८३ में चालुक्य-वंशीय सोमेश्वर 'चतुर्थ' ने विज्जन के उत्तराधिकारियों से अपना राज्य छीन लिया, किन्तु थोड़े ही समय के बाद देवगिरि के यादवों ने आक्रमण किया और ई० स० ११९० में कल्याणी के चालुक्य-वंश का अन्त हो गया।

देवगिरि का यादव-वंश (ई० स० ११९०-१३१८)—देवगिरि (हैदराबाद राज्य का दौलताबाद) के यादववंशीय राजा चालुक्यों के सामन्तों के वंशज थे। देवगिरि व नासिक के मध्यवर्ती प्रदेश पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। भिल्लम यादव ने सर्वप्रथम महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। वह ई० स० ११९१ में होयसाल राजा द्वारा युद्ध में मारा गया। सबसे अधिक शक्तिशाली राजा सिंघण था, जो ई० स० १२१० में राजगद्दी पर बैठा। उसने गुजरात व अन्य राज्यों पर आक्रमण करके यादव-राज्य का विस्तार किया। ई० स० १२९४ में

दिल्ली के अलाउद्दीन खिलजी ने इस राज्य पर आक्रमण किया और यादव-राज रामचन्द्र को उसके सामने झुकना पड़ा। ई० स० १३०९ में मलिक काफूर ने पुनः आक्रमण किया और रामचन्द्र को पुनः झुकना पड़ा। इस प्रकार यादव-शक्ति क्षीण हो गई व ई० स० १३१८ में उसका अन्त हो गया। सुप्रसिद्ध संस्कृत लेखक हेमाद्रि रामचन्द्र के राज्य-काल में हुआ, जिसने धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में कितना ही लिखा है।

दूरवर्ती दक्षिण—इस विभाग का ऐतिहासिक विकास शेष भारत के विकास से साधारणतया अलग रहा है। यह पूर्णतया तामिल जाति व भाषा का है। इसलिए प्राचीन काल में इसका अधिकांश भाग 'तामिलकम' (तामिल देश) कहलाता था। प्राचीन काल से ही यहाँ तीन शक्तिशाली राज्य विकसित हुए थे, जैसे पाण्ड्य, चोल व चेर या केरल।

पाण्ड्य-राज्य—आधुनिक मदुरा व तिन्नवल्ली के जिले तथा त्रिचनापल्ली व त्रावणकोर का कुछ भाग इसमें सम्मिलित था। कात्यायन, मेगास्थनीज आदि ने पाण्ड्यों को उल्लिखित किया है। ई० पू० २० के लगभग किसी पाण्ड्य ('पेण्डियन') राजा ने अपने दूत ऑगस्टस सीज़र के राज्य-काल में रोम भेजे थे। रोम-निवासी ऐतिहासिक प्लिनी द्वारा ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में इस राज्य की राजधानी मदुरा या कूदल थी। इसके पूर्व कदाचित् कोरकई नगर अधिक महत्त्वशाली रहा हो।

पाड्य-वंश के राजा—प्राचीन तामिल साहित्य में कितने ही पुराने राजाओं का उल्लेख आता है किन्तु उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। नेदुम-चेलियन ही सर्वप्रथम राजा है, जिसके बारे में तिथि-क्रम की दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। उसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी बताया जाता है, व वह चोलराज नेदुमुदिकिल्लि चेरराज चेंकुत्तुवन व सिंहलराज गजबाहु का समकालीन था। एक शिलालेख से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य से दसवीं

शताब्दी के प्रारम्भ तक के राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका और कोई वर्णन नहीं है। ईसा की आठवीं शताब्दी के अरिकेसरिन् के बारे में कहा जाता है कि उसने पल्लवों को हराया। ईसा की नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा नवगुनवर्मन् को अपराजित पल्लव ने हराया। इस समय चोल-राज्य बहुत ही अशक्त था, इसलिए पल्लवों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की सब जिम्मेदारी पाण्ड्यों पर आ पड़ी थी। ईसा की दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से चोल-शक्ति बढ़ने लगी, जिसके सामने पाण्ड्य-राजाओं को झुकना पड़ा। ई० स० ९९४ में चोलराज राजराजा के समय पाण्ड्यों का राज्य-विस्तार बहुत कम कर दिया गया था, व उन्हें चोलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा था। यह परिस्थिति लगभग दो सौ वर्ष तक रही। ईसा की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाण्ड्यों का उत्कर्ष पुनः प्रारम्भ हुआ।

सांस्कृतिक विकास—पाण्ड्यों के राजत्वकाल में बहुत से धार्मिक परिवर्तन हुए। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रचार प्राचीन काल से ही हो गया था। विभिन्न कलाओं का भी विकास किया गया था। वैदेशिक व्यापार भी खूब उन्नत था। मोती आदि के उद्योग-धन्धे तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोरकाई कायल आदि प्राचीन नगर व्यापार के ज़बरदस्त केन्द्र थे।

केरल-राज्य—केरल का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के लेखों में आता है। प्लिनी, 'पेरिप्लस' के लेखक आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। प्राचीन तामिल साहित्य में, जिसका प्रारम्भ ईसा की पहली शताब्दी से होता है, लिखा है कि केरल राज्य के पाँच 'नाडु' (जिले) थे, जैसे पूली, कुदम, कुदम, वेन वकर्का। ये सब कोनानी नदी से कन्याकुमारी तक फैले हुए थे। तामिल साहित्य में चेन कुट्टुवन आदि राजाओं के नाम-मात्र उल्लिखित हैं। ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोल-साम्राज्य में दक्षिण केरल (त्रावणकोर) सम्मिलित

कर लिया गया था। केरल-राज्य का वैदेशिक व्यापार बहुत चढ़ा-बढ़ा था, व आर्थिक दृष्टि से यह राज्य समृद्धिशील था।

चोल-राज्य—चोलों का उल्लेख भी अशोक के लेखों में है। उनका राज्य जोकि 'चोलामण्डलम्' कहलाता था, पेन्नार व वेलूर नदियों के मध्य पाण्ड्य-राज्य के उत्तर-पूर्व में था। चोलों के प्रारम्भिक इतिहास के लिए संगम-साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है, जिसमें कुछ प्राचीन राजाओं का अस्पष्ट उल्लेख है। पाली भाषा में लिखित 'महावंश' के अनुसार ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य में करिकाल राजा के समय से चोलों का ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होता है। उसने केरल व पाण्ड्यों को हराया था। उसने सिंहलद्वीप पर भी आक्रमण कया था। उसने कावेरीपट्टनम् को बसाकर वहाँ अपनी राजधानी रखी। इसके राजत्व-काल में चोल-शक्ति का खूब विकास हुआ। करिकाल का उत्तराधिकारी उसका नाती नेदुमुदीकिल्ली था। उसके राज्य-काल में चोल शक्ति क्षीण होने लगी। पाण्ड्य, केरल, पल्लव आदि ने चोल-राज्य पर आक्रमण किये। इसके पश्चात् कुछ शताब्दियों तक चोलों का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा। किन्तु ईसा की आठवीं शताब्दी में पल्लवों के पतन के पश्चात् चोल-शक्ति का पुनः उत्थान हुआ। राजा विजयालय ने पल्लवों व पाण्ड्यों के झगड़ों का लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विकास किया व अपनी राजधानी तंजौर में रखी। उसका पुत्र आदित्य ई० स० ८८० में राजा बना व उसने पल्लवों को बुरी तरह से हराया। उसके पुत्र परान्तक 'प्रथम' ने पाण्ड्यों को हराया व उनकी राजधानी मदुरा पर कब्जा कर लिया। उसके राज्य-काल के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूटों ने चोल-राज्य पर आक्रमण शुरू किये, यहाँ तक कि वे लोग काञ्ची व तंजौर तक भी पहुँच गए थे। उत्तरमल्लूर के लेख परान्तक के राज्य-काल के हैं, जिनसे तामिल देश की ग्राम-पञ्चायत आदि प्रथा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

ई० स० ९८५ में जब राजराज सिंहासन पर आया, तब चोल-राज्य

के उत्तर का भय जाता रहा, क्योंकि चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों को हरा दिया था। अब चोल-वंश के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ। राजराज ने अपने राज्य-काल के पहले दस वर्षों में पाण्ड्य-राज्य पर अपना अधिकार मज़बूत किया व केरल-राज्य को जीत लिया। उसने उत्तर दिशा में अपने राज्य की वृद्धि की व वह कलिङ्ग तक भी पहुँच गया। इस प्रकार ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोलों का राज्य समस्त दक्षिण भारत में फैला हुआ था, व सिंहल द्वीप भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया था। राजराज को अपने राज्य-काल के अन्तिम समय में चालुक्यों से भी लड़ना पड़ा। उसने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में भुवनेश्वर का महान् मन्दिर बनवाया। ई० स० १०१२ में राजेन्द्र उत्तमचोल राजा बना। उसने चालुक्यों से लड़ाई की, सिंहलद्वीप पर आक्रमण किया व केरल-राज्य को हराया। ई० स० १०२० में चालुक्यराज जयसिंह 'तृतीय' को हराकर वह उत्तर की ओर बढ़ा व कलिङ्ग कोसल आदि जीतता हुआ बङ्गाल पहुँचा, जहाँ के राजा गोविन्दचन्द्र व महीपाल को भागना पड़ा। इस प्रकार वह गङ्गा नदी तक पहुँच गया व उसने 'गंगाई-कोंडा' की पदवी धारण की। कदाचित् उसने अपनी नौका-सेना मलाया प्राय-द्वीप में भी भेजी थी। उसने चोलापुरम नाम की राजधानी बसाई, जिसमें सुन्दर मन्दिर, महल, नहरें आदि बनवाई गईं। उसने ई० स० १०४२ तक राज्य किया।

राजेन्द्र का पुत्र व उत्तराधिकारी राजाधिराज था। उसे पड़ोस के विद्रोही राजाओं से लड़ना पड़ा, जोकि उससे उसके पिता का बदला लेना चाहते थे। पाण्ड्य, केरल, चालुक्य आदि राज्यों को उसने हराया। इसके पश्चात् उसने अश्वमेधयज्ञ किया व 'जय कोण्ड चोल' की पदवी धारण की चालुक्यों से पुनः युद्ध शुरू हुआ व तुङ्गभद्रा नदी के किनारे कोप्पम की लड़ाई में चोलराज मारा गया। इसके पश्चात् चोल राज्य की बागडोर उसके भाई राजेन्द्र ने अपने हाथों में ली। उसे भी चालुक्यों से लड़ना पड़ा। ई० स० १०६३ में उसकी मृत्यु हो गई व

उसका भाई वीर राजेन्द्र राजा बना। उसे भी चालुक्यों से लड़ना पड़ा। सिंहल के राजा विजयबाहु ने भी चोलों के विरुद्ध विद्रोह किया। ई० स० १०७० में राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् अधिराजेन्द्र राजा बना, व केवल चार वर्षों के पश्चात् उसकी हत्या हुई। इसके पश्चात् चोलों का महत्त्व घट गया।

पल्लव वंश—ईसा की पाँचवीं से नौवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में पल्लव-वंश अत्यन्त ही शक्तिशाली रहा। पल्लव-राज्य के सर्वाधिक विस्तार के समय उसमें चोल-राज्य के पूर्वी किनारे का अधिकांश भाग व आन्ध्र-सातवाहनराज्य का भाग सम्मिलित किया गया था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि पल्लव लोग विदेशी थे।

पल्लव राजा—गुण्टूर जिले में पाये गए पल्लव-वंश के ताम्र-पत्रों से मालूम होता है कि प्राचीन काल में काञ्ची में एक राजा राज्य करता था। उसका राज्य कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। ये ताम्रपत्र प्राकृत में हैं, व ईसा की तीसरी व चौथी शताब्दी के मालूम होते हैं। वह राजा कदाचित् समुद्रगुप्त के स्तम्भ-लेख में उल्लिखित 'काञ्ची का विष्णुगोप' हो। ईसा की छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पल्लव व चालुक्य राज्यस्वाभ वाकि शत्रुओं के समान खूब लड़ते रहे। ई० स० ५७५ के लगभग सिंहविष्णु पल्लवों का राजा था। कहा जाता है कि उसने तामिल देश व सिंहल द्वीप के राजाओं को हराया था। उसका पुत्र व उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्म्मन् 'प्रथम' (ई० स० ६०६-६२५) था, जिसने त्रिचनापल्ली, चिंगलापेट, उत्तर अर्काट, दक्षिण अर्काट आदि जिलों में चट्टानों में मन्दिर खुदवाये। ई० स० ६०६-६१० के लगभग पुलिकेशी 'द्वितीय' ने उसे हराया, व वेङ्गी का प्रान्त चालुक्य-राज्य में मिला लिया। वह पहले जैन था, पश्चात् शैव बन गया।

नरसिंहवर्म्मन 'प्रथम' (ई० स० ६२५-६४५) महेन्द्रवर्म्मन का उत्तराधिकारी था। उसके राजत्वकाल में पल्लव-शक्ति व पल्लव-काल की

कला अपने उत्कर्ष को पहुँच गई थी। उसने चालुक्य राजा पुलिकेशी को हराकर उसकी राजधानी वातापि पर अधिकार कर लिया। ई० स० ६४० के लगभग चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग काञ्ची आया था। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में काञ्ची का अच्छा वर्णन किया है। कितने ही अच्छे-अच्छे मन्दिर उसके राज्य-काल में बनवाये गए। परमेश्वर वर्म्मन के राज्य में चालुक्यों की शक्ति बढ़ी व उन्होंने काञ्ची पर भी अधिकार कर लिया। नंदीवर्म्मन आदि के राज्यकाल में भी चालुक्यों व पल्लवों की लड़ाई चालू रही। अपराजित पल्लव ने पाण्ड्य राजा को हराया, किन्तु चोल राजा ने उसे ही हरा दिया। इसके पश्चात् ई० स० ७४० के लगभग चालुक्यों की विजय के परिणामस्वरूप पल्लवों की शक्ति क्षीण हो गई व उनका स्थान चोलों ने ग्रहण किया। इस पतन के काल में भी पल्लवों ने राष्ट्रकूटों से, जिन्होंने अब चालुक्यों का स्थान ग्रहण कर लिया था, युद्ध जारी रखा। किन्तु धीरे-धीरे उनकी शक्ति का ह्रास हो गया।

● ● ●

राजपूत-वंश—उत्तर व मध्यभारत में ईसा की दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी में विभिन्न राजपूत-वंश शक्तिशाली हुए। दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, कन्नौज के गहरवार, धार के परमार, चित्तौड़ के गहलौत, जोधपुर के राठौर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार पंजाब में भी छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य बन गए थे। ये सब राज्य आपस में लड़ा करते थे। परिणामस्वरूप महमूद गज़नवी, मुहम्मद गौरी आदि मुस्लिम आक्रमणकारियों को पैर जमाने का अच्छा अवसर मिल गया। इस प्रकार ईसा की बारहवीं शताब्दी के पश्चात् भारत में मुस्लिमों के पैर जमने लगे। आधुनिक इतिहासकार यह मान बैठे हैं कि मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीयों के लिए बहुत ही शक्तिशाली थे, व उन्होंने थोड़े ही समय में भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस साम्राज्य को पठान-साम्राज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

किन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। मुसलमानों के भारत में पैर जमाने का यह मतलब नहीं था कि उन्होंने अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था। दिल्ली, आगरा आदि बड़े-बड़े शहरों और उनके आसपास के कुछ स्थानों पर अधिकार कर लेने से साम्राज्य नहीं बन जाता। अकबर के पूर्व कोई भी मुस्लिम राजा भारत में साम्राज्य स्थापित न कर सका था। मुहम्मद तुगलक, अलाउद्दीन खिलजी आदि दूर-दूर तक जाते थे व अपनी विजय-पताका फहराते थे, किन्तु उनकी पीठ फिरते ही जीते हुए प्रदेश पुनः स्वतन्त्र हो जाते थे। यहाँ तक कि मुस्लिम विजेताओं द्वारा नियुक्त प्रादेशिक मुस्लिम शासक भी स्वतन्त्र हो जाते थे। इस काल में भारत का अधिकांश भाग भारतीयों के ही अधिकार में था।

मुस्लिमों से राजपूतों का विरोध—इस समय राजपूत राजाओं ने लगातार मुस्लिमों का विरोध किया। इस समय का इतिहास तो राजपूतों द्वारा किये गए विरोधों से भरा हुआ है। उनकी वीर-गाथाएँ आज भी राजपूतों में गाई जाती हैं। राजपूत रमणियों ने किस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि का आलिंगन करके जौहर-व्रत किया—यह कौन नहीं जानता? इस प्रकार अकबर के समय तक याने ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक सतत वीरतापूर्वक विरोध के कारण मुस्लिम साम्राज्य स्थापित न हो सका। मुस्लिमों के आपसी झगड़े भी इसके कारण हो सकते हैं। अकबर इस पहेली को समझ गया व उसने कूटनीति से काम लिया। जो राजपूत मुस्लिम-तलवार से वश में नहीं किये जा सके, वे अकबर के मीठे व चुपड़े शब्दों पर फिसल गए। जो राजपूत रमणियाँ सतीत्व रक्षा के लिए हँसते-हँसते अग्नि का आलिंगन करती थीं, उन्हीं में से कुछ अब मुगल-हरम की सजावट बन गईं। जहाँगीर, शाहजहाँ आदि मुगल-सम्राटों में माता की ओर से राजपूत-रक्त ही प्रवाहित होता था। जो राजपूत योद्धा 'तुरकड़े' (मुस्लिम) का विरोध करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे, अब उन्हीं में से मानसिंह, जयसिंह, जशवन्तसिंह आदि के समान मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ बन

गए। मुगलों की ओर से जयसिंह का शिवाजी से लड़ने जाना राष्ट्रीय अधःपात का सूचक है। किन्तु ऐसे समय में भी चित्तौड़ के राणा प्रताप ने राजपूतों व स्वतन्त्र भारत की नाक रख ही ली। उसने जीवन-भर अनेकों विपदाओं को झेला, बच्चों को जंगलों में भटकाया, उन्हें घास की रोटी तक नसीब न होती थी, किन्तु फिर भी मातृभूमि की सेवा से मुख नहीं मोड़ा।

मुग़लों का अधःपतन—अकबर द्वारा स्थापित मुस्लिम साम्राज्य राजपूतों व मुस्लिमों के प्रयत्नों का फल था। जब तक उस साम्राज्य के राजपूत-स्तम्भ दृढ़ रहे, तब तक ही वह टिका रहा। जब औरङ्गजेब ने अपनी धर्मान्धता की कुल्हाड़ी से उन स्तम्भों को तोड़ डाला, तब वह साम्राज्य भी एकदम गिरकर टूक-टूक हो गया। इसी धर्मान्धता ने भारतीयों में पुनः राष्ट्रभाव व क्षात्रतेज जागृत कर दिया। पञ्जाब में सिखों ने, राजपूताने में राजपूतों ने, व दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में मरहठों ने मुस्लिमों को हराकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का बीड़ा उठाया। इस काम में उत्तर व दक्षिण में खूब सफलता प्राप्त हुई। दक्षिण में शिवाजी ने औरङ्गजेब के छक्के छुड़ा दिए थे। उसके पश्चात् पेशवाओं ने भी शिवाजी के कार्य को आगे बढ़ाया। माहादजी सिंधिया के समान मरहठों ने दिल्ली जाकर तत्कालीन मुगल-सम्राट् को भी अपनी देखरेख में ले लिया। पञ्जाब में सिखों ने अपने पैर खूब जमाये। पहले तो उन्हें मुगल-शासकों की धर्मान्धता के कारण आत्म-बलि देनी पड़ी; इसके पश्चात् जब स्वतन्त्रता की अग्नि उनके हृदयों में जलने लगी, तब उनका सामना कोई न कर सका। रणजीतसिंह के नेतृत्व में उन्होंने सीमाप्रान्त, सिन्धु के कछार आदि पर अपनी धाक जमा ली।

अंग्रेजों का प्रभुत्व—पोर्चगीज़ फ्रांसीसी आदि यूरोप के लोगों के समान अंग्रेजों ने भी ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से व्यापार के लिए भारत के समुद्र-तट पर बसना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा त्यों-त्यों भारतीय अराजकता में उनकी बन आई। उनके

कुटिल नेताओं ने बङ्गाल, मद्रास आदि में अपना राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में जब तक उन्होंने मरहठों व सिखों को पराजित नहीं किया तब तक भारत के शासक कहलाने की हिम्मत न की। ई० स० १८५८ की क्रान्ति के पश्चात् उनका राज्य समस्त भारत में स्थापित हो गया। साम्राज्य-संस्थापकों के वंशज, क्या अकबर के, क्या शिवाजी के नाम-मात्र को शेष रहे। इस प्रकार इक्ष्वाकु, पुरूरवस, सगर, भरत, मान्धाता, अर्जुन, कार्तवीर्य, राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप, शिवाजी आदि के भारत ने एक नवीन जीवन में पदार्पण किया! भारत में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा व इस प्रकार अर्वाचीन युग का प्रादुर्भाव हुआ।

स्वतन्त्र भारत—अंग्रेजों की शक्ति के बढ़ते ही उसका विरोध भी प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजों ने भी अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए कूटनीति से काम लिया। भारत का निश्शस्त्रीकरण तो उन्होंने पहले ही से कर दिया था। 'बङ्ग-भङ्ग', हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य आदि के द्वारा उन्होंने भारत की स्वातन्त्र्य-भावना को कुचलना चाहा, किन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। भारत की राष्ट्रीय संस्था 'कांग्रेस' की शक्ति बढ़ती ही गई, और उसने 'गरम दल' के नेताओं के नेतृत्व में खूब शक्ति प्राप्त की। पश्चात् महात्मा गांधी के युग-प्रवर्तक नेतृत्व ने कांग्रेस व भारत दोनों का काया-कल्प कर दिया, और विश्व के सामने मानव-व्यवस्था का सच्चा मानवीय दृष्टि-बिन्दु रखा। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक नवजीवन, उल्लास, उत्साह की लहर दौड़ी, और भारत ने बिना हथियार उठाये हुए अपने महान् ऋषि के नेतृत्व में १५ अगस्त १९४७ के दिन सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त किया। उसके पाँच मास पश्चात् अंग्रेजों द्वारा बोये गए विष-वृक्ष के फलस्वरूप नाथूराम गोडसे ने दिल्ली में इस दिव्य आत्मा की हत्या की।

स्वतन्त्र भारत के सामने बड़ी-बड़ी समस्याएँ उपस्थित हुईं। उनमें सबसे बड़ी व जटिल समस्या देशी राज्यों की थी, जिसको सरदार

वल्लभभाई पटेल ने बड़े ही राजनीतिक कौशल से हल किया, व समस्त भारत को एकता के सूत्र में बाँध दिया। किन्तु स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के समय पाकिस्तान व हिन्दुस्तान के रूप में भारत के जो दो टुकड़े अंग्रेजों ने किये, उनके कारण इस देश को महान् क्षति हुई।

५

पारिवारिक जीवन

मानव-जीवन का विकास—यह सृष्टि तथा मानव-जीवन ऐसी पहेलियाँ हैं, जो अभी तक भी बूझी नहीं जा सकीं। मानव-जीवन के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य में निसर्ग-सिद्ध कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उसके विकास का प्रारम्भ होता है। समस्त सामाजिक विकास की जड़ में ये ही संस्कार हैं। आत्मरक्षा, एकत्रित होकर समुदाय बनाकर रहना, प्रेम-भावना, मनोविकार आदि से सम्बन्धित संस्कार मानव-जीवन के विकास के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं।

पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ—यह कहना न होगा कि सामाजिक विकास का प्रारम्भ पारिवारिक जीवन से ही होता है। अतएव पारिवारिक जीवन की जड़ में इन संस्कारों का रहना स्वाभाविक ही है। इस जगत् पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि 'युग्म-भावना' इस सृष्टि के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस तथ्य को 'सांख्य-दर्शन' ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया है। उसके मतानुसार यह संसार प्रकृति व पुरुष का ही खेल है। इस युग्म के दर्शन प्रत्येक स्थल पर हो सकते हैं। दाम्पत्य जीवन के बिना पारिवारिक जीवन दुष्कर ही नहीं, किन्तु असम्भव है। स्त्री व पुरुष एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर एक-साथ रहना सीखते हैं व प्रजा-सर्जन करने लगते हैं। विवाह-

संस्कार इसी का निदर्शन-मात्र है। इस प्रकार परिवार का प्रारम्भ होता है। उपनिषदों में वर्णन आता है कि पहले ब्रह्म अकेला ही था। उसे इच्छा हुई कि मैं अकेला हूँ, बहुत से उत्पन्न करूँ—"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली, ६)। इस प्रकार उसने मानव-सृष्टि का प्रारम्भ किया।

माता-पिता—पारिवारिक जीवन में स्त्री मातृत्व को प्राप्त होती है व पुरुष पिता बनता है। उनके हृदय की बहुत-सी प्रसुप्त भावनाएँ जागृत होने लगती हैं। जिस प्रकार बालक के गर्भ में आते ही माता के स्तनों में दुग्ध की धारा बह निकलती है, उसी प्रकार परिवार के विस्तार व विकास के साथ-साथ माता-पिता के हृदयों में पुत्र-प्रेम, पुत्र के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहन करने की शक्ति, पुत्र के लिए अपूर्व त्याग, स्वार्थ-नियन्त्रण आदि की भावनाएँ भी उभरने लगती हैं। यहाँ तक कि निसर्ग मानव-विकास में सहायता देता है। इसके पश्चात् वह अपने कर्मों से ही उन्नति या अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। जो मानव-समाज इन नैसर्गिक तत्त्वों को समझकर अपना विकास करता है, वह काल-गति के साथ उन्नत बनकर सुसभ्य कहलाता है, व जो इसके विपरीत कार्य करता है, वह असभ्य तथा जंगली कहलाता है।

प्राचीन भारत में पारिवारिक जीवन—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीयों ने पारिवारिक व सामाजिक विकास के अन्तर्भूत नैसर्गिक तत्त्वों को भली भाँति समझकर पारिवारिक जीवन को विकसित किया था। यही कारण है कि वे जीवन के हर एक पहलू का आश्चर्य-जनक विकास कर सके। इस सम्बन्ध में भू-मण्डल का अन्य कोई देश भारत की बराबरी नहीं कर सकता। प्राचीन भारत में मानव-जीवन के सच्चे उद्देश्य को समझकर ही पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित किया गया था। व्यष्टि व समष्टि का सम्बन्ध नैसर्गिक तथा वैज्ञानिक आधार पर निहित था। व्यक्ति को समाज का आवश्यकीय अङ्ग समझा जाता

था। प्रत्येक परिवार समाज का एक घटक समझा जाता था। परिवार के महत्त्व को समाज व उसके संचालक अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए समाज में 'गृहपति' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था।

तीन ऋण—प्राचीन भारत के सुसंस्कृत व्यक्तियों के मन पर पहले ही से ये भाव अङ्कित कर दिए जाते थे कि पैदा होते ही उन पर कितना ही उत्तरदायित्व आ जाता है, वे स्वतन्त्र व निःशृङ्खल नहीं हैं। वे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, त्यों-त्यों उनके कर्तव्य व उत्तरदायित्व भी बढ़ जाते है। उन्हें अपने जीवन में तीन प्रकार के ऋण चुकाने पड़ते थे, जैसे पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण व देव-ऋण। इनमें पितृ-ऋण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित था तथा ऋषि-ऋण व देव-ऋण का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक जीवन से था। ये दोनों पारिवारिक जीवन को जोड़ने वाले पुल के समान थे। यहाँ केवल पितृ-ऋण पर विचार किया जायगा।

पितृ-ऋण व उसका महत्त्व – पितृ-ऋण का मतलब होता है पुत्र पर पिता का कर्ज़। उसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि माता-पिता अपने पुत्र के लिए कितना ही कष्ट उठाते तथा त्याग करते हैं। उसके सुख के लिए वे सब-कुछ न्यौछावर करते हैं; उत्तम शिक्षा देकर उसे विद्वान् व सुयोग्य नागरिक बनाते हैं। इसलिए प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति पर माता-पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्तव्य हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यह ऋण किस प्रकार चुकाया जाय? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन आचार्यों ने दिया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा पिता के ऋण से किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं। यहाँ सन्तानोत्पत्ति केवल बाल-बच्चे पैदा करने का ही मतलब नहीं है, किन्तु सन्तान पैदा करके उसे योग्य शिक्षा देकर समाज का सच्चा नागरिक बनाने का भाव दरसाया गया है। जिस प्रकार हमारे पिता ने उत्तम शिक्षा देकर मन पर अच्छे संस्कार डालकर हमें समाज में ऊँचा स्थान दिलवाया, उसी प्रकार हमारा भी कर्तव्य है कि हम भी पिता बनने पर अपनी जिम्मेदारियां को अच्छी तरह से समझकर अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने में कोई

बात उठा न रखें, जिससे हमारे पुत्रादि भी पिता बनने पर यही काम करें। अपने पिता के ऋण से हम इसी प्रकार मुक्त हो सकते हैं, अन्य कोई मार्ग नहीं है। यदि भाग्यवशात् पिता पितामह बनकर इस आनन्द की घड़ी को देखने के लिए जीवित रहे तो उसके आनन्द का पारावार नहीं रह सकता। उसे इस बात का मीठा अनुभव अवश्य होगा कि मेरा पुत्र मेरे ऋण से अच्छी तरह मुक्त हो गया। इस प्रकार पारिवारिक इतिहास में इस बात का ताँता ही बँध जायगा व सन्तानोत्पत्ति शब्द का यथार्थ भी सिद्ध हो जायगा।

पितृ-ऋण के सिद्धान्त के कारण प्रत्येक परिवार दिन-प्रतिदिन उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है व अपने समाज तथा समस्त मानव-जाति का कल्याण कर सकता है। इस बीसवीं शताब्दी में भारत-वर्ष व अन्य देशों में कोई भी इस सिद्धान्त को समझने की परवाह नहीं करता। इसके विपरीत आजकल के शिक्षित लोग वैयक्तिक व सामा-जिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सन्तति-निरोध के कृत्रिम साधनों का उपयोग करने में अपना गौरव समझते हैं। इस युग में क्या पुरुष, क्या स्त्री—सब ही हर प्रकार के बन्धन तोड़ने के लिए उद्यत हैं। यही कारण है कि साधारणतया प्रत्येक परिवार में स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य आदि का साम्राज्य है व लोग स्वतन्त्र होने के बदले इन मानव-रिपुओं के गुलाम बनते जाते हैं। आज श्रवणकुमार व राम के भारत में ऐसे पुत्र दिखाई देते हैं, जो पिता को ठुकराने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसे कलुषित वातावरण में घर के अन्दर वह स्वर्गीय आनन्द मिल ही नहीं सकता, जो प्राचीन-कालीन गृहस्थियों को प्राप्त था। इस प्रकार पारि-वारिक जीवन में पितृ-ऋण का महत्त्वपूर्ण स्थान भली भाँति समझ में आ सकता है।

पिता के अधिकार—पारिवारिक जीवन में पिता की केवल जिम्मे-वारियाँ ही नहीं थीं, उसके अधिकार भी थे। वह परिवार का मुखिया माना जाता था। उसे 'गृहपति' कहते थे। उसके महत्त्व को राजा भी

मानता था। ऋग्वेद में भी उसकी महत्त्व उल्लिखित है। परिवार व समाज के जीवन में उससे सम्बन्धित 'गार्हपत्य अग्नि' भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। गृहपति की हैसियत से पिता परिवार में सर्वेसर्वा था। आयु, अनुभव, ज्ञान आदि के कारण उसका महत्त्वपूर्ण स्थान व उसके अधिकार सुरक्षित रहते थे। प्राचीन रोम में पिता को पुत्र के ऊपर कितने ही अधिकार प्राप्त थे। परिवार के सब सदस्यों को उसके नियन्त्रण में रहना पड़ता था। पिता अपने पुत्रों के साथ कैसा आचरण करे इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने बहुत-कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध में मनु (मनु० ४।१८) ने कहा है कि पाँच वर्ष तक पिता पुत्र का लाड करे—दश वर्ष तक ताड़न करे, व सोलहवाँ वर्ष लगा कि उसे मित्र समझे। सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुत्र के साथ मित्र के समान व्यवहार करने का आदेश पिता को दिया गया है। इस प्रकार पिता का नियन्त्रण व अधिकार पुत्र को कभी नहीं खलता था। प्राचीन काल में प्रत्येक बालक माता-पिता व आचार्य के नियन्त्रण में रहकर युवावस्था को प्राप्त होता था। उसके जीवन को वे तीनों ही प्रभावित करते थे। इसीलिए उपनिषदों में उसके लिए आदेश है कि 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" (तैत्तिरीय० ७।११।२), अर्थात् माता, पिता व गुरु को देवता के समान समझो।

परिवार में माता का स्थान—परिवार में माता का स्थान पिता के स्थान से भी अधिक ऊँचा व महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। माता पारिवारिक जीवन का केन्द्र थी। माता के इसी महत्त्व को ध्यान में रखकर मनु ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं (मनु० ३।५६)। सबको नौ मास तक माता के गर्भ में रहना पड़ता है, व तत्पश्चात् भी तीन-चार वर्ष तक उसकी गोद में खेलना पड़ता है। माता से बालक का बहुत निकट का सम्बन्ध रहता है। यों तो वह पिता से भी दूर नहीं रहता। किन्तु माता के लिए तो वह हृदय का टुकड़ा है। बालक की सबसे पहली व

सबसे बड़ी शिक्षिका माता ही है। वही अपने बालक को ऊँचे-से-ऊँचा उठा सकती है, व नीचे-से-नीचा गिरा सकती है। वह अपने दूध के साथ उसे अपनी आन्तरिक भावनाएँ भी पिला सकती है। इसीलिए प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन में उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया गया था। माता की हैसियत से उसे अपनी सन्तान को पालने-पोसने से सम्बन्धित सब जानकारी रखनी पड़ती थी। घर में पूरा अधिकार उसी का रहता था। गृहपति को और कितने ही काम करने पड़ते थे। घर की आन्तरिक व्यवस्था वह अपनी पत्नी को ही सौंपता था। इसीलिए वह गृहिणी-पद से भी सुशोभित की गई थी। परिवार के आन्तरिक जीवन का संचालन या परिचालन उसी के हाथ में रहता था। वह प्रत्येक काम में गृहपति को सहायता देती थी। उसके बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता था। यज्ञ करते समय भी उसकी उपस्थिति व सहायता आवश्यक समझी जाती थी। जब उसका पति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह भी उसके साथ जाती व आत्म-तृप्ति करती थी। परिवार के अन्य सदस्यों को पारिवारिक संगठन में बँधकर रहना पड़ता था। हमेशा माता-पिता की आज्ञा मानना उनका परम कर्तव्य माना गया था। धर्म-शास्त्रादि में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है। इस प्रकार परिवार के सब सदस्य यथानियम मर्यादा में रहकर अपने-अपने उत्तरदायित्व व कर्तव्यों को पूरा करते थे।

दैनिक कर्तव्य—धर्म-शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थी को अपने दैनिक जीवन में अमुक निश्चित कर्तव्य करने पड़ते थे। इस सम्बन्ध में गृह्य-सूत्रों में व मनु आदि स्मृतियों में बहुत-कुछ लिखा है (मनु० ४।१-२६०)। इन आचार्यों द्वारा बनाया गया जीवन-क्रम व उसे सञ्चालित करने वाले नियम पारिवारिक जीवन के कर्णधार थे। आजकल भी समाज साधारणतया इन्हीं नियमों से सञ्चालित किया जाता है।

पञ्च महायज्ञ—मनु के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को ब्राह्म मुहूर्त (लगभग साढ़े चार बजे प्रातः) में उठना पड़ता था, और शौचादि के

पश्चात् अपने दिवस के कार्यक्रम को निश्चित करना पड़ता था। दैनिक कार्यक्रम के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि "ब्राह्म मुहूर्त में उठे तथा धर्मार्थ का चिन्तन करे। काय-क्लेश व उनके कारणों तथा वेदतत्त्वार्थ का भी चिन्तन करे। उठने पर शौचादि आवश्यक कार्य करके समाहित होकर पूर्व सन्ध्या का जाप करे और इसी प्रकार दूसरी को भी ठीक समय पर करे" (मनु ४।६२-६३)। "इन सब दोषों के निराकरण के लिए महर्षियों ने गृहस्थियों के लिए पाँच महायज्ञ आयोजित किए हैं। अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ व अतिथि-पूजन नृयज्ञ हैं। इन पाँच यज्ञों को जो यथाशक्ति करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहकर भी सूनादोष से लिप्त नहीं होता। देवता, अतिथि, भृत्य पिता व अपने-आपका जो निर्वपन नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी जीवित नहीं है। अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्य, हुत व प्राशित आदि पाँच यज्ञ कहे जाते हैं। जप अहुत, होम हुत, भौतिक बलि प्रहुत, द्विजाभ्यर्चा ब्राह्म्य हुत व पितृ-तर्पण प्राशित हैं। स्वाध्याय व दैवकर्म में नित्य युक्त रहना चाहिए। दैवकर्म में युक्त इस चराचर को धारण करता है" (मनु० ३।६६-७५)।

इस प्रकार दैनिक कार्यक्रम धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि कर्तव्यों से भरपूर था, और ये कर्तव्य त्याग-वृत्ति में आश्रित थे। ये ही त्यागमय कर्तव्य पंच महायज्ञों के नाम से जाने जाते थे जिनका करना गृहस्थियों के लिए आवश्यक था। पारिवारिक जीवन के दैनिक कार्यक्रम में इन पञ्च महायज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

ब्रह्म यज्ञ—इस यज्ञ का तात्पर्य यह था कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा सतत ज्ञान-वृद्धि में प्रयत्नशील रहना, जिससे इस विश्व की पहेलियाँ सुलझाई जा सकें। ज्ञानोपार्जन का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम से ही हो जाता था, किन्तु सच्ची ज्ञान-पिपासा तो ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् प्रारम्भ होती थी, जबकि अन्तर्चक्षु अच्छी तरह से खुल जाते थे व मौलिकतापूर्ण विचार करने की शक्ति अधिक विकसित हो जाती

थी। इस यज्ञ को अनिवार्य बनाने का यह भी उद्देश्य था कि कोई यह न समझे कि गुरुकुल से लौटकर विवाह आदि के पश्चात् ज्ञानोपार्जन का अन्त हो जाता है, जैसा कि आजकल समझा जाता है। इस प्रकार ब्रह्म यज्ञ में वेद के अध्ययन तथा अध्यापन द्वारा ज्ञान-वृद्धि का समावेश हो जाता है। इस यज्ञ के महत्त्व को समझे बिना इस संसार में किसी प्रकार की उन्नति नहीं की जा सकती। इस यज्ञ को नियमित रूप से करने वाले व्यक्ति अपना, अपने देश का, अपनी जाति का, व समस्त मानव-जाति का कल्याण करके अमरत्व को प्राप्त हो गए। इसी यज्ञ को अपनाकर प्राचीन भारत ने जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने वाले कितने ही महान् पुरुषों को जन्म दिया।

पितृ यज्ञ—इस यज्ञ से साधारणतया मृत पितरों से सम्बन्धित तर्पण आदि का भाव लिया जाता है। इन पितरों की तृप्ति अन्न-बलि आदि से मानी गई है। किन्तु यदि इस यज्ञ पर बारीकी से विचार किया जाय तो इसका गूढ़ रहस्य समझ में आ जायगा। एक विचार-सरणी यह भी है कि इस यज्ञ में ऐसे कर्मों का समावेश हो सकता है, जिनके करने से परिवार को—वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को—पूरा-पूरा सन्तोष प्राप्त हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि वे वृद्ध उस गृहस्थी के घर में ही रहते हों। वानप्रस्थ आदि आश्रम में रहने पर भी उन्हें अपनी सन्तान के कुकर्म, सुकर्म से दुःख-सुख हुए बिना नहीं रह सकता। इस यज्ञ की आवश्यकता इसलिए होती है कि परिवार के वृद्ध व नवयुवकों में विचार-भिन्नता के कारण गृह-कलह न होने पाए। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी एक व्यक्ति अपने कर्तव्यों से उन्मुख हो सकता है जैसा कि आजकल कितने ही स्थानों में देखा जाता है। समाज में अच्छे समझे जाने वाले कितने ही सुशिक्षित व्यक्ति अपने वृद्धों को सन्तोष नहीं दे सकते, इतना ही नहीं वे अपने कृत्यों से उन्हें कष्ट भी पहुँचाते हैं। आज नवयुवक व वृद्धों के मनोमालिन्य तथा झगड़ों की जड़ में भी यही बात है। आजकल के शिक्षित पुत्र अपने वृद्ध माता-पिता के प्रति

तटस्थ वृत्ति धारण करते हैं, व कहीं-कहीं तो स्पष्ट रूप से विरोध भी करते हैं। आश्रम-प्रथा के लोप से वृद्ध व नवयुवक एक ही परिवार में साथ-साथ रहते हैं; उनका दैनिक जीवन गृह-कलह से परिपूर्ण रहता है। इन सब झंझटों को दूर करने के लिए ही भारत के प्राचीन ऋषियों ने पितृ-यज्ञ का निर्माण किया था, जिससे पारिवारिक जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत किया जा सके।

देव यज्ञ—यह तीसरा महा यज्ञ है। स्मृतिकारों ने हवन को देव यज्ञ कहा है। हवन की महिमा आर्ष ग्रन्थों में बहुत-कुछ वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१) में लिखा है कि "अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामः।" अर्थात् स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दैनिक हवन करना उचित है, क्योंकि इससे वायु की शुद्धि होकर वातावरण के दोष नष्ट हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४०–४४)—"दुर्गन्धियुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धियुक्त वायु और जल से आरोग्यता और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। घर में रखे हुए पुष्प, इत्र आदि की सुगन्धि में वह सामर्थ्य नहीं है कि दूषित गृहस्थ-वायु को निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही की सामर्थ्य है कि वह उस वायु और दुर्गन्धियुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकालकर पवित्र वायु का प्रवेश करा देता है। दुर्गन्धि जिस मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होकर वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को जितना दुःख देती है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतनी या उससे अधिक सुगन्धि वायु और जल में फैलानी चाहिए।

अग्नि के महत्त्व को कौन नहीं जानता? मानव-संस्कृति के विकास में जो उसका स्थान रहा है वह और किसी का नहीं है। उसमें पवित्री-

करण की इतनी जबरदस्त शक्ति है कि गन्दी-से-गन्दी चीजें भी उसमें पड़कर शुद्धता को प्राप्त होती हैं। इस तथ्य को समझकर ही भारत के प्राचीन ऋषियों ने अग्निहोत्र करने का आदेश दिया। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही अग्नि के महत्त्व को मान लिया गया है जैसे—"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।"

हवन व वायु-शुद्धि—हवन का सम्बन्ध वायु-शुद्धि से रहने से दैनिक जीवन में उसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि वायु-मण्डल में इतने बारीक-बारीक कीटाणु रहते हैं कि जो देखे नहीं जा सकते और जो विभिन्न रोगों को उत्पन्न करके वायु को दूषित करते हैं। इस दूषित वायु में रहने से मनुष्य को कितने ही संक्रामक रोगों का शिकार होना पड़ता है। इसलिए श्वासोच्छ्वास में शुद्ध वायु का उपयोग करना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। मनुष्य का जीवन अन्न, जल, वायु पर ही निर्भर रहता है। वायु की तो उसे प्रतिक्षण आवश्यकता होती है। वायु का न रहना या दूषित रहना मृत्यु को आमन्त्रण देना है। इसलिए भारत के प्राचीन ऋषियों ने अग्निहोत्र, हवन आदि के रूप में वायु-शुद्धि का एक तरीका ढूँढ़ निकाला। हवन में अग्नि को घृत, कपूर आदि से प्रज्वलित किया जाता है और उसमें घृत, चन्दन, नागरमोथा, अगर तगर आदि कितने ही सुगन्धित द्रव्यों की आहुतियाँ डाली जाती हैं। आहुतियां डालने पर अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, सोम आदि देवताओं के नाम भी लिये जाते हैं। सायं व प्रातः अग्नि में सुगन्धित द्रव्य डालने से जो धुआँ निकलता है वह वायु-मण्डल में फैलकर वायु की सब अशुद्धियों को दूर करके उसे पूर्णतया शुद्ध करता है। इस प्रकार वायु-शुद्धि से परिवार व समाज का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। एक विचार-सरणी यह भी है कि हवन के द्वारा भूमि में अन्न पैदा करने की शक्ति बढ़ती है। हवन से हानिकारक कीटाणुओं का नाश होता है, वायु शुद्ध होती है, जल शुद्ध होता है। वायु में मेघों को धारण करने की

शक्ति बढ़ती है (गीता ३।१४)। शरीर की जीवन धारण करने की शक्ति अर्थात् प्राण शक्ति बढ़ती है।

देव यज्ञ का यह भी मतलब हो सकता है कि समाज में जो देवतास्वरूप महान् आत्माएँ उसके सूत्रधार का काम कर रही हैं, उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर और उनके आदेशों पर चलकर उनके जीवनोद्देश्य को सफल बनाने में सहायक बनना। इस प्रकार देव यज्ञ सम्पादित करने का यही मतलब हो सकता है कि समाज के नेताओं की बातें मानकर उनके आदेशानुसार अपने जीवन को बनाना चाहिए। ऐसा यज्ञ प्राचीन भारत में साधारणतया किया जाता था। जिस समाज में ऐसा देव यज्ञ हो, वह उन्नति के शिखर पर चढ़े बिना नहीं रह सकता।

भूत यज्ञ—चौथा भूत यज्ञ है, जिसे स्मृतिकारों ने बलिवैश्वदेव भी कहा है। मनुस्मृति (३।८४) में लिखा है कि "विधिपूर्वक गृह्याग्नि में वैश्वदेव किये जाने पर ब्राह्मण प्रतिदिन इन देवताओं का होम करे।" बलिवैश्वदेव करने की विधि यह है कि जो-कुछ भोजन बना हो, उसमें से थोड़ा-सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिए तथा डालते समय कुछ विशेष मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। इसके पश्चात् लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में रखे और कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, वायस, कृमि आदि को दे देवे (मनु ३।९२) इस यज्ञ का तात्पर्य यह है कि मनुष्य प्राणी-मात्र के प्रति अपने कर्तव्यों को समझे। जो निराधार हैं या अन्य किसी कारण से उदर-निर्वाह करने में असमर्थ हैं, उनकी भोजन आदि द्वारा सहायता की जाय।

नृ यज्ञ—नृ-यज्ञ, जिसे अतिथि यज्ञ भी कहते हैं, पाँचवाँ महा यज्ञ है। इस यज्ञ के द्वारा अतिथियों की यथावत् सेवा की जाती है। इस यज्ञ का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी अतिथियों के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य को समझे। प्राचीन आचार्यों ने अतिथियों की

विधिवत् पूजा करना लिखा है। किन्तु वे अतिथि साधारण व्यक्ति नहीं होते थे। अतिथि उन्हीं को कहा जाता था, जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, व नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य हों (मनु ३.१०२-११३)। जब ऐसा कोई अतिथि घर पर आये, तब गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उसे उत्तम आसन पर बैठाये, पश्चात् पूछे कि आपको जल या अन्न जिस वस्तु की इच्छा हो, सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न करके और स्वयं स्वस्थ चित्त होकर उसकी हर तरह से आवभगत करे, जिससे कि वह अतिथि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाय।

इन पाँच महायज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना प्राचीन पारिवारिक जीवन का एक विशेष अङ्ग था। इसी से जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता था।

सोलह संस्कार—पारिवारिक जीवन के विकास में सोलह संस्कारों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। परिवार की अनेकों प्रवृत्तियाँ इन्हीं संस्कारों द्वारा संचालित होती थीं। ये सोलह संस्कार इस प्रकार हैं—

(१) गर्भाधान—श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करने के लिए यह संस्कार है। कम-से-कम पच्चीस वर्ष की आयु पुरुष की और सोलह वर्ष की आयु स्त्री की होनी चाहिए तब यह संस्कार किया जाता है। जीवन के उद्देश्य को ध्यान में रखकर, अपने आदर्शों को याद करके एवं उत्तम-उत्तम विचारों को मन में धारण करके, पुरुष सन्तानोत्पत्ति करे, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

(२) पुन्सवन—गर्भ के तीसरे मास के भीतर गर्भ की रक्षा के लिए यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में स्त्री पुरुष प्रतिज्ञा करते हैं कि वे कोई ऐसा कार्य न करेंगे जिससे गर्भ गिरने का भय हो।

(३) सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भ के सातवें या आठवें मास में बच्चे की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिए किया जाता है। इसमें ऐसे साधन किये जाते हैं, जिनसे स्त्री का मन सन्तुष्ट रहे।

(४) जातकर्म — यह संस्कार बालक के जन्म लेते ही किया जाता है। बालक का पिता सोने की सलाई के द्वारा घी व शहद से बालक की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखता है।

(५) नामकरण—बालक के जन्म से ग्यारहवें दिन या एक सौ एकवें दिन, या दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह संस्कार किया जाता है। इसमें बालक का नाम रखा जाता है।

(६) निष्क्रमण—यह संस्कार बालक के जन्म से चौथे महीने में, उसी तिथि को जब बालक का जन्म हुआ हो, किया जाता है। इसका उद्देश्य बालक को उद्यान की शुद्ध वायु का सेवन तथा सृष्टि के अवलोकन का प्रथम पाठ है।

(७) अन्नप्राशन—छठे या आठवें महीने में जब बालक की शक्ति अन्न पचाने की हो जाय, तब यह संस्कार किया जाता है।

(८) चूड़ाकर्म—इसे मुण्डन-संस्कार भी कहते हैं। यह पहले अथवा तीसरे वर्ष में बालक के बाल काटने के लिए किया जाता है।

(९) कर्णवेध—इसमें बालक के कान बेधे जाते हैं। यह संस्कार तीसरे या पाँचवें वर्ष में किया जाता है।

(१०) उपनयन—जन्म के सातवें वर्ष से लेकर चौदहवें या सोलहवें वर्ष तक लड़के को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था, और उसे गुरु के घर विद्याभ्यास करने के लिए जाना पड़ता था।

(११) वेदारम्भ—उपनयन-संस्कार के दिन या उससे एक वर्ष के भीतर गुरुकुल में वेदों का आरम्भ गायत्री मन्त्र से किया जाता था।

(१२) समावर्तन—यह संस्कार ब्रह्मचर्य-व्रत की समाप्ति पर किया जाता था।

(१३) विवाह—विद्या-समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए गुणशील-सम्पन्न कन्या के पाणिग्रहण द्वारा यह संस्कार सम्पन्न होता था।

(१४) वानप्रस्थ—इसका समय पचास वर्ष की आयु के उपरान्त

था। जब घर में पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब गृहस्थ के धन्धों में फँसे रहना धर्म नहीं है। उस समय वानप्रस्थ की तैयारी के लिए यह संस्कार किया जाता था।

(१५) संन्यास—वानप्रस्थ में रहकर जब इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो, किसी के लिए मोह, शोक आदि न रहे, तब केवल परोपकार के हेतु संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के लिए यह संस्कार किया जाता था।

(१६) अन्त्येष्टि—मनुष्य के शरीर का यह अन्तिम संस्कार था, जो मरने के पश्चात् शव को जलाकर किया जाता था।

प्राचीन भारत के द्विज-परिवारों में इन संस्कारों का किया जाना आवश्यक समझा जाता था। जो पुरुष इन संस्कारों से वञ्चित रहते थे, साधारणतया समाज से उनका बहिष्कार किया जाता था (मनु. २।३९-४०)। आज भी इनमें से कुछ संस्कार बचे हैं; जैसे विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, चूड़ाकर्म, कर्णबेध, उपनयन आदि। किन्तु इनका स्वरूप विकृत हो गया है तथा ये धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं। यदि इन संस्कारों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि मानव-जीवन को परिष्कृत व संस्कृत बनाने के लिए ये आवश्यक हैं।

यम-नियम—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन में कुछ अन्य कर्तव्य-कर्म भी थे, जिनमें यम-नियम का पालन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति (४।२०४) में लिखा है कि "बुद्धिमान पुरुष सदा यमों का पालन करे, नित्य नियमों का ही पालन न करे। क्योंकि जो यमों को नहीं पालता और केवल नियमों को पालता है, वह पतित होता है।" ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर स्वभाव और इन्द्रिय-दमन—ये दस यम हैं। स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह, गुरु-सेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद ये दस नियम कहे गए हैं। प्राचीन भारत में इन सबका यथावत् पालन पारिवारिक और वैयक्तिक सौख्य के लिए

आवश्यक समझा गया था। मनुष्य के दैनिक जीवन में इनके पालन की कितनी आवश्यकता है यह तो कोई भी विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इनको न पालने से पारिवारिक सौख्य जाता रहता है, तथा क्लेष व कलह की मात्रा बढ़ जाती है, जिसका समाज पर दुष्परिणाम हुए बिना नहीं रहता। ये यम-नियम मानव-जीवन को नियन्त्रित करने में समर्थ होते हैं, जिससे कि वह उन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो पाता।

वर्ण-धर्म—प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने-अपने वर्ण-धर्म के अनुसार वेद-पठन-पाठनादि, देश-समाजादि की रक्षा, कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि कार्य करे।

संयुक्त परिवार—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन की आधार-शिला संयुक्त परिवार-प्रथा थी। इसके अनुसार परिवार के सब व्यक्ति एक-साथ रहते थे। उनका खान-पान, रहन-सहन आदि सब इकट्ठा ही होता था। जहाँ विश्व-मातृत्व का पाठ सिखाकर स्वार्थ-वृत्ति का विरोध किया जाता हो, वहाँ इसी प्रथा द्वारा पारिवारिक जीवन का सञ्चालित किया जाना आवश्यक है। क्योंकि निसर्गतः मनुष्य एक सामाजिक जीव है। एकत्रित रहना उसका स्वभाव ही है। इसलिए पाश्चात्य जगत् से आजकल जो पृथक् परिवार-प्रथा समाज में घुस रही है, वह पूर्णतया अस्वाभाविक है। उसमें स्वार्थ की मात्रा अधिक है। वहाँ 'अहम्' का ही प्राधान्य रहता है। मेरा घर, मेरे बच्चे, मेरी स्त्री, मेरी दौलत, मेरा सब-कुछ, अपने अन्य भाइयों से मुझे कोई मतलब नहीं, वृद्ध माता-पिता से कोई वास्ता नहीं आदि भावनाओं पर पृथक् परिवार-प्रथा अवलम्बित रहती है। इसके समर्थन में बहुधा यह कहा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से यह ठीक है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत में आर्थिक दृष्टि ही सब-कुछ नहीं थी। अन्य दृष्टियाँ उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वहाँ तो प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से लदा रहता था। उसे अपने निर्दिष्ट मार्ग तक पहुँचना पड़ता था। आजकल के समान उसका जीवन उद्देश्यरहित न था। ऋग्वेद (१०।

१६१-१६२) ने संयुक्त परिवार के मर्म को इन शब्दों में समझाया है— "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।" अर्थात् "मनुष्यों को एक साथ चलना चाहिए, एक-साथ बोलना चाहिए और एक-दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिए ।" आजकल संयुक्त परिवार-प्रथा इसलिए दोषपूर्ण मालूम होती है कि सामाज का ढाँचा बिलकुल बदल रहा है । आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने पारिवारिक जीवन को खूब प्रभावित किया है । बेकारी के मसले ने तो इस प्रथा को भार-रूप ही बना दिया है । इसलिए परिवार के प्रत्येक सदस्य में स्वार्थ की मात्रा बढ़ती दिखाई देती है । यथार्थ में मानव-जीवन की उन्नति संयुक्त परिवार-प्रथा को अपनाने से ही हो सकती है ।

पारिवारिक जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि—प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता चलता है कि उसकी जड़ें ऋग्वेद तक पहुँची हैं । गृहपति और ग्रामणी का महत्त्वपूर्ण स्थान इस बात की साक्षी देता है । पंच महायज्ञ, संस्कार, यम-नियम, वर्ण-धर्म आदि मानव-जीवन को सञ्चालित करने वाले तत्त्व वैदिक काल में भी वर्तमान थे । ब्राह्मण, उपनिषादि ग्रन्थों से भी पारिवारिक जीवन का पता चलता है, किन्तु गृह्य-सूत्र, धर्म-शास्त्र आदि से तो पारिवारिक जीवन का स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है । प्राचीन काल में जो विदेशी भारत में आए उन्होंने यहां के पारिवारिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । मेगस्थनीज़ आदि यूनानी लेखकों ने भारतीयों की सत्यनिष्ठता, धार्मिक वृत्ति, आकर्षक व्यक्तित्व व उनके उत्कृष्ट पारिवारिक जीवन की प्रशंसा की है । इसी प्रकार चीनी यात्री फाहियान, यूएनच्वेङ्ग आदि ने भी लिखा है ।

समय की गति से भारत का पारिवारिक जीवन धीरे-धीरे बिगड़ने लगा, क्योंकि लोग सन्मार्ग और सत्य-सिद्धान्तों से बिछुड़ने लगे । इस उन्मार्ग-प्रवृत्ति ने पारिवारिक जीवन के पावित्र्य को नष्ट करके उसे दूषित करना प्रारम्भ कर दिया । महाभारत-युद्ध, जिसने भारत की प्राचीन

संस्कृति का लगभग संहार ही कर दिया था, इसी प्रवृत्ति का फल है। पुराणों में किये गए कलि-वर्णन में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। पुराणों ने कलियुग का इतना अच्छा चित्र खींचा है कि उसको ध्यान-पूर्वक पढ़ने से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार दोषों के प्रादुर्भाव से पारिवारिक जीवन के आधार-स्तम्भ धीरे-धीरे खिसकने लगे। परिणामतः पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

उपसंहार—इस प्रकार प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन के महत्त्व और उसकी विशेषताओं को समझा जा सकता है। वह पारिवारिक जीवन ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की आधार-शिला पर खड़ा था। वे आदर्श ऐसे थे, जिनसे मानव-जाति का ही नहीं, अपितु प्राणी-मात्र का कल्याण हो सकता था। पंच-महायज्ञ, यम-नियम, तीन ऋण आदि पारिवारिक सौख्य के महा मन्त्र थे, आज भी जिनके अपनाये जाने पर गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदि पर जो विशेष जोर दिया गया है, उससे पारिवारिक जीवन की विशुद्ध नैतिकता का पता लगता है। सोलह संस्कारों ने तो, जिनकी वैज्ञानिकता और आवश्यकता किसी से छिपी नहीं है, इस जीवन को और भी अधिक व्यवस्थित और सुन्दर बना दिया था। ऐसे ही पारिवारिक जीवन के कारण प्राचीन भारत स्वर्ग-स्थल कहलाता था।

६

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली

उद्देश्य—मानव-जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों को, जिनकी पूर्ति भारतीय संस्कृति का ध्येय था, ध्यान में रखकर प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का विकास किया गया था। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस जगत् और जीवन की गुत्थियों को सुलझाना ही मानव-जीवन का महान् कर्तव्य समझा था, न कि आजकल के समान स्वार्थ से अन्धे होकर एक-दूसरे पर पाशविक साम्राज्य स्थापित करके मानवता पर कुठाराघात करना। उन ऋषियों ने यह भली भाँति जान लिया था कि यदि मृत्यु के रहस्य को समझ लिया जाय तो इस संसार के कितने ही दुःखों का एकदम अन्त हो सकता है। वे ऋषि आत्मा व परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवन-मरण की जटिल समस्याएँ समझाने में ही अपना जीवन बिता देते थे। इस सम्बन्ध में बहुत-से सत्य सनातन सिद्धान्त एवं तत्त्व भी उन्होंने समझे और ढूँढ़े थे। इस प्रकार उन्होंने मानव-जीवन को पाशविकता के गर्त में से निकालकर विशाल एवं उदात्त उद्देश्यों से युक्त कर दिया था। इन उदात्त उद्देश्यों की पूर्ति भी योग्य व्यक्तियों द्वारा ही हो सकती है। इस योग्यता को प्राप्त करने के विचार से ही शिक्षा-प्रणाली विकसित की गई थी और आश्रम-व्यवस्था का आयोजन किया गया था। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य की निसर्ग-सिद्ध शक्तियों का सम्यक् विकास करके उसे सच्चे अर्थ में मनुष्य

बनाना था, जिससे वह जीवन की पहेलियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

ब्रह्मचर्याश्रम—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत जो ब्रह्मचर्याश्रम है, उसका शिक्षा-प्रणाली से विशेष सम्बन्ध है। इस आश्रम का विकास अत्यन्त ही प्राचीन काल से हुआ था। अथर्ववेद (११।५) में इसके विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। उसमें ब्रह्मचारी, आचार्य, समिध्, भैक्ष्य, मेखला, ब्रह्मचर्यादि का स्पष्ट उल्लेख आता है। अथर्ववेद के इस वर्णन को पढ़कर तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के स्वरूप एवं उद्देश्य का पता लगता है। उक्त वेद में लिखा है कि "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।" अर्थात् "ब्रह्मचर्य और तप से देवता लोग मृत्यु को भी मार डालते हैं।" (अथर्ववेद ११।५।१९) इस प्रकार ब्रह्मचर्य द्वारा मृत्यु का भी हनन किया जा सकता है। दुनिया में कदाचित् ही कोई संस्कृति ऐसी हो, जिसने अपनी शिक्षा का उद्देश्य इतना ऊँचा बनाया हो। प्राचीन भारतीयों के सामने यही आदर्श रहता था कि ब्रह्मचर्य व तप को प्राप्त करके उनकी सहायता से मृत्यु के हनन द्वारा वे अमरत्व को प्राप्त हों। इसी में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का रहस्य छिपा हुआ है। इस महान् उद्देश्य को कार्यरूप देने के लिए वर्ग-चतुष्टय का आयोजन किया गया था, जिसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि नामों से जाना जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम में इस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, जिससे इन चारों को सिद्ध करने का सामर्थ्य प्राप्त किया जा सके। इसके अतिरिक्त इस आश्रम में मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए भी पूरा-पूरा स्थान था। इसी आश्रम में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि शक्तियों के विकास का श्रीगणेश होता था; क्योंकि जब तक ऐसा विकास नहीं किया जाता, तब तक मानव-जीवन के उदात्त उद्देश्यों की पूर्ति भी नहीं हो सकती। प्राचीन काल का विद्यार्थी केवल विद्यार्थी ही नहीं था, किन्तु वह ब्रह्मचारी भी कहाता था। उसके विद्याध्ययन का काल ब्रह्मचर्याश्रम कहाता था। 'ब्रह्मचारी', 'ब्रह्मचर्य' शब्दों का तात्पर्य

यह है कि वह व्यक्ति या ऐसा जीवन जिसमें 'ब्रह्म' याने 'सत्य' को खोजने की एक धुन-सी लगी हो। इसलिए ब्रह्मचारी को ऐसा जीवन-क्रम बनाना पड़ता था, जिससे सत्य की खोज की जा सके।

ब्रह्मचारी का जीवन—प्राचीन काल में प्रत्येक बालक के मन पर यह भाव अङ्कित कर दिया जाता था कि वह समाज का एक घटक है; वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। दुनिया में आते ही उस पर माता का ऋण, पिता का ऋण और आचार्य का ऋण लद जाता है। इन ऋणों को चुकाने का सामर्थ्य वह ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त करता था। इस प्रकार सात या आठ वर्ष के बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट कराया जाता था। आचार्य या गुरू द्वारा उसे इस आश्रम की दीक्षा मिलती थी। इसी अवसर पर उसका यज्ञोपवीत या उपनयन-संस्कार होता था, जब कि उसे यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार मिलता था। इसके पश्चात् उसे गुरू के आश्रम में रहकर ही विद्याभ्यास करना पड़ता था। कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक उसका वहाँ रहना अनिवार्य था। यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी गुरू के परिवार का सदस्य बन जाता था। उसके विद्याभ्यास के स्थान को 'गुरुकुल' कहते थे। वहाँ गुरु और शिष्य में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता था। सत्य, तप, त्याग आदि की मूर्ति गुरु के सच्चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव कोमल हृदय ब्रह्मचारियों पर पड़े बिना नहीं रहता था। प्राचीन भारत के इस नंगे फकीर के पास रहकर सम्राट् का पुत्र अपने राजसी ठाट-बाट और ऐश्वर्य को भुला देता था, व रङ्क का पुत्र अपने ऐहिक अकिञ्चनत्व को भूलकर अपनी निसर्ग-सिद्ध सम्पत्ति को पहचानकर अपने अस्तित्व को समझ लेता था। आजकल के समान नीच, ऊँच, धनिक, गरीब आदि के भाव इन गुरुकुलों में पैदा ही न होने पाते थे। ये गुरुकुल स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयुक्त स्थान में ही होते थे। जंगल में किसी नदी के किनारे या किसी छोटे-से गाँव के निकट ये रहते थे, जहाँ सरलता से निसर्ग की कृति का साक्षात्कार हो सकता था। प्रकृति देवी की

गोद में बैठकर गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपनी निसर्ग-सिद्ध शक्तियों का विकास करते थे। वहाँ का वातावरण शुद्ध रहता था। जहाँ शुद्ध जल-वायु प्राप्त हो और शहरों की गन्दगी कोसों दूर हो वहाँ किसका स्वास्थ्य न सुधरेगा? ऐसे शुद्ध वातावरण में रहकर ब्रह्मचारी विद्याभ्यास करते थे।

मनु (मनु० २।४६—२४६) के अनुसार ब्रह्मचारी के लिए एक निश्चित चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड, वसन आदि विहित थे, जिनका उपयोग व्रतों के समय भी होता था। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी गुरु के घर में रहता हुआ नियमों का पालन करे। नित्य स्नान करके देवर्षि-पितृ-तर्पण करके उसे देवताभ्यर्चन और समिधाधान करना चाहिए। मधु, मांस, गन्ध, माल्य, रस, स्त्री, प्राणी-हिंसा आदि उसके लिए वर्जित थे। सर्वत्र अकेला ही सोवे और कभी भी वीर्य-पात न होने दे। सायं-प्रातः अग्निहोत्र करे और भिक्षा भी माँग लावे। हमेशा अध्ययन में दत्तचित्त रहे, चाहे गुरू कहे या न कहे। मुण्ड, जटिल या केवल शिखाधारी रहे। पवित्र स्थान में सायं-प्रातः सन्ध्या करे। हमेशा सद्वृत्त धारण करने की चेष्टा करे। इस प्रकार जो विप्र अविप्लुत ब्रह्मचर्य धारण करता है, वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि हम मनु द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य-जीवन के नियमों पर अच्छी तरह से विचार करें, तो हमें प्राचीन-कालीन ब्रह्मचारी के दैनिक जीवन का अच्छा ज्ञान हो सकता है। उसे प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त (प्रातः ४-३० या ५ बजे) में उठकर शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासन, हवन आदि करने पड़ते थे। इसके पश्चात् समिधाहरण या भैक्ष्य के लिए जाना पड़ता था। कदाचित् भैक्ष्यचर्या का समय दोपहर का था। तत्पश्चात् गुरु के पास बैठकर विद्याभ्यास करना पड़ता था। भोजनोपरान्त कुछ विश्राम करने के पश्चात् पुनः विद्याभ्यास में ध्यान देना पड़ता था। उसे इन्द्रिय-निग्रह का व्रत बड़ी कड़ाई से धारण करना पड़ता था और हर प्रकार से गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती

थी। इस प्रकार पवित्र और शुद्ध कर्मों द्वारा गुरुकुल के स्वास्थ्यप्रद वातावरण में ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों का अच्छी तरह से विकास कर पाता था।

विभिन्न विद्याओं का अध्ययन—प्राचीन भारत में जो विभिन्न विद्याओं व शास्त्रों का आश्चर्यजनक विकास हुआ था, उससे स्पष्ट है कि उन विद्याओं व शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन आदि की भी व्यवस्था अवश्य रही होगी। गृह्यादि सूत्रों व स्मृत्यादि शास्त्रों में गुरुकुल के पाठ्यक्रम में वेद के पठन-पाठन को ही सम्पूर्ण महत्त्व दिया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि इन गुरुकुलों में वेद-पठन के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं था। यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। वेद के सम्यक् समझने के लिए ही छन्द, व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, ज्योतिष, कल्प आदि विभिन्न विद्याओं तथा शास्त्रों को पढ़ना पड़ता था। यज्ञविधि आदि समझने के लिए शुल्वादि सूत्रों का पाठन होता होगा, जिनमें रेखागणित का उपयोग किया गया है। गणित आदि विद्या का ज्योतिष से सम्बन्ध है। अतएव यह स्पष्ट है कि वेद-पठन के लिए भी विभिन्न विद्याओं का पठन अनिवार्य-सा ही था। इस प्रकार यद्यपि वेदाध्ययन, यजन, याजन आदि पठन-पाठन के आवश्यकीय अंग थे, तथापि अन्य विद्याएँ भी पढ़ाई जाती थीं, जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में आता है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में एक स्थान पर महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर ऋषि नारद कहते हैं—"हे भगवन्, मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों के अर्थ-विधायक ग्रन्थ, पितृ-विद्या, राशि-विद्या, दैव-विद्या, निधि-विद्या, वाकोवाक्य-विद्या, एकायन-विद्या, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या और सर्प-देवजन-विद्याओं का अध्ययन किया है।" इन विद्याओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'इतिहास-पुराण' याने आधुनिक इतिहास; 'वेदानां वेद', अर्थात् वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जायँ, जैसे व्याकरण, निरुक्त आदि; 'पित्र्यम्' अर्थात् पितर-सम्बन्धी विद्या,

जिसको 'मनुष्य-शास्त्र' (Anthropology) कह सकते हैं; 'राशिम्' अर्थात् गणित-विद्या; 'उत्पात-विद्या', जैसे भूकम्प, वायु-कोप आदि (Physical Geography); 'निधिम्' अर्थात् खानों की विद्या (Minerology); 'वाकोवाक्यम्' अर्थात् तर्कशास्त्र (Logic); 'एकायनम्' अर्थात् नीति-विद्या (Ethics); 'ब्रह्मविद्याम्', जिसमें ब्रह्म की व्याख्या की हो; 'भूतविद्याम्' अर्थात् प्राणियों के प्रकार, उनका वर्णन तथा उनकी रचना आदि की विद्या (Zoology Anatomy etc.); 'क्षत्रविद्याम्' अर्थात् धनुर्विद्या व राज्य-शासन-विद्या; 'नक्षत्रविद्याम्' अर्थात् ज्योतिष; 'सर्पदेवजनविद्याम्' का तात्पर्य ठीक ज्ञात नहीं होता, परन्तु सम्भव है कि इसमें सर्पों के विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो। सम्भव है कि इस व्याख्या से कहीं-कहीं विद्वानों का मतभेद हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। साधारणतया, ब्रह्मचर्याश्रम तो एक प्रकार से अनिवार्य शिक्षा-क्रम का एक नमूना है, जैसा कि आजकल कहीं-कहीं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का आयोजन किया गया है। गुरुकुल-जीवन में तो मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य बनता था। उसके पश्चात् जो जिस काम को करना चाहता था, उसका ज्ञान प्राप्त करता था। राजकुमार को राजधर्म धनुर्वेद आदि सिखाये जाते थे, और वैश्य या शिल्पकार का पुत्र अपने-अपने धन्धे का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता था। विभिन्न उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित जो श्रेणि, यूग आदि संस्थाएँ थीं, उनमें विभिन्न व्यवसायों की व्यावहारिक शिक्षा देने की व्यवस्था रहती थी।

गुरुकुल-जीवन की विशेषता—इस गुरुकुल-जीवन की विशेषता यह थी कि उसमें पद-पद पर उदात्त भाव दृष्टिगोचर होते थे। गुरुकुल में प्रवेश करते ही प्रत्येक बालक को ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा आदि के भाव भुला देने पड़ते थे और बालपन से ही अपने कोमल हृदय पर समता का भाव अंकित करना पड़ता था! गृहस्थाश्रम में प्रवेश

करने के पश्चात् वह इस भाव को समाज में फैलाता था, जिससे समाज का बड़ा हित होता था। सेवा-वृत्ति भी गुरुकुल-जीवन की विशेषता थी। गुरुकुल के प्रत्येक ब्रह्मचारी को स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आचरण करना पड़ता था। अपना सब काम अपने ही हाथों कर उसे गुरु की सेवा भी करनी पड़ती थी। यज्ञ, हवन आदि के लिए जंगल से समिध् लानी पड़ती थी तथा निकट के गाँवों में से जाकर भिक्षा माँगनी पड़ती थी। भिक्षाचरण से ब्रह्मचारी के हृदय पर नम्रता व विनयशीलता के भाव अंकित होते थे। उसे अपना जीवन पूरा सादगी का रखना पड़ता था, और इन्द्रियलोलुपता को उत्तेजित करने वाली भड़कीली वेश-भूषा, तैल-मर्दन आदि शृङ्गार-सामग्री से दूर रहना पड़ता था।

गुरुकुल-जीवन से लाभ—गुरुकुल-जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया था कि उससे प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता था। शुद्ध वातावरण, नियमबद्धता आदि के कारण शरीर पुष्ट रहकर उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता था। जंगल की शुद्ध वायु में रहकर, ब्राह्ममुहूर्त में उठना, शौचादि से निवृत्त हो स्नान, सन्ध्या करना, केवल यही जीवन-क्रम शरीर को पुष्ट बनाने में समर्थ है; फिर इन्द्रिय-निग्रह व्यसनों से दूर रहना, जीवन को सादा रखना आदि बातें सोने में सुगन्ध का काम करती थीं। कम-से-कम पन्द्रह वर्ष तक ऐसा जीवन व्यतीत करने पर शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट बन जाता था कि कोई रोग उसमें प्रवेश तक नहीं कर सकता था। ऐसे ही शारीरिक विकास के के कारण 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं' आदि का वैदिक आदर्श चरितार्थ किया जा सकता था। शारीरिक विकास के साथ मानसिक व आत्मिक विकास भी बराबर होता था। उस कार्य में गुरु के व्यक्तित्व का जबरदस्त प्रभाव पड़ता था। वेदादि के अध्ययन व अन्य विद्याओं के ज्ञान से मन व बुद्धि का विकास होता था, तथा आचार्य

के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा आत्मिक विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त होती थी।

इस प्रकार विभिन्न शक्तियों के विकास में अग्रसर होकर विद्यार्थी जब गुरुकुल से निकलकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वहाँ भी उन्हीं सिद्धान्तों व आदर्शों के अनुसार अपना जीवन बनाता था, जो उसने गुरुकुल में सीखे थे। उसमें धीरे-धीरे वह शक्ति आ जाती थी जिससे वह सांसारिक मोह माया के फन्दे में न फँसकर जीवन की पहेलियाँ सुलझाने में लग जाता था और वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति में प्रयत्नशील होता था। उसे 'द्विज' कहलाने का अधिकार प्राप्त होता था। इस शब्द का अर्थ 'दो जन्म वाला' होता है। धर्मशास्त्रों ने उन दो जन्मों का विवरण इस प्रकार दिया है—एक जन्म माता के गर्भ से, व दूसरा गायत्री के गर्भ से। इसका तात्पर्य यह है कि माता के गर्भ से उत्पन्न होने के पश्चात् भी शिक्षा, ज्ञानोपार्जन आदि द्वारा मनुष्य में इतना परिवर्तन हो जाता है कि वह एकदम दूसरा आदमी बन जाता है। यही उसका दूसरा जन्म है।

कुछ प्राचीन गुरुकुल (विश्वविद्यालय)—प्राचीन काल में समाज के बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थान-स्थान पर गुरुकुल बने रहते थे। वेद-पुराण, रामायण, महाभारत व संस्कृत-साहित्य के अन्य ग्रन्थों में गुरुकुलों के अस्तित्व का उल्लेख कितनी ही बार आया है। किन्तु उनका विस्तृत ज्ञान तो बौद्धकालीन साहित्य से प्राप्त होता है, जबकि उन्होंने विश्वविद्यालय (University) का स्वरूप धारण कर लिया था। उनमें कितने ही विद्यार्थी पढ़ते थे तथा नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। विदेशों से भी व्यक्ति आकर इनमें ज्ञानोपार्जन करते थे। इस प्रकार मनुजी के वचन (मनु० २।२०) 'इस देश में उत्पन्न विद्वान् ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र का पाठ सीखें', पूर्णतया चरितार्थ होते थे। बौद्ध-काल के कुछ गुरुकुलों के बारे में—जिन्हें विश्वविद्यालय कहना चाहिए—इतिहास

की सहायता से बहुत-कुछ मालूम होता है। वे विश्वविद्यालय तक्षशिला नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थानों स्थित थे।

तक्षशिला—तक्षशिला में ई० पू० ६०० के लगभग से एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। यह नगर भारत के पश्चिमोत्तर में गान्धार देश की राजधानी था। ब्राह्मणीय शिक्षा का यह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। सब जाति व स्थानों के विद्यार्थी यहाँ नाना प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करने के लिए आते थे। यहाँ वेद, अष्टादश विद्याएँ, शिल्प इत्यादि सिखाये जाते थे। इसी विश्वविद्यालय में महान् वैयाकरण पाणिनि, सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक, अर्थशास्त्र के प्रणेता विष्णुगुप्त चाणक्य, मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य आदि विभूतियों ने शिक्षा प्राप्त की थी। गौतम बुद्ध के समकालीन यहाँ के आचार्य आत्रेय आयुर्वेद के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। गौतम बुद्ध के वैद्य जीवक ने सात वर्ष तक इन्हीं आचार्य के चरणों में आयुर्वेद का अध्ययन किया था। परीक्षा के समय जीवक को पूछा गया था कि तक्षशिला से पन्द्रह मील के घेरे में जितने वनस्पति, वृक्ष, लता, घास, जड़ें आदि हैं, उनका वैद्यक दृष्टि से क्या उपयोग हो सकता है? इस सम्बन्ध में वह चार दिन तक इधर-उधर घूमा तथा लौटकर उसने अपने आचार्य से कहा कि एक भी ऐसी वनस्पति नहीं है, जिसमें कोई-न-कोई वैद्यक गुण न हो। बौद्ध जातकों से इस विश्वविद्यालय के बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं।

इसी विश्वविद्यालय में यूनानी व भारतीय दार्शनिक परस्पर संसर्ग में आये थे और एक-दूसरे के सिद्धान्तों को ग्रहण करते थे। बाबुल के निवासी हमेशा भारत की यात्रा के लिए स्थल-मार्ग से आया करते थे। एरियन, स्ट्रेबो, टोलेमी, डायोनिसियस, प्लिनी, फ़ाहियान यूएन-च्वेङ्ग तथा अन्य विदेशी यात्री इसे एक प्राचीन व महत्त्वपूर्ण विद्या का केन्द्र बताते हैं।

नालन्दा—बौद्धों ने जनसाधारण में विद्या-प्रसार के लिए जो-कुछ

किया है, उससे ऐतिहासिक लोग भली-भाँति परिचित हैं। उनके विहार शिक्षा के महान् केन्द्र थे। ईसाई-मठों ने यूरोप में शिक्षा-प्रसार के लिए जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक बौद्ध संघों ने भारत में किया। उन्होंने विद्या का मन्दिर सब लोगों के लिए खुला कर दिया। चीन, तिब्बत, मध्य एशिया, बुखारा, कोरिया व अन्य देशों से विद्यार्थी आकर बौद्ध-विद्या-केन्द्रों में विद्योपार्जन करते थे। गुप्तकाल में नालन्दा का विश्वविद्यालय बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था। सुप्रसिद्ध बौद्ध पण्डित नागार्जुन (ई० स० ३८०) व आर्यदेव (ई० स० ३२०) ने सर्वप्रथम इसके महत्त्व को बढ़ाया। चीनी यात्री फाहियान (ई० स० ३९९-४१४) के समय यह विश्वविद्यालय पूरा नहीं हुआ था। यूएनच्वेङ्ग (ई० स० ६१९-६४५) व इत्सिग (ई० स० ६७५-६८७) के समय यह उच्च शिक्षा का महान् केन्द्र था। उन्होंने यहाँ पर बड़े-बड़े आचार्यों से संस्कृत और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। शीलभद्र ने पन्द्रह मास तक यूएनच्वेङ्ग को संस्कृत पढ़ाई थी। यहीं से बहुत से धर्म-प्रचारक चीन व तिब्बत गये थे। उन्होंने विद्वत्ता, पवित्र जीवन और चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने के कारण वहाँ खूब नाम कमाया। उन्होंने चीन आदि देशों में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीलभद्र आदि यहाँ के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। सर्वोपरि आचार्य को 'कुलपति' कहते थे। लगभग दस हजार विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करते थे। इत्सिग दस वर्ष तक यहाँ रहा। उस समय तीन हजार विद्यार्थी छात्रावास में रहते थे। विश्वविद्यालय का खर्च भिन्न-भिन्न राजाओं द्वारा दान में दिये गए दो सौ गाँवों की आमदनी से चलता था। इसके तीन भवन थे, जैसे रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक। रत्नोदधि नौमंज़िला था, जिसमें धार्मिक और तान्त्रिक ग्रन्थ रखे रहते थे। मध्यवर्ती भवन में विद्यालय था। इसके चारों ओर आठ 'हॉल' थे।

बनारस—प्राचीन काल से ही बनारस काशी नाम के जनपद की राजधानी था। उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ और बौद्ध-ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल से ही यह नगर संस्कृत विद्या के अध्ययन का महान् केन्द्र रहा है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ई० पू० ८१७) का भी जन्म यहीं पर हुआ था। गौतम बुद्ध (ई० पू० ५८३) ने भी अपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश यहीं पर दिया था। प्राचीन काल से ही यह नगर ब्राह्मण-धर्म तथा संस्कृति का केन्द्र रहा है। आज भी यह संस्कृत विद्या का केन्द्र है और यहाँ कितनी ही संस्कृत पाठशालाओं में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

प्राचीन और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली—जहाँ प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बहुत ऊँचा था, वहाँ आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का ध्येय बहुत ही गिरा हुआ है। अंग्रेजी राज्य में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का ध्येय यही था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय अंग्रेजी साम्राज्य को चलाने वाले यन्त्र में केवल कल-पुर्जों का काम दें, तथा वे देखने में भले ही भारतीय दीखें, किन्तु अन्तर में पूरे अंग्रेज हों, अंग्रेजों से भी दो कदम आगे बढ़े हुए अंग्रेज हों। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् भी शिक्षा-प्रणाली में कोई भी अन्तर नहीं हुआ है। पहले अंग्रेजों को ताकते थे, अब अमरीका या रूस को। सौ वर्ष के समय में ही इस शिक्षा-प्रणाली ने अपने उद्देश्य की पूर्ति किस तरह की है, उसका कटु अनुभव प्रत्येक भारतीय को हो रहा है। कल-पुर्जे आवश्यकता से अधिक मात्रा में बनने से, बाजार में उनका भाव गिरने लगा। 'एम० ए०' और 'बी० ए०' का सब लोग मखौल उड़ाते देखे एवं सुने जाते हैं; क्योंकि वे नौकरी के सिवाय कुछ कर ही नहीं सकते और इस बेकारी के समय में सबको नौकरी कैसे मिल सकती है? इसके अतिरिक्त पुस्तकों के ज्ञान द्वारा कुछ परीक्षाएँ पास कर लेने का ही ध्येय रहने से आजकल के विद्यार्थी निकम्मे बन जाते हैं। 'बी० ए०', 'एम० ए०' तक पहुँचने में उनकी निसर्ग-सिद्ध शक्तियाँ भी क्षीण होने लगती हैं। शारीरिक

शक्ति तो उनसे कोसों दूर भागती है। विद्यार्थी-जीवन से ही भिन्न-भिन्न रोगों के आगार बनकर जब वे जीवन में प्रवेश करते हैं, तब बेकारी का भूत उन्हें निगलने दौड़ता है, और परिणामतः उनकी बड़ी दुर्दशा होती है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दुर्गुणों के कारण समाज में षड्रिपुओं का साम्राज्य छा गया है और राष्ट्र जल्दी-जल्दी पतन की ओर कदम बढ़ा रहा है। इसके विपरीत यदि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ आधुनिक 'एम० ए०' परीक्षा में उत्तीर्ण नवयुवक जब जीवन में प्रवेश करता है, तब लगभग वृद्ध ही बन जाता है, वहाँ प्राचीन काल का स्नातक ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करने पर जब जीवन में प्रवेश करता था, तब पूर्णतया नवयुवक रहता था। नवजीवन, नव आकांक्षाएँ, नव स्फूर्ति आदि का समुद्र उसके हृदय में हिलोरें मारता था। निराशा उसके पास भटकने भी न पाती थी। प्राचीन क्षत्रियों के समान वह जीवन की आपत्तियों को हँसते-हँसते झेलता था। जीवन-कलह उसके लिए इतनी कठिन नहीं थी, जितनी कि आजकल है। प्राचीन काल में राजा का कर्तव्य था कि वह सबके योगक्षेम का ध्यान रखे।

७

सामाजिक जीवन

समाज का विकास—मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है। निसर्गसिद्ध संस्कारों की सहायता से वह सामाजिक विकास का प्रारम्भ करता है। आत्मरक्षण व एकत्रित रहने की नैसर्गिक वृत्तियों का इसमें विशेष हाथ है। इन वृत्तियों के कारण पारिवारिक जीवन से ही सामाजिक विकास का प्रारम्भ होता है। इन्हीं वृत्तियों से प्रेरित होकर तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से सताये जाने पर बहुत से परिवार अपने को एकता के सूत्र में बाँधना सीखते हैं, और उनमें एक संगठित शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार-विचार, आदर्श आदि की एकता पर यह संगठन निर्भर रहता है। इस प्रकार के मानव-समुदाय को ही समाज कहते हैं। समाज शब्द में ही संगठन-शक्ति, सांस्कृतिक विकास आदि के भाव समाविष्ट हैं। वही समाज सभ्य या सुसंस्कृत कहलाता है, जहाँ पारिवारिक जीवन का पर्याप्त विकास हो चुका हो, और अनेकों विकसित परिवार आचार-विचार, आदर्श आदि द्वारा एकता के सूत्र में बँधकर रहना सीख चुके हों।

प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन का प्रारम्भ—प्राचीन भारत पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि पारिवारिक जीवन के समान सामाजिक जीवन भी नैसर्गिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुआ था। इस विकास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हो

गया था। ऋग्वेद से पता चलता है कि समाज संस्कृति और सभ्यता के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था। समाज में एकता का भाव जागृत हो चुका था। इसी भाव के कारण ऋग्वेद में मानव-जाति को दो विभागों में विभाजित किया गया था—जैसे आर्य और अनार्य; जिसमें दस्यु, दास, शूद्र आदि का समवेश हो जाता था। इन विभागों को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—(१) सभ्य मानव-समुदाय और (२) असभ्य या जंगली मानव-समुदाय। ऋग्वेद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि आर्य व दस्यु में विजेता और पराजित का भाव न रहकर सभ्य और असभ्य का भाव निहित था। शूद्र आर्य मानव-समुदाय का एक विशेष अङ्ग माना जाता था, जो ऋग्वेद (१०।६०।१२) के अनुसार परमात्मा के पैर से उत्पन्न हुआ था। शूद्र वर्ण में बहुत से दस्यु, दास आदि भी सम्मिलित कर लिये गए थे। इस प्रकार प्राचीन भारत के सामाजिक विकास का इतिहास ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता है। वैदिक काल में यह विकास अपनी किशोरावस्था में नहीं था, किन्तु बहुत आगे बढ़ चुका था। इसी काल में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रों में भी बहुत उन्नति हो चुकी थी। इन क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करने के लिए सामाजिक विकास की प्रौढ़ता अत्यन्त ही आवश्यक है।

(१)

सामाजिक व्यवस्था

मूल स्तम्भ—प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था को अच्छी तरह से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आधार-स्तम्भों को समझने का प्रयत्न किया जाय, जो इस प्रकार हैं—पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और वर्ग-चतुष्टय। पारिवारिक जीवन पर पहले ही विचार किया जा चुका है, तथा यह अच्छी तरह

समझ लिया गया है कि किस प्रकार पारिवारिक जीवन सामाजिक विकास की जड़ में है।

तीन ऋण : पितृ-ऋण—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण आदि तीन ऋण माने गए हैं, जिनको अच्छी तरह से चुकाना प्राचीन भारतीय नागरिक का कर्तव्य माना गया था। पितृ-ऋण का विशेष सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। उसी प्रकरण में इस ऋण पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। फिर भी इतना कहना यहाँ आवश्यक होगा कि समाज की उन्नति और विकास के लिए पितृ-ऋण का सिद्धान्त अत्यन्त ही आवश्यक है। धर्मशास्त्रों ने कहा है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध समाज के भविष्य से कितना घनिष्ठ है, यह तो बिलकुल ही स्पष्ट है। उत्तर-दायित्वों और कर्तव्यों को समझने वाली सन्तान के उत्पन्न होने पर समाज का भविष्य सुधर सकता है। आजकल सन्तानोत्पत्ति के महत्त्व को भारत भूल रहा है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर भारतीय नवयुवक वैवाहिक जीवन व्यतीत तो करना चाहता है, किन्तु सन्तानो-त्पत्ति आदि का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेना नहीं चाहता। इसीलिए सन्तति-निरोध आदि के कुत्सित और कृत्रिम साधन धीरे-धीरे समाज में फैल रहे हैं। समाज के शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन पर इनका क्या दुष्परिणाम होगा, यह तो भविष्य ही बताएगा। यह स्पष्ट है कि जिस समाज के नवयुवक विलासिताप्रिय, उत्तरदायित्व-हीन और निकम्मे बनते जाते हैं, उसका भविष्य अन्धकारमय ही है। प्राचीन काल में अच्छी-अच्छी सन्तान उत्पन्न करना पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक ऋषि परमात्मा से यही प्रार्थना किया करते थे कि 'हम अच्छे पुत्र वाले बनें'। इस पितृ-ऋण के कारण समाज का वाता-वरण पवित्र रहता था।

ऋषि-ऋण—प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जा सकता है। गुरुकुलों में ऋषि अपने आजीवन योग

और तप का फल विद्या के रूप में ब्रह्मचारियों को देते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं किन्तु ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था। वह गुरु, जो किसी गूढ़ तत्त्व के दर्शन करने के कारण 'ऋषि' कहलाता था, और जो वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध रहता था, ब्रह्मचारी को अपने पुत्र से भी अधिक चाहता था। वह विद्यार्थी को समाज और राष्ट्र की महान् सम्पत्ति समझता था। वह अपने उत्तरदायित्व को समझ यह मानता था कि उसे समाज या राष्ट्र के भविष्य का निर्माण करने का पवित्र काम सौंपा गया है। इस प्रकार गुरु और शिष्य का सम्बन्ध उदात्त और पवित्र बन जाता था। शिष्य को विद्योपार्जन के लिए कोई निश्चित द्रव्यराशि नहीं देनी पड़ती थी; क्योंकि तत्कालीन राजा और प्रजा गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता देना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे।

समाज के बालक चाहे धनी हों या रङ्क, गुरुकुलों में वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होते थे। दुनिया की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले, विद्यार्थियों से कोई भी स्वार्थ का साधन न करने वाले, निरीह और निर्लेप ऋषि अपने शिष्यों के लिए सब-कुछ न्यौछावर कर देते थे। इसलिए उन शिष्यों पर उनका बड़ा भारी ऋण हो जाता था। इसी को ऋषि-ऋण कहा गया है, और इसे चुकाना प्रत्येक का कर्तव्य बताया गया है। यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन और ज्ञानोपार्जन के काम में लोगों के लीन रहने से समाज में ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नहीं भूलता था कि उसे अपने ऋषि का ऋण चुकाना है—कुछ द्रव्य देकर नहीं, किन्तु अपने अध्ययन को जारी रखकर और ज्ञान-वृद्धि के साधनों की वृद्धि में सहायक बनकर। इस प्रकार प्राचीन भारत के गृहस्थ, न केवल स्वतः ही स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-वृद्धि करते थे, किन्तु गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देते

थे, जिससे ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के केन्द्र सूखने न पाएँ। ऋषि-ऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित-जागृत ही रहती थीं, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि और उन्नति भी करती थीं। प्राचीन-कालीन परिवार ज्ञान और बुद्धि के केन्द्र बन जाते थे, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्ण रूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञान-वृद्धि का रहस्य इसी में छिपा है।

देव-ऋण—स्मृतिकारों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। निसर्ग की विभिन्न शक्तियों को वेदों में 'देव' कहा गया है, क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। यज्ञादि के द्वारा वायु, वर्षा आदि निसर्ग के स्वरूप को मानव-जाति के लिए किस प्रकार कल्याणकारी बना सकते हैं, यह पहले ही कह दिया गया है। यहाँ इस ऋण पर एक दूसरी दृष्टि से विचार करना होगा। 'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'चमकना' होता है। इसलिए 'देव' याने 'चमकने वाला', 'प्रकाशमान', 'देदीप्यमान' आदि हुआ। 'देव' शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिसकी आत्मा अधिक परिष्कृत है उसके मुख पर एक प्रकार का दिव्य तेज मालूम पड़ता है। इसलिए 'देव' शब्द से उन महापुरुषों को सम्बोधित किया जा सकता है, जो आत्मिक विकास के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गए हैं; जिन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका है और जिन्हें बौद्धों की भाषा में बुद्ध, जैनियों की भाषा में जिन या महावीर, हिन्दुओं की भाषा में राम या कृष्ण, ईसाइयों की भाषा में ईसामसीह और मुसलमानों की भाषा में मुहम्मद कह सकते हैं। ये महान् आत्माएँ उन्मार्गगामी मानव-समाज को पुनः सन्मार्ग पर लाने के लिए ही भूमण्डल पर अवतरित होती हैं; जैसा कि गीता ने भी कहा है। इन विभूतियों का समाज पर कितना जबरदस्त ऋण हो जाता है, यह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसलिए प्राचीन भारत में समाज के सदस्यों का कर्तव्य

मान लिया गया था कि वे इन महात्माओं के आदेशों पर चलकर उनके ऋण से मुक्त हो जायँ। सामाजिक विकास के लिए देव-ऋण का यह भाव अत्यन्त ही आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन काल से ही भारत के आर्यों ने समाज को चार विभागों में विभाजित किया था। यह विभाग साधारणतया अर्थशास्त्र के 'कार्य-विभाग-सिद्धान्त' पर अवलम्बित था। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' (१०।९०) में इसका स्पष्टीकरण किया है। समस्त समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है और उसके भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाजशास्त्रज्ञ मानव-समाज को एक जीवित व्यक्ति मानते हैं उसी प्रकार ऋग्वेद में भी रूपक द्वारा समाज को जीवित पुरुष माना गया है। इस रूपक में से यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक-दूसरे से अच्छी तरह सम्बन्धित हैं और यदि एक अंग में कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है तथा शरीर-भर में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज का भी हाल है। यही जीवित समाज का लक्षण है। संगठन व जागृति के भाव को व्यंजित करने के लिए ही 'पुरुष-सूक्त' में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया, और उसके विभिन्न अङ्गों का वर्णन किया गया, जैसे "उस (समाज-रूपी) पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गई। उसकी जङ्घाओं से वैश्य बने व पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए" (ऋ० १०।९०।१२)। इस प्रकार समाज रूपी पुरुष के मुख, भुजाएँ, जङ्घाएँ और पैर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं।

ब्राह्मण—उपरोक्त रूपक में 'मुख' से केवल भोजन करने वाले मुँह का ही तात्पर्य नहीं है किन्तु उसमें मस्तिष्क का भी समावेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क ही सबसे ऊँचा और अत्यन्त ही आवश्यकीय अङ्ग है, जिसके बिगड़ने पर मृत्यु ही उत्तम समझी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क उसकी सब क्रियाओं का

सञ्चालन करता है, तथा उदात्त भावनाओं और विचारों को पैदा करके उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करता है उसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी रहता है, जोकि उसके लिए आवश्यकीय है, और जिसको अच्छी स्थिति में रखना अत्यन्त ही वांछनीय है। समाज का मस्तिष्क वे व्यक्ति कहलाते हैं, जो निसर्गसिद्ध शक्तियों का सम्यक् विकास कर अपने मस्तिष्क से उदात्त व सुन्दर विचार उत्पन्न करते हैं, तथा अपने अनुभव व ज्ञान द्वारा अच्छी आयोजनाएँ व जीवनचर्याएँ उपस्थित करते हैं, जिनको अपनाने से समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सकता है। इन व्यक्तियों को 'ब्राह्मण' नाम से सम्बोधित किया गया; क्योंकि इनका जीवन ब्रह्म-प्राप्ति या सत्य की खोज में ही व्यतीत होता था। इन ब्राह्मणों को समाज का मस्तिष्क या मुख कहा गया। समाज जो-कुछ विचार करता था, इन्हीं के द्वारा करता था, जो-कुछ बोलता था इन्हीं के द्वारा बोलता था। ये ब्राह्मण आजीवन ज्ञानोपार्जन, ज्ञान-वितरण, समाज-सेवा आदि के पवित्र कार्य में लगे रहते थे; सांसारिक वैभव की ज़रा भी परवाह नहीं करते थे। राजदरबार में इन ब्राह्मणों का बहुत मान होता था। ये ही राजा को मन्त्रणा भी देते थे। चाणक्य ब्राह्मण ने अपनी मन्त्रणा व बुद्धि के ज़ोर पर चन्द्रगुप्त मौर्य को महान् सम्राट् बना दिया। वशिष्ठ व विश्वामित्र ने राम को कितना ऊँचा स्थान प्राप्त करा दिया।

ब्राह्मणों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, रामायण, महाभारत आदि में उल्लेख आता है। सारांश में उनके कर्तव्य इस प्रकार हैं—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, यम-नियम की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना, मानव-रिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करना। साधारणतया ब्राह्मणों का समय वेदाभ्यास, योग-साधन आदि में ही जाता था; वे ऐहिक ऐश्वर्य आदि की परवाह नहीं करते थे। जब तक भारत में ऐसे ब्राह्मण रहे, तब तक यहाँ का समाज उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया,

किन्तु जब से इनका अभाव हुआ और इनका स्थान नामधारी ब्राह्मणों ने ग्रहण किया, तब ही से समाज का पतन प्रारम्भ हुआ और वह पागल के समान किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया। आज भी संसार के जिन राष्ट्रों या समाजों ने उन्नति की है, उसकी जड़ में ऐसे ही निरीह व निस्स्वार्थ व्यक्ति मिलेंगे, जो अपने तप व ज्ञान से समाज की सेवा करते हैं। वे ही उस समाज के लिए सच्चे ब्राह्मण हैं।

क्षत्रिय—क्षत्रिय समाज-पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं। भुजाओं के समान ये बाह्य व आभ्यन्तर शत्रुओं से समाज की रक्षा करते थे। वेद-पठन, यज्ञ करना, दान देना, इन्द्रिय-निग्रह आदि क्षत्रिय के मुख्य कर्तव्य थे। प्रजा-रक्षण तो उनका मुख्य कर्तव्य था। जो प्रजा को कष्ट देता था, वह राजा नहीं कहला सकता था। वेन राजा के समान उसे पदच्युत कर मार डाला जाता था। उसे यज्ञ भी करने पड़ते थे तथा अध्ययन भी जारी रखना पड़ता था। यज्ञ का सम्बन्ध आध्यात्मिक जीवन से ही नहीं बल्कि आर्थिक जीवन से भी था। इसलिए राजा को यज्ञासम्बन्धी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। विषयासक्ति से भी उसे दूर रहना पड़ता था। जिसके ऊपर समाज की रक्षा का उत्तरदायित्व हो वह यदि विषयों में फँसे तो समाज किस प्रकार जीवित रह सकता है? विषयासक्ति ने राजाओं और उनकी प्रजा की कितनी दुर्दशा की है, इसकी साक्षी इतिहास देता है।

इन कर्तव्यों को पूरा करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते थे, जो ये हैं—शौर्य अर्थात् शारीरिक शक्ति का अच्छा विकास कर वीरत्व को धारण करना, जिससे समाज की आपत्तियों का वीरता से सामना किया जा सके; तेज़, अर्थात् आत्मिक बल के विकास से व्यक्तित्व को आकर्षक व प्रभावोत्पादक बनाना, इस प्रकार के व्यक्तित्व से मुख पर एक अलौकिक तेज आ जाता है, जिसके सामने दुष्टवृत्ति मनुष्य एकदम नतमस्तक हो जाते हैं; धृति अर्थात् क्षत्रियों में हिम्मत भी खूब होनी चाहिए; दाक्ष्यम् अर्थात्

क्षत्रियों के लिए व्यवहार-कुशलता भी आवश्यक थी, क्योंकि समाज का राजनीतिक जीवन उन्हीं के हाथ में रहता था; युद्ध से अपलायन अर्थात् युद्ध से न भागना, यह भी क्षत्रियों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक था, युद्ध से मुँह मोड़कर भागना क्षत्रियों के लिए मृत्यु से भी खराब समझा जाता था।

वैश्य—जिस प्रकार शरीर का भार जंघाओं पर रहता है और वे ही उसका वहन करती हैं, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण का भार वैश्यों को वहन करना पड़ता था। समाज के आर्थिक विकास की सब जिम्मेवारियाँ इन्हीं के सिर पर थीं। सम्पत्ति-वृद्धि के आयोजन व साधन जुटाना इन्हीं का कर्तव्य था। प्राचीन काल में प्रत्येक वैश्य को यह समझना पड़ता था कि मैं समाज का एक अङ्ग-मात्र हूँ और समाज ने मुझे साम्पत्तिक विकास का काम सौंपा है। अतएव वह जो कुछ कमाता था उस पर समाज का पूरा-पूरा अधिकार रहता था। अन्य तीनों वर्ण उसमें से अपना-अपना भाग लेते थे। समाज में किसी तरह का आर्थिक असन्तोष फटकने न पाता था। वैश्यों में त्याग-वृत्ति कूट-कूटकर भरी रहती थी। वैश्यों के कर्तव्य, सारांश में, इस प्रकार हैं—वेदादि का अध्ययन करना, यज्ञ करना, व्यापार करना, कृषि करना, पशुओं की रक्षा करना, दान देना, साधारण ब्याज लेना आदि। भारत कृषि-प्रधान देश है। समाज के भरण-पोषण के लिए पशु-पालन व कृषि अत्यन्त ही आवश्यक थे। इसीलिए वैश्यों के कर्तव्यों में उनका समावेश किया गया। वैश्य केवल आजकल के समान धन कमाने के यन्त्र ही न बन जायँ, इसलिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना आदि भी उनके लिए विहित किये गए। ऐसे ही आदर्श वैश्य समाज का भरण-पोषण करके उसे जीवित रख सकते थे।

शूद्र—शूद्र समाज-पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार शरीर में पैर हैं, उसी प्रकार समाज में शूद्र हैं। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार उन्हीं पर रहता था। जो लोग पहले तीन वर्णों के कर्म

करने में असमर्थ थे उन्हें सेवा का काम करना पड़ता था, जैसा कि मनु ने कहा है—"इन तीन वर्णों की असूया-रहित सेवा करना यही एक कर्म परमात्मा ने शूद्र के लिए बनाया" (मनु० १।६१)। सेवा-कर्म के कारण शूद्र को नीचा नहीं समझा जाता था। प्राचीन समाज में ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था। सब वर्ण अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व का स्थान रखते थे। समाज को चारों वर्णों की ही आवश्यकता थी। किसी एक के न रहने से वह सुचारु रूप से नहीं चल सकता था। इसी तथ्य को 'पुरुष-सूक्त' में आलंकारिक भाषा में समझाया गया है।

वर्ण-व्यवस्था कर्म-मूलक—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था समाज-शास्त्र के मूल तत्त्वों के आधार पर विकसित हुई थी। वर्ण-विभाजन का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। वर्ण की कसौटी कर्तव्य-कर्म थे। भोजन, विवाह आदि के लिए कोई रुकावट नहीं थी। प्राचीन भारत ने इस वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को अच्छी तरह समझा था। कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा नहीं, जिसमें इसके गीत न गाये गए हों। राजा को इस व्यवस्था की देख-भाल करनी पड़ती थी। वह सब वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में प्रेरित करता था। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वैदिक काल से महाभारत काल तक समाज ने इस व्यवस्था को अपनाया था। महाभारत के पश्चात् इसका सच्चा स्वरूप लुप्तप्रायः हो गया और परिणामतः समाज पतन की ओर बढ़ता ही गया। इसी दुरवस्था को कलियुग का प्रताप बताकर पुराणों ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में उसका वर्णन किया है (ब्रह्म० अ० २२६)। अपने बिगड़े हुए रूप में वर्ण-व्यवस्था आज भी भारत में वर्तमान है। आज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नामों को सुनकर ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा प्राचीन आदर्श वर्ण-व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं।

आश्रम-व्यवस्था—आश्रम-व्यवस्था भी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। जीवन के मर्म को भली-भाँति समझ-

कर ही इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। जीवन-यात्रा में विश्राम प्राप्त करने के लिए चार आश्रम बनाये गए थे। प्राचीन भारतीयों को चारों आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। वर्ण-व्यवस्था के समान यह व्यवस्था भी मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाकर समाज को अपने उद्दिष्ट तक पहुँचाती थी। वे चार आश्रम इस प्रकार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

ब्रह्मचर्याश्रम—प्राचीन काल में मनुष्य के जीवन के चार विभाग किये गए थे, जिन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया गया था। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद ही बालक को गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना पड़ता था, जहाँ कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक रहना पड़ता था। वहाँ वह एक, दो या तीन वेदों का अध्ययन समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस सम्बन्ध में मनु ने (३।१,२) कहा है—"गुरुकुल में ब्रह्मचारी या तो छत्तीस वर्ष तक तीनों वेदों को पढ़ने का व्रत रखे अथवा उससे आधा या चतुर्थांश। एक, दो या यथाक्रम सब वेदों का अध्ययन करने पर अविप्लुत ब्रह्मचर्य धारण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।" इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए बालक को ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में रहना पड़ता था, और गुरु के चरणों में बैठकर ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था। 'ब्रह्मचर्य' शब्द ही इस आश्रम के महत्त्व का द्योतक है। इस आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों के विकास का पाठ सीखता था। जंगल की शुद्ध हवा, फल-फूल का भोजन नैतिक व नियमित जीवन आदि से शरीर पुष्ट हो जाता था और गुरुकुल के पवित्र वातावरण में इस पुष्ट शरीर में बुद्धि तथा आत्मा का विकास किया जाता था। इस प्रकार ब्रह्मचारी ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता था।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य—ब्रह्मचारी को अपना जीवन अत्यन्त ही सरल बनाना पड़ता था, और विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। शारीरिक कष्टों की परवाह न करके उसे सब नियमों का पालन करना पड़ता

था। उसका सबसे बड़ा कर्तव्य 'अग्निचर्या' था। यज्ञ करने की पवित्र अग्नि के लिए उसे सायं-प्रातः समिधाहरण करना पड़ता था। दैनिक क्रिया के पश्चात् उसे 'भैक्षचर्या' के लिए जाना पड़ता था। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि क्या सब गुरुकुलों में भैक्षचर्या की प्रथा कार्य रूप में लाई जाती थी या वह केवल सैद्धान्तिक रूप से ही थी? इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल में कदाचित् यह प्रथा कार्य रूप में लाई जाती होगी; किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों भिक्षाचरण रस्म-अदाई का रूप धारण करने लगा, जैसा कि आजकल बन गया है। जब गुरुकुल बड़े व विकसित स्वरूप में स्थापित होने लगे, तब भिक्षाचरण असम्भव-सा हो गया और दान-दाता स्वयमेव सब व्यवस्था करने लगे, जैसा कि कितने ही ताम्रपत्रों व शिलालेखों से मालूम होता है। शतपथ ब्राह्मण (११।३।३।५,७) में भिक्षाचरण को अनिवार्य बताया गया है। इसका उद्देश्य कोमल-हृदय ब्रह्मचारी के मन पर नम्रता व विनय-शीलता के भाव अङ्कित करना था। इसके कारण ब्रह्मचारियों में गरीब व धनवान् का भाव रहने नहीं पाता था। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को इन्द्रिय-निग्रह करके वेदाध्ययन करना पड़ता था और अपना दैनिक जीवन बहुत ही पवित्र बनाना पड़ता था।

गृहस्थाश्रम—विद्या-समाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नातक बनकर विवाह करता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। लौकिक दृष्टि से यह आश्रम अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, क्योंकि अन्य तीन आश्रमों का अस्तित्व इसी पर निर्भर रहता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी उदर-निर्वाह के लिए गृहस्थ पर ही अवलम्बित रहते थे। इसीलिए इसे अन्य आश्रमों का आधार-स्तम्भ कहा जाता था। गृह-स्थियों को सच्चे नागरिक बनना पड़ता था। पूर्व आश्रम में तीन ऋणों को चुकाने का जो सामर्थ्य प्राप्त किया गया था, उसे मूर्त स्वरूप देने का अवसर इसी आश्रम में रहता था। इन गृहस्थियों को अपना

जीवन इस प्रकार बनाना पड़ता था, जिससे कि वे मानव-जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुँच सकें। पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए उत्तम-उत्तम सन्तान पैदा करनी पड़ती थी। वेदाध्ययन द्वारा आत्म-विकास के मार्ग में अग्रसर होकर उन्हें अन्य दो ऋणों को चुकाने की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। उन्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की सिद्धि में लगना पड़ता था। इस आश्रम में भी नैतिकता को पूरा-पूरा स्थान था। इन्द्रिय-लोलुपता को कोई स्थान नहीं था। गृहस्थ को यज्ञादि द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत करके ग्राम, नगर देश आदि के शासन-कार्य में भाग लेना पड़ता था। उसे द्रव्य का अर्जन करने पर भी त्याग-वृत्ति धारण करनी पड़ती थी। इस प्रकार गृहस्थाश्रम को पूरा करके उसे वानप्रस्था-श्रम में प्रवेश करना पड़ता था।

वानप्रस्थाश्रम—उपनिषदों (बृहदारण्यक १०।५।१) में कहा है कि दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि को छोड़कर गृहस्थ वानप्रस्थ में प्रवेश करते हैं। ये तीन प्रकार की इच्छाएँ ही मनुष्य को माया-मोह के जाल में फँसाती हैं। गृहस्थाश्रम में इन तीनों का यथेष्ट अनुभव लेकर उन्हें छोड़ देना ही उत्तम रहता है। यदि वे आजीवन मनुष्य के साथ रहीं, तो उसका जीवन बिलकुल नष्ट हो जाता है और समाज में अशान्ति हो जाती है। जीवन के तृतीय विभाग में इस आश्रम में प्रवेश किया जाता था। प्रत्येक को तप की साधना द्वारा संयम प्राप्त करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम की त्रुटियों को यहाँ दूर किया जाता था। ये वानप्रस्थी आत्म-विकास के मार्ग में प्रवृत्त होकर देश व समाज के हित को ध्यान में रखते थे। वे अपने परिपक्व अनुभव व ज्ञान के द्वारा जीवन-मरण की गुत्थियाँ सुलझाने में मग्न हो जाते थे। उनके ये प्रयत्न उपनिषदों के रूप में दिखाई देते हैं।

मनु ने (६।१–३५) इस आश्रम का सुन्दर चित्र खींचा है—"स्नातक द्विज इस प्रकार विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम में रहकर फिर शास्त्रोक्त विधि से इन्द्रियों को रोककर नियम से वन में वास करें। जब गृहस्थी

देख ले कि अपने शरीर का चमड़ा ढीला हुआ, और केश पक गए, और पुत्र के भी पुत्र हो गया, तब वन का आश्रय ले। गाँव के आहार को और सब ठाठ को त्यागकर स्त्री को पुत्रों के हाथ सौंपकर या साथ लेकर वन को जाय। अनेक प्रकार के मुनियों के शुद्ध अन्नों से या शाक मूल-फल आदि से पाँच महायज्ञों को विधिपूर्वक करे। मृग आदि का चर्म या पुराने वस्त्र धारण करे; जटा, दाढ़ी आदि के बालों को सदा धारण करे और नखों को सदा धारण करे। नित्य स्वाध्याय में लगा रहे, सरदी, गरमी आदि को सहे, सबका उपकार करे, मन को रोके रहे, सदा दान दे परन्तु प्रतिग्रह न ले और प्राणियों पर दया रखे। वानप्रस्थ ब्राह्मण वन में बसकर इन पूर्वोक्त तथा सब नियमों का पालन करे और आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए उपनिषद् आदि अनेक श्रुतियों का अभ्यास करे। इस प्रकार वह आयु के तीसरे भाग में वन में विहार करे और आयु के चतुर्थ भाग को विषयों से विरक्त होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करके बिताये। ऋषि, देव और पितृ इन तीनों के ऋण चुकाकर मोक्ष-साधन में मन लगाना चाहिए, क्योंकि इनका ऋण बिना चुकाये मोक्ष के लिए यत्न करने से नरक प्राप्त होता है।'' मनु के इस वर्णन से वानप्रस्थाश्रम के मूल तत्त्वों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

संन्यासाश्रम—सम्यक् आत्म-विकास करने के पश्चात् अन्तिम आश्रम में प्रवेश किया जाता था, जिसे 'संन्यासाश्रम, कहते थे। इसे यह नाम इसलिए दिया गया था कि इसमें सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर फेंक देना पड़ता था। मनुस्मृति (६।९५, ९६) में लिखा है कि ''अग्निहोत्रादि सब कामों को छोड़कर कर्म-दोषों का नाश करते हुए नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन करके पुत्र द्वारा दिये गए भोजन-छादन को प्राप्त करे और सुखपूर्वक रहे। इस प्रकार सब कामों को छोड़कर आत्म-साक्षात्कार के कार्य में लीन होकर व निस्पृह बनकर तथा संन्यास के पापों का हनन करके परम गति को प्राप्त होता है।'' सब बन्धनों से मुक्त होकर और आत्मबल से सुसज्जित बनकर ये संन्यासी देश-भर में घूम-घूम-

कर सत्य-सिद्धान्तों का प्रचार करते थे तथा समाज की त्रुटियों को दूर करके उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते थे। यदि राजा भी कोई गलती करे तो उसे भी वे अपने नियन्त्रण में रख सकते थे। ये ही राजा को हर प्रकार की मन्त्रणा देते तथा प्रजा की देख-भाल करते थे। ये समाज के आध्यात्मिक जीवन के रक्षक थे। समाज-सेवा ही इनका सर्वस्व था। इनका उदर-निर्वाह भिक्षा से होता था। इनके लिए भी कड़े नियमों का पालन आवश्यक था, जिससे ये प्रमाद आदि के चंगुल में न फँस जायँ। दुनिया की कोई भी दौलत इन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। स्वार्थ, द्वेष, मोह, मत्सर आदि इनके पास फटकने भी न पाते थे। इसीलिए समाज इनको पूजता था। बौद्ध, जैन आदि भिक्षुओं ने भी इन्हीं की जीवनचर्या को अपनाकर अपने-अपने धर्मों का विकास किया था।

उपरोक्त कथन से आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व समझ में आ जायगा। प्राचीन काल में इसके अनुसार जीवन-क्रम बनाना अनिवार्य-सा ही था। जब तक यह व्यवस्था समाज में आदर पाती रही, तब तक समाज की उन्नत अवस्था थी। जब से समाज ने इसे ठुकराया, तभी से वह पतन के गर्त में गिरकर नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहा है। आजकल तो इस व्यवस्था का विकृत व विकराल स्वरूप ही बचा है। ब्रह्मचर्याश्रम यज्ञोपवीत-संस्कार के पश्चात् कुछ ही घण्टों में खत्म हो जाता है। बालपन से तो श्मशान में जाते तक तो गृहस्थाश्रम टूटी-फूटी हालत में चलता है। वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का ठेका तो नामधारी साधु, दण्डीस्वामी, महन्त, पुजारी आदियों ने ले रखा है, जो तीर्थ-स्थानों में अड्डे जमाकर रहते हैं तथा धर्म के ठेकेदार बने अपने गौरवान्वित पूर्वजों की धवल कीर्ति पर कालिमा पोतते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का महत्त्व—वर्णाश्रम-व्यवस्था पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वह उदार वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-

विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलता था। मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि के सम्यक् अध्ययन द्वारा उसके परम हित को ध्यान में रख कर समाज-शास्त्र के सहारे इस व्यवस्था को विकसित किया गया था। इसी-लिए यह देश-काल आदि से परिसीमित नहीं हो सकती। यह तो सब देश व सब काल के लिए है, जिसका क्रियात्मक उदाहरण प्राचीन भारत ने विश्व के सामने उपस्थित कर दिया है। वर्णाश्रम के कारण समाज में किसी प्रकार की भी विषमता फैलने नहीं पाती, जैसी कि इस बीसवीं शताब्दी में चहुँओर दिखाई देती है। धनाढ्यों व गरीबों के झगड़े, एक के द्वारा दूसरे का रक्त-शोषण, ईर्ष्या, स्वार्थ तथा वैमनस्य का नग्न अट्टहास आदि के हृदय-विदारक दृश्य प्राचीन काल में नहीं दिखाई देते थे, जबकि वर्णाश्रम-व्यवस्था को कार्य रूप में परिणत किया जाता था। सरस्वती व लक्ष्मी का वैर कराकर, और व लक्ष्मी को सरस्वती के पूर्ण अधीन बनाकर प्राचीन भारत ने गरीब व अमीर के झगड़े को पैदा ही नहीं होने दिया। वहाँ तो विश्व-भ्रातृत्व का सिद्धान्त अपनाया गया था। क्या अमीर, क्या गरीब, क्या विद्वान्, क्या मूर्ख, सब ही उसी परम पुरुष के अङ्ग-मात्र थे, इसलिए वे सब सगे भाई-भाई थे। एक धनाढ्य भाई अपने धन-विहीन भाई को किसी प्रकार भी आपत्ति में नहीं देख सकता था। तब के समाज में ये ही पवित्र भावनाएँ कूट-कूटकर भरी थी।

वर्ग-चतुष्टय—प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति जीवन का उद्देश्य मानी गई थी। वर्ग-चतुष्टय में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का समावेश होता है। इन्हीं को पुरुषार्थ भी कहते थे। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए चार आश्रम बने थे। वर्ग-चतुष्टय में प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों का समावेश हो जाता था। इन चारों में अन्तिम मोक्ष था। प्रत्येक को सांसारिक वैभव तथा ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के अतिरिक्त जीवात्मा को जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना पड़ता था। इसी को मोक्ष कहते थे। प्राचीन भारतीयों का जीवन

अधिकांशतः आध्यात्मिक था। किन्तु संसार की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। धर्म, अर्थ. काम आदि की प्राप्ति के साधनों व प्रयत्नों में सांसारिकता का समावेश होता था, किन्तु संयम की मात्रा उसमें अधिक रहती थी। वर्ग-चतुष्टय को अच्छी तरह से समझने के लिए धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र व ब्रह्मविद्या को विकसित किया गया था। ये शास्त्र क्रमशः धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से सम्बन्धित थे। वर्ग-चतुष्टय के सिद्धान्त का तात्पर्य यह था कि मानव-समाज सर्वाङ्गीण संस्कृति का विकास कर सके और भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के सुन्दर सम्मिश्रण से ऐहिक जीवन को सुखमय बनाकर अपने उद्दिष्ट तक पहुँच सके।

सामाजिक व्यवस्था की उदारता—प्राचीन भारत के सामाजिक रीति-रिवाजों का आलोचनात्मक विचार करने से पता चलता है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था बहुत ही उदार थी। आजकल के समान कुण्ठित मनोवृत्ति ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। इस उदार-वृत्ति का पता विवाह, नियोग आदि सामाजिक प्रथाओं से चलता है। प्राचीन काल में खान-पान आदि पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। चारों वर्ण बराबर एक-दूसरे के हाथ का भोजन कर सकते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।१।३।४) में लिखा है कि यज्ञ के लिए शूद्र भोजन बना सकता है। गौतम (२।४१), बौधायन (१।२।१८-१६) आदि ने प्रयत-शूद्र के हाथ का भोजन विहित किया है। अङ्गिरस (१२०-१२१) के अनुसार पर्व के दिन क्षत्रिय का बनाया भोजन ब्राह्मण कर सकता है। ब्रह्मचारी तो किसी के भी घर भोजन कर सकता था। याज्ञवल्क्य स्मृति (आचार०, १६६) ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि "शूद्रों में दास, ग्वाला, वंश-परम्परागत मित्र, किसान, नाई व शरणागत इन सबका भोजन किया जा सकता है। मुस्लिम यात्री अलबेरुनी (ईसा की ११ वीं शताब्दी) अपने ग्रन्थ 'तहक़ीक़ाते हिन्द' में लिखता है कि चारों वर्णों के लोग एक साथ रहते तथा भोजन करते थे।

विवाह—विवाह-प्रथा भी उदात्त सिद्धान्तों पर विकसित की गई थी। अत्यन्त प्राचीन काल में कोई भी किसी से विवाह कर सकता था। इस सम्बन्ध में कितनी ही कथाएँ पुराणों में हैं (मत्स्य ३०।१७–२२)। मन्वादि स्मृतियों (मनु १०।११; याज्ञ० आचार० ९३-९५) में प्रतिलोम विवाहों का उल्लेख स्पष्टतया सिद्ध करता है कि प्राचीन काल में असवर्ण विवाह प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह के अनुसार कन्या उच्च वर्ण की और पति नीच वर्ण का रहता है, तथा अनुलोम विवाह के अनुसार कन्या नीच वर्ण की और पति उच्च वर्ण का रहता है। प्रतिलोम विवाह बौद्ध काल के प्रारम्भ में (ई० पू० ६०० वर्ष के लगभग) तथा अनुलोम विवाह लगभग ई० स० ३०० वर्ष तक प्रचलित थे। स्मृत्यादि में प्रतिलोम विवाह को अच्छा नहीं माना गया है; उसकी सन्तान को चाण्डालादि से सम्बन्धित किया गया है, तथा वर्णसंकरों में सम्मिलित किया गया है। मनुस्मृति (१०।११) में लिखा है कि 'वैश्या, क्षत्रिया व ब्राह्मणी स्त्री व शूद्र पति से क्रमशः आयोगव, क्षत्ता तथा मनुष्यों में अधम चाण्डाल-पुत्र उत्पन्न होते हैं।" याज्ञवल्क्य स्मृति (आचार, ९३।९५) में लिखा है कि "ब्राह्मणी स्त्री से क्षत्रिय पति द्वारा सूत, वैश्य द्वारा वैदेहिक और शूद्र द्वारा चाण्डाल-पुत्र उत्पन्न होता है, जो सब धर्मों से बहिष्कृत है। क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा मागध व शूद्र द्वारा क्षत्तार पुत्र उत्पन्न होता है। वैश्या स्त्री से शूद्र द्वारा आयोगव पुत्र उत्पन्न होता है।" इन प्रमाणों के सहारे यह कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे प्रतिलोम विवाह समाज में अप्रिय होने लगे। किन्तु अनुलोम विवाह बहुत समय तक समाज में प्रचलित थे। इस मन्तव्य की पुष्टि में ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२२-२९८) ने यवनराज सेल्युकस निकॉटर की पुत्री से विवाह किया था। कविराज बाणभट्ट (ईसा की ७वीं सदी) का शूद्रा माता से उत्पन्न एक पारशव भाई था। ई० स० ८३७–८६१ के मन्दसौर-प्रतिहारों के लेखों से पता लगता है कि हरिश्चन्द्र.

नामी ब्राह्मण ने भद्रा नामी क्षत्रिय-लड़की से विवाह किया था। ब्राह्मण कवि राजशेखर (ईसा की १०वीं शताब्दी) ने चौहान-लड़की से विवाह किया था। दक्षिण भारत में भी ब्राह्मणों ने क्षत्रिय-लड़कियों से विवाह किये थे। गुलवाड़ा गाँव के निकट एक गुफा में खुदे हुए लेख में वल्लूर-वंशीय ब्राह्मण के क्षत्रिय-लड़की से विवाह का उल्लेख है। धर्म-सूत्रों तथा स्मृतियों में भी अनुलोम विवाह कितने ही स्थलों पर उल्लिखित हैं। पुराणों ने ऐसे विवाहों का कलियुग में निषेध किया है। बौधायन सूत्र (१।८।६-८; १।९।३) में लिखा है कि असवर्ण स्त्री का विद्वान् पुत्र सवर्ण स्त्री के मूर्ख पुत्र से अच्छा है। गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र के अशौच प्रकरण में भिन्न-भिन्न वर्णों की माताओं के सम्बन्धियों का स्पष्ट उल्लेख है। उनके पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति का भाग मिलता था। मनुस्मृति (३।१२,१३) में ऐसे विवाहों के सम्बन्ध में कहा है कि "द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना उत्तम है। किन्तु अपनी इच्छानुसार विवाह करने वाले के लिए विवाह करने की विधि इस प्रकार है। शूद्र के लिए शूद्रा ही वैश्य के लिए शूद्र तथा वैश्या, क्षत्रिय के लिए शूद्रा, वैश्या तथा क्षत्रिया और ब्राह्मणों के लिए चारों वर्णों की पत्नी हो सकती है।" याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यव० १२५) में लिखा है कि ब्राह्मण-पुत्र को अपनी माता के वर्ण के अनुसार चार, तीन, दो या एक भाग मिलना चाहिए, क्षत्रिय के पुत्र को तीन, दो अथवा एक; वैश्य-पुत्र को दो अथवा एक।"

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में असवर्ण विवाह समाज में प्रचलित थे, यहाँ तक कि शूद्र भी ब्राह्मणी से विवाह कर सकता था। किन्तु समय के फेर से ज्यों-ज्यों अज्ञाना-न्धकार छाने लगा त्यों-त्यों उच्च वर्ण के लोगों में अहं भाव का संचार होने लगा। इसी भाव से प्रेरित होकर समाज के संचालकों ने प्रति-लोम, अनुलोम आदि विवाहों को बन्द करने के लिए 'वर्णसंकर' का

सिद्धान्त बना लिया। ऐसे विवाहों की सन्तान को तत्कालीन असभ्य व जंगली जातियों से सम्बन्धित करने के कारण जनसाधारण भी उनसे घृणा करने लगे।

आठ प्रकार के विवाह—प्रतिलोम, अनुलोम आदि असवर्ण विवाहों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों ने और आठ प्रकार के विवाह माने हैं जैसे ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच। मनुस्मृति (३।२७–३४) में इन विवाहों का वर्णन इस प्रकार दिया है—"कन्या को सुन्दर वस्त्र पहनाकर और उसकी पूजा करके किसी श्रुतिशीलवान को स्वयं बुलाकर उससे कन्या का विवाह करना 'ब्राह्म-विवाह' कहलाता है। जबकि अच्छी तरह से यज्ञ किया जा रहा हो तथा ऋत्विक् अपना कार्य करता हो तब उस ऋत्विक् को वस्त्र-आभूषण आदि से सजी हुई कन्या देना 'दैव-विवाह' कहलाता है। एक या दो गोमिथुन वर से धर्मपूर्वक लेकर यथाविधि उसे कन्या देना 'आर्ष-विवाह' कहलाता है। 'दोनों एक साथ धर्माचरण करो' इन वचनों को कहकर पूजा करके जो कन्या दी जाती है, वह 'प्राजापत्य' विवाह कहलाता है। सम्बन्धियों व कन्या को यथाशक्ति धन देकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जो कन्या प्राप्त की जाती है उसे 'आसुर-विवाह' कहते हैं। कन्या व वर का अपनी-अपनी इच्छा से जो संयोग होता है, वह 'गान्धर्व-विवाह' है। यह मैथुन्य व काम-सम्भव है। मार-पीट व अंग छेदन करके दीवारादि तोड़ चिल्लाती व रोती कन्या को ज़बरदस्ती घर से ले जाना 'राक्षस-विवाह' कहलाता है। सुप्त, मत्त या प्रमत्त कन्या से एकान्त में मैथुन-निमित्त जो विवाह किया जाता है, वह सबमें अधम पापिष्ठ 'पैशाच-विवाह' है।" इन विवाहों के उल्लेख से भी सामाजिक उदारता का पता लगता है। विवाह के लिए योग्य नियम थे, जिनका पालन करना प्रत्येक का कर्तव्य था। किन्तु यदि नियमों के विरुद्ध भी किसी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो जाता, तो समाज उन्हें ठुकराता नहीं था; मनुष्य से भूल होती है, इस सिद्धान्त को मानकर उन्हें समाज

में स्थान मिलता था। स्त्री व पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के मार्ग में समाज रोड़ा बनना नहीं चाहता था। ऐसा करने से समाज में अधिक अशान्ति नहीं फैल पाती थी। गान्धर्व, राक्षस, पैशाच आदि विवाहों का मान्य किया जाना इसी भाव का द्योतक है।

बारह प्रकार के पुत्र—बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता देना भी सामाजिक उदारता का अच्छा नमूना है। प्राचीन भारतीय समाज ने उन पुत्रों को यथायोग्य स्थान दिया था। मनुस्मृति (९।१५८–१६०, १६६-१७८) ने उन पुत्रों का वर्णन इस प्रकार किया है—"स्वायम्भुव मनु ने जिन बारह पुत्रों का वर्णन किया है, उनमें से छः 'बन्धुदायाद' हैं व छः 'अदायादबन्धु' हैं। औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, और अपविद्ध ये छः दायाद व बान्धव हैं। कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र ये छः 'अदायाद-बान्धव' हैं। अपने ही क्षेत्र में संस्कार से परिशुद्ध स्त्री में स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे 'औरस' पुत्र जानना चाहिए जिसे प्रथम स्थान दिया जाता है। मृत, नपुंसक, रोगी आदि की पत्नी से जो गुरु द्वारा यथाविधि किये गए नियोग से उत्पन्न होता है वह 'क्षेत्रज' कहलाता है। आपत्काल में माता-पिता प्रीतिपूर्वक अपने जाति वाले को जल द्वारा अपने जिस पुत्र को दे दें वह 'दत्तक' पुत्र कहलाता है। गुण-दोष को समझने वाले व पुत्र-गुणों से युक्त अपने जाति वाले को पुत्र बनाने पर वह 'कृत्रिम' कहलाता है। जो घर में पैदा हो किन्तु किसका है यह ज्ञान न हो, वह उसी का होता है जिसकी पत्नी से उत्पन्न हुआ हो, व उसे 'गूढ़ोत्पन्न' कहते हैं। माता-पिता या उनमें से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र को यदि स्वीकार किया जाय तो वह 'अपविद्ध' कहलायगा। पिता के घर कन्या छिपकर जिस पुत्र को उत्पन्न करे, उसे अपने से विवाह करने का 'कानीन' पुत्र बतावे। जान या अनजान में जिस गर्भिणी का विवाह-संस्कार हो जाता है, उसका गर्भ उससे विवाह करने वाले का हो जाता है, व उत्पन्न पुत्र 'सहोढ़' कहलाता है। माता-पिता के पास से जिसे

पुत्र बनाने की इच्छा से खरीदा जाता है, वह 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है। चाहे वह खरीदने वाले की जाति का हो या न हो। जो पति से से त्यागी गई है या विधवा है, वह अपनी इच्छा से किसी दूसरे से विवाह करके जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, वह 'पौनर्भव' कहलाता है। माता-पिता-विहीन या बिना कारण माता-पिता का त्यागा हुआ वह अपने को जिसे दे दे उसी का 'स्वयंदत्त' पुत्र हो जाता है। ब्राह्मण इच्छापूर्वक शूद्रा में जिस पुत्र को उत्पन्न करे वह 'पारशव' कहलाता है कि वह जीवित रहते हुए भी शव के ही समान है।" इन पुत्रों को स्थान देकर समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया है। प्राचीन काल मे नैतिकता का भाव इतना कुण्ठित नहीं था, जितना कि आजकल है। वहाँ तो सबके हित पर दृष्टि रखी जाती थी। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश माना जाता था। इसीलिए प्रत्येक बालक, चाहे उसके पैदा करने वालों ने सामाजिक नियमों का उल्लङ्घन करके ही उसे क्यों न पैदा किया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किये जाने का अधिकारी माना जाता था। समाज माता-पिता के अपराध के लिए उस बालक को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था जैसा कि आजकल किया जाता है। आजकल कितने ही कानीन व पौनर्भव पुत्र निर्दयतापूर्वक मार डाले जाते हैं। आधुनिक समाज इन्द्रिय-निग्रह का पाठ सिखाने के बदले गरीब शिशुओं की हत्या में ही धर्म की रक्षा समझता है। धर्म के ठेकेदारों को चाहिए कि कर्ण व ईसा के के समान कानीन पुत्रों व कबीर के समान पौनर्भव पुत्रों के जीवन पर विचार करें और सोचें कि उनके समाज में धर्म के नाम पर कदाचित् कर्ण, कबीर आदि का गला घोंट दिया गया होगा। इन सब बातों से पता लगता है कि सामाजिक व्यवस्था जहाँ उच्चतम नैतिक आदर्शों पर अवलम्बित थी, वहाँ उसमें मनुष्य की गलतियों के लिए भी स्थान था। भ्रमवशात् यदि किसी से कोई गलती हुई तो समाज उसे हेय नहीं समझता था, किन्तु एक उत्तम डॉक्टर के समान उसकी

गलतियों का विचार करके उसे आत्म-सुधार के मार्ग में प्रवृत्त करता था। यही सामाजिक उदारता है, जोकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ओत-प्रोत थी। यही कारण है कि कानीन, सहोढ़ तथा गूढ़ज आदि पुत्रों को भी समाज में स्थान दिया गया।

नियोग—पति के मरने, विदेश चले जाने, नपुंसक हो जाने या रोगग्रस्त हो जाने पर निस्सन्तान स्त्री को अधिकार था कि वह किसी धर्मनिष्ठ, विद्वान् व योग्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त करे। इस प्रकार के उत्पादित पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाते थे। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अनुसार पुत्र-प्राप्ति अत्यन्त ही आवश्यक मानी जाती थी। निस्सन्तान के लिए कोई स्थान नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१३-१८) आदि में इसका विशद विवेचन किया है। प्राचीन इतिहास में कितने ही क्षेत्रज पुत्रों का उल्लेख है। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव आदि पाण्डव भी क्षेत्रज थे। इस प्रथा पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पारिवारिक जीवन की श्रृङ्खला को बनाये रखने तथा निसर्ग-सिद्ध जनन-शक्ति के विकास के लिए यह प्रथा आवश्यक है।

समाज में अन्यों को स्थान—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में जन्म के सिद्धान्त को कोई महत्त्व नहीं दिया गया था। वह सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था मनुष्य-मात्र के लिए थी। कोई भी व्यक्ति उसमें सम्मिलित हो सकता था। आजकल के समान, गोरा हब्शी, चीनी आदि जातीय द्वेषों को बढ़ाने वाले भावों ने समाज में प्रवेश नहीं किया था। विदेशियों व असभ्य जातियों को भी सुसंस्कृत बनाकर समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था तथा उन्हें सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार भी दिये जाते थे। ऋग्वेद से पता चलता है कि धीरे-धीरे दस्यु, दास आदि आर्यत्व के रंग में रँग दिये गए थे (ऋग्वेद १।१०२।९; ३।३२।१४; ६।३३।३ ६।२२।१०; ७।८३।१)। पुराणों में शकादि विदेशियों को भारतीय संस्कृति में रंग दिये जाने का उल्लेख कितने ही स्थानों पर है। इसी उदारता के परिणामस्वरूप यूनानी हिलियोडोरो

(ई० पू० प्रथम शताब्दी) 'परम भागवत' की पदवी धारण करके पक्का वैष्णव बन गया। बेसनगर (मध्य भारत में भेलसा के पास) में उसका विष्णुध्वजस्तम्भ व उस पर खुदा प्राकृत लेख आज भी इस बात की साक्षी दे रहा है। शक, हूण, आभीर, पोर्चगीज़ आदि कितनी ही विदेशी जातियाँ भारतीय सामाजिक संगठन द्वारा पचा ली गई जिनके वंशज आज अपने को भारतीय संस्कृति के परम भक्त मानते हैं।

समाज में प्रगतिशीलता—प्राचीन भारतीय समाज एक जीवित एवं प्रगतिशील संस्था के रूप में उपस्थित होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो समाज के संचालन के लिए वेद ही सब-कुछ थे, किन्तु सामाजिक विकास के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता थी। जिन नियमों द्वारा समाज सञ्चालित किया जाता था, उन्हें धर्म कहते थे। साधारणतया, वेद को धर्म मान लिया गया था। किन्तु, देश-काल के अनुसार परिवर्तनशीलता व विभिन्नता को भी पूरा-पूरा स्थान दिया गया था। विभिन्न धर्म-सूत्रों व स्मृतियों का अस्तित्व इस बात की पुष्टि करता है। प्राचीन आचार्यों ने भी धर्म-प्रामाण्य के बारे में लिखते समय इसी भावना को स्थान दिया है। मनु (मनु० २।१२,१३) इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं—"सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल हैं, वेदज्ञों की स्मृति व उनका शील भी। इसी प्रकार साधुओं का आचार व आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है। वेद, स्मृति सदाचार व जो-कुछ आत्मा को प्रिय लगे वह भी प्रमाणरूप माने जाते थे।" इस प्रकार धर्म-प्रामाण्य में वेदों का स्थान सबसे ऊँचा था। तत्पश्चात् स्मृति का स्थान था। वे ही स्मृतियाँ प्रमाण मानी जाती थीं, जो वेदों के विरुद्ध न थीं। किन्तु सदाचार याने विद्वान् सज्जनों का आचरण व अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे वह भी प्रमाण-रूप माने जाते थे। इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में भारतीय समाज में विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा-पूरा स्थान दिया गया था और नये-नये परिवर्तनों को भी अपना लिया जाता था। कभी-कभी इन सबके लिए श्रुति-प्रमाण भी मिल जाता था। फिर समाज में यह

भाव भी प्रचलित था कि वेदों की कितनी ही शाखाएँ लुप्त हो गई हैं। इसलिए यदि किसी के लिए कोई श्रुति प्रमाण न मिलता, तो उसे किसी लुप्त श्रुति से सम्बन्धित कर दिया जाता था। इस प्रकार समाज में नई-नई बातों का भी प्रवेश करा दिया जाता था। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रथा अप्रिय हो जाती तो उसे 'कलिवर्ज' कहकर रोक दिया जाता था। नियोग, अनुलोम, प्रतिलोम आदि विवाहों का यही हाल हुआ ? धर्मसूत्र-स्मृत्यादि का बाहुल्य तथा मध्यकालीन टीकाकारों व निबन्धकारों की बड़ी संख्या इस बात की साक्षी देती है कि प्राचीन भारतीय समाज जीवित-जागृत संस्था था, जहाँ विचार-स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान था।

(२)
समाज में स्त्रियों का स्थान

स्त्री व सामाजिक जीवन—जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष का कार्य अपूर्ण ही रहता है उसी प्रकार स्त्री के बिना मनुष्य का जीवन भी अपूर्ण ही है। प्राचीन भारत ने जैसा समाज में स्त्री के स्थान को समझा था, वैसा और किसी के स्थान को समाज ने कभी नहीं समझा। किसी ने उसे अपनी मिलकियत समझकर घर के अन्दर बन्द रखना ही ठीक समझा, किसी ने खिलौना समझकर उससे जीवन-भर खिलवाड़ की, और किसी ने उसे ऐश-आराम की चीज समझकर खूब चैन की बन्सी बजाई। किन्तु प्राचीन भारत ने उसके सच्चे दर्शन किये एवं उसे समाज में समुचित स्थान दिया।

जीवन-गाड़ी के दो पहिये—स्त्री व पुरुष जीवन-गाड़ी के दो पहिये माने गए थे। दोनों पहिये बराबर रहने चाहिएँ व साथ-साथ चलने चाहिएँ, तब तो जीवन-गाड़ी अच्छी तरह चल सकती है। इसीलिए स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा। शतपथ ब्राह्मण (५।२।१।१०)

लिखा है कि "पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इसलिए जब तक मनुष्य पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।" महाभारत (आदि पर्व ७४।४०) में लिखा है कि "भार्या मनुष्य का आधा भाग है व श्रेष्ठतम मित्र है। वही त्रिवर्ग की जड़ है, वही तारन हारी है।" इसी प्रकार मन्वादि स्मृतियों में भी लिखा है। पुरुष को कहीं इस बात का घमण्ड न हो जाय कि वह अधिक शारीरिक शक्ति रखता है, इसलिए स्त्री पर उसका अधिकार रहना चाहिए। जबकि स्त्री उसीका आधा अङ्ग है, तब अधिकर्ता व अधिकृत का भाव रह ही नहीं सकता। वे तो दोनों ही बराबर हैसियत रखते हैं। स्त्री व पुरुष एक ही पारिवारिक जीवन के दो विभिन्न पहलू हैं। पारिवारिक जीवन में दो प्रकार की जिम्मेवारियाँ रहती हैं—आन्तरिक जीवन-सम्बन्धी और बाह्य जीवन-सम्बन्धी, जिनसे क्रमशः स्त्री व पुरुष सम्बन्धित रहते हैं। पारिवारिक सुख तथा शान्ति के लिए जीवन के दोनों पहलुओं का सुचारु सञ्चालन अत्यन्त ही आवश्यक है। यदि दो में से किसी एक में कमी रही तो जीवन दुःखमय हो जाता है।

गृहिणी—परिवार के सदस्य घर में रहकर जो-कुछ करते हैं या उनके लिए जो-कुछ किया जाता है, वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन में समाविष्ट हो जाता है। स्त्री-पुरुष के एक-साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है। ज्यों-ज्यों सन्तान-वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों उसका आन्तरिक जीवन भी विकसित होने लगता है। इस जीवन का सम्बन्ध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है। उसे ही परिवार के छोटे-बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती है। उसे अपने घर को साफ-सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना और अतिथि-सत्कार के उत्तरदायित्व को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करके उन्हें योग्य नागरिक और समाज-सेवक बनाने का प्रयत्न भी करना पड़ता था। परिवार के छोटे-बड़े सब सदस्यों की चिन्ता उसे ही

करनी पड़ती थी। इन सब घरेलू बातों की जिम्मेवारी स्त्री पर ही रहती थी। इसीलिए उसे गृहिणी-पद पर सुशोभित किया गया था। महाभारत (शान्ति० १४४।६६) में लिखा है कि "घर घर नहीं है, गृहिणी घर कही जाती है।" मनुस्मृति (३।५६-६२) शाकुन्तल (४।१८) आदि में स्त्री के गृहिणी-पद का सुन्दर विवेचन किया है। आजकल भी बोल-चाल की भाषा में वह 'घर वाली' कहलाती है। प्राचीन सामाजिक जीवन में गृहिणी-पद अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि उस समय का पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था। इसलिए साधारणतया स्त्री को कपड़ा बुनना, गाय दुहना और कृषि-सम्बन्धी बहुत-से कामों की जिम्मेवारियाँ उठानी पड़ती थीं। बाह्य जीवन का भार स्त्री नहीं उठा सकती थी; क्योंकि निसर्ग ने उसे घर के ही लिए बनाया है। बालक को नौ मास गर्भ में धारण करके उसे जन्म देना और तत्पश्चात् कितने ही दिनों तक अपना अधिकांश समय उसी की सेवा में व्यतीत करना आदि बातें बताती हैं कि द्रव्योपार्जन आदि उदर-निर्वाह के साधन जुटाना उसकी मर्यादा के बाहर के काम हैं। ये काम तो पुरुष के लिए बनाये गए हैं, क्योंकि स्वभावतः ही वह उस योग्य है। यदि स्त्री घर की सब जिम्मेवारियाँ अपने सिर पर न उठाए तो पुरुष को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि स्त्री भी उसके समान उदर-निर्वाह के साधन ढूँढने बाहर जाय तो घर का आन्तरिक जीवन कदाचित् शून्य के बराबर ही रहेगा, जैसा कि आजकल पाश्चात्य रंग-में-रँगे हुए परिवारों में दिखाई देता है।

माता—गृहिणी-पद के अतिरिक्त निसर्ग ने स्त्री को मातृ-पद के योग्य भी बनाया है। 'माता' शब्द पारिवारिक जीवन के लिए अमृत का भाण्डार है। वह क्या है, मानो परिवार के लिए त्याग, तप और प्रेम की त्रिवेणी ही है। जिसे इस त्रिवेणी के पवित्र प्रेम-जल में स्नान करने का सौभाग्य न मिला हो, उससे अधिक अभागा और दूसरा न होगा। माता और पुत्र का जो परस्पर प्रेम रहता है, उसी से पारिवारिक जीवन

अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है। वह अपने लिए जीवित नहीं रहती बल्कि अपने परिवार के लिए, अपने पुत्रों के परिवार के लिए। पारिवारिक सुख को बढ़ाने में वह कोई बात उठा नहीं रखती। अपने बच्चों के पालने-पोसने में वह सब कष्टों को हँस-हँसकर झेलती है, क्योंकि उन्हें सुयोग्य बनाने की जिम्मेवारी उसी पर रहती है। इस प्रकार मातृत्व का पद उसे पारिवारिक जीवन का केन्द्र बना देता है। प्राचीन भारत में स्त्री के पद को भी अच्छी तरह से समझा गया था, और इसका महत्त्व और विवेचन सूत्र-स्मृत्यादि साहित्य में किया गया है।

सहचरी—स्त्री को उपरोक्त दो पदों के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था और वह था पुरुष की सहचरी का। गृहिणी एवं माता की जिम्मेवारियों से उसका जीवन नीरस न हो जाय तथा परिवार के बाह्य जीवन के झंझटों में रात-दिन पड़े रहने से उसके पति का जीवन भी नीरस न हो जाय, इसलिए वह पति की सहचरी बनकर जीवन-सौख्य का आनन्द लेती थी। प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य एवं माधुर्य दिया है, उसे अपने प्रयत्नों से ललित कला आदि के रूप में परिणत करके वह जीवन के दुःखो को भुलाने में समर्थ होती थी। उसका सौन्दर्य और माधुर्यपूर्ण प्रेम, जो उसके अङ्ग-अङ्ग से टपकता था, पति की दिन-भर की चिन्ताओं और झंझटों को भस्मसात् करने में समर्थ होता था। पुरुष ऐसी सहचरी पाकर अपना दुःख आधा और सुख दुगुना कर लेता था। यह साहचर्य किसी एक दिशा में ही परिसीमित नहीं था; उसका सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक पहलू से था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र (२।६।१३। १६-१७), महाभारत (आदि० ७४।४०) आदि प्राचीन ग्रन्थों में स्त्री के सहचरी-पद का अच्छा विवेचन किया गया है। विवाह-संस्कार के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में स्त्री की तीनों हैसियतों पर विशेष रूप में ध्यान रखा गया था। विवाह-संस्कार की सप्तपदी, अश्मारोहण, ध्रुव-दर्शन आदि रस्में ध्यान देने योग्य हैं।

सप्तपदी में वरवधू धीरे-धीरे सात कदम एक-साथ चलते हैं और निश्चय करते हैं कि उनका साथ आजन्म निभेगा, तथा एक-दूसरे को सुखी बनाने में कुछ बाकी न रखा जायगा। इसी रस्म से स्थायी मैत्री के अर्थ में 'साप्तपदीनं सख्यम्' शब्द का प्रयोग संस्कृत में प्रारम्भ हुआ। इस रस्म के पूरा होने पर ही कानून की दृष्टि से विवाह पूरा समझा जाता है। अश्मारोहण में वधू के पैर को वर पत्थर पर रखता है और उसके पैर के अँगूठे को अपने हाथ से पकड़कर कहता है कि "पत्थर के समान स्थिर बनो। जिस प्रकार पत्थर में दृढ़ता, स्थैर्य और अपने स्थान पर डटकर रहने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार वधू को अपने गृहस्थाश्रम में स्थिर बनने के लिए कहा जाता था। ध्रुव-दर्शन का तात्पर्य था कि वधू स्वाभाविक चञ्चलता के वशीभूत होकर दृढता को न छोड़े। इसके पश्चात् वर-वधू को सन्तानोत्पत्ति तथा वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति आदि से सम्बन्धित कितने ही प्रण करने पड़ते थे (ऋ० १०।८५।३६; अथर्व० १४।१।५०; आश्व० गृ० १।७।३)। विभिन्न रस्मों के समय जो वेद-मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६; ऋ० १०।८५।३६-४२; अथर्व० १४।१।४७-४८,५०; यजु १।७१; तैत्ति० ब्रा० २।२।५।५-६) पढ़े जाते थे, उनमें स्त्री के गृहिणी, माता और सहचरी के पदों का स्पष्ट विवेचन है। ये भाव पहले ही से वधू के मन पर अङ्कित कर दिए जाते थे, जिससे नये जीवन में प्रवेश करने के पहले वह अपने ऊपर आने वाली जिम्मेवारियों को भी भली भाँति समझ ले। विवाह स्त्री-पुरुष को आजीवन-बन्धन में बाँध देता था। वह एक धार्मिक कृत्य तथा जीवन की जिम्मेवारियों को सबके सामने सहर्ष स्वीकार करने का सुवर्ण अवसर था।

स्त्री-जीवन का उद्देश्य और उत्तरदायित्व—प्राचीन भारत की स्त्री विवाह के समय ही समझ जाती थी कि उसे विवाहित-जीवन में केवल इन्द्रिय-लोलुपता को तृप्ति ही नहीं करनी है, अपितु गृहिणी, माता तथा सहचरी के उत्तरदायित्व को भी उठाना है। वह आदर्श गृहिणी, आदर्श माता और आदर्श सहचरी बनने में अपना गौरव समझती थी। गृहिणी

के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए वह अधिकांश समय घर की देख-भाल में बिताती थी और उसे स्वर्ग-तुल्य बनाती थी। वह माता और सहचरी के उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह से निबाहती थी। इसीलिए मनु (३।५५-६२) ने स्त्रियों के लिए कहा है—"बहुत कल्याण चाहने वाले पिता, भ्राता, पति तथा देवर आदि इन स्त्रियों का आदर करें। जहाँ नारियां पूजी जाती हैं, वहां देवता रमण करते हैं। जहाँ इन्हें पूजा नहीं जाता वहां सब कार्य निष्फल होते हैं। जहाँ स्त्रियाँ दुखी रहती हैं वह कुल शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है। जहां ये दुखी नहीं रहतीं वह कुल वृद्धि को प्राप्त होता है। जिन घरों में अपमानित होकर स्त्रियां श्राप देती हैं, वे पूर्णतया नाश को प्राप्त होते हैं, मानो किसी कृत्या ने उनका विध्वंस किया हो। इसलिए आभूषण, वस्त्र तथा भोजन आदि द्वारा उत्सव आदि पर उन लोगों द्वारा जो, कल्याण की इच्छा रखते हैं, इनकी सदा पूजा की जानी चाहिए। जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी सदा सन्तुष्ट हों वहां निश्चित रूप से कल्याण रहता है। यदि स्त्री-पुरुष को न रुचे और वह उसे प्रसन्न न करे तो इस अप्रसन्नता से कुल वृद्धि नहीं हो सकती। स्त्री के रुचने पर सम्पूर्ण कुल अच्छा लगता है, उसके न रुचने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता।" इस प्रकार मनु ने स्पष्ट भाषा में स्त्री के स्थान, उत्तरदायित्व और उसके साथ किये जाने वाले व्यवहार आदि का अच्छा विवेचन किया है।

स्त्री का महत्त्व—विवाह के पश्चात् से स्त्री-पुरुष को प्रत्येक पारिवारिक कार्य में एक-साथ रहना पड़ता था। स्त्री की अनुपस्थिति में कोई भी धार्मिक कार्य नहीं हो सकता था। पारिवारिक जीवन में स्त्री का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। कालिदास ने स्त्री के महत्त्वपूर्ण स्थान का वर्णन 'अज-विलाप' के अवसर पर अज के मुख से इस प्रकार करवाया है (रघु० ८।६७)—"गृहिणी, सचिव, सखी और ललित-

कला सीखने में तू मेरी प्रिय शिष्या थी। निर्दय भाग्य ने तुझे मुझसे छीनकर मेरा क्या न छीना ?"

स्त्री का कार्य-क्षेत्र परिवार तक ही सीमित नहीं था, समाज से भी उसका पूरा सम्बन्ध था। पुरुष के समान उसका भी वैयक्तिक व सामाजिक जीवन रहता था। उसे वेद पढ़ने व उपनयन आदि संस्कारों द्वारा सुसंस्कृत बनने का अधिकार था। पुरुष के साथ उसे भी तीन ऋण चुकाने पड़ते थे तथा शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का सम्यक् विकास करना पड़ता था। वह पति के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर आत्म-विकास के मार्ग में अग्रसर होती थी। स्त्री अपना हर प्रकार से विकास कर सकती थी। स्त्री-शिक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध किया जाता था। स्त्रियों के लिए भी गुरुकुल रहते थे। पाणिनि ने उपाध्याय शब्द के दो स्त्रीलिङ्ग रूप बताये हैं—एक 'उपाध्याया' अर्थात् उपाध्याय की पत्नी, दूसरा "उपाध्यायानी" अर्थात् उपाध्याय के समान अध्यापन-कार्य करने वाली (अष्टाध्यायी ४।३।२२ पातञ्जल भाष्य)। मनु (२।१४१) कहते हैं "जो वेद के एक भाग अथवा वेदाङ्गों को जीविका के लिए पढ़ाता है वह उपाध्याय कहलाता है।" इससे स्पष्ट है कि कुछ स्त्रियाँ जीविका के लिए अध्यापन-कार्य भी करती थीं। अथर्ववेद (३।५।१८) में लिखा है कि "ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने पर कन्या युवा पति को प्राप्त होती है।" इस प्रकार वेदाभ्यास लड़कियों के लिए भी अनिवार्य-सा था।

पातिव्रत्य तो भारतीय स्त्रियों का जीवन-सर्वस्व था। प्राचीन भारतीय गार्हस्थ्य सौख्य का रहस्य पातिव्रत्य व दाम्पत्य-प्रेम में छिपा है। पति के चुनने में उसे स्वतंत्रता रहती थी। कहीं-कहीं स्वयंवर-प्रथा भी थी। एक बार पति चुन लिया कि फिर आजन्म साथ निबाहना पड़ता था। सती-प्रथा भी प्राचीन काल में प्रचलित थी। स्त्री-जीवन को मिट्टी में मिलाने वाली कुप्रथाएँ प्राचीन भारत में नहीं थीं। बाल-विवाह वृद्ध-विवाह आदि अज्ञात थे। विधवाओं का भी कोई विशेष प्रश्न नहीं

था। एक तो वृद्ध-विवाह की प्रथा नहीं थी, दूसरे साधारणतया सती की प्रथा थी। इससे विधवाओं की संख्या बढ़ नहीं पाती थी। फिर भी नियोग द्वारा वे सन्तान प्राप्त कर सकती थीं। इस प्रथा के बन्द होने पर विधवा-विवाह की प्रथा चल पड़ी। मनु तथा पराशर आदि स्मृतिकारों ने 'पौनर्भव' पुत्र को मान्यता देकर विधवा-विवाह की स्वीकृति दी है।

प्राचीन स्त्रियाँ—प्राचीन भारत की स्त्रियाँ माता, गृहिणी आदि के उत्तरदायित्व का अच्छी तरह से निर्वाह करती थीं। बालक के गर्भ में आते ही मातृत्व की जिम्मेवारियाँ प्रारम्भ हो जाती थीं। माता बालक को अपने दूध के साथ उत्तम-उत्तम आदर्शों का पान भी करा देती थी। ध्रुव, प्रह्लाद, राम, कृष्ण आदि विभूतियों का बहुत-कुछ गौरव बालपन की शिक्षा ही के कारण था। तारा, कौशल्या, मन्दोदरी, सीता, द्रौपदी आदि के गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता का कारण गृहिणी-पद का सम्यक् निर्वाह ही था। संयुक्त-परिवार-प्रथा में तो गृहिणी के उत्तरदायित्व बढ जाते हैं। विद्याध्ययन आदि के क्षेत्र में भी प्राचीन स्त्रियों ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। मन्त्रद्रष्ट्री, दार्शनिका, कवयित्री, गणितज्ञा आदि के रूप में प्राचीन स्त्रियाँ भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अमर हो गई हैं। विश्ववारा आत्रेयी (ऋ० ५।२८), अयाला आत्रेयी (ऋ० ८।८०।९१), घोषा काक्षीवती (ऋ० १०।३९-४०), सिकता निवावरी, यमी वैवस्वती आदि मन्त्रद्रष्ट्रियों के वेद-मंत्र आज भी ऋग्वेद में वर्तमान हैं। दर्शन-शास्त्र के इतिहास में गार्गी व मैत्रेयी के नाम अमर हैं। शरीरिक शक्ति व वीरता के क्षेत्र में कैकेयी आदि ने अपना गौरव प्रदर्शित किया है और सीता राम के साथ जंगल-जंगल भटकी। पति-प्रेम व पति-निष्ठा में भी प्राचीन स्त्रियों ने कुछ कम प्रशंसा प्राप्त नहीं की है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण सावित्री के जीवन में मिलता है। सावित्री, सीता, मन्दोदरी, द्रौपदी आदि आदर्श सतियाँ मानी जाती हैं।

आधुनिक ललना—भारतीय स्त्रियों का प्राचीन वैशिष्ट्य आज भी कुछ अंशों में वर्तमान है। आधुनिक भारतीय ललना पति की सहचरी

का आदर्श दुनिया के सामने रख सकती है। इस गिरी हुई हालत में भी उसमें जो तप, त्याग, पति-निष्ठा आदि के भाव कूट-कूटकर भरे हैं, वे अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। स्त्रियों ने प्राचीन आदर्शों को बहुत-कुछ सँभाल रखा है, किन्तु पुरुष उनसे च्युत हो गए हैं। स्त्री को कितने ही दुःख सहने पड़ते हैं। पति मूर्खता के कारण उसे ठुकराता है तथा पर-स्त्री-गमन आदि दोषों से असह्य कष्ट भी देता है। वह सब यातनाएँ मूक भाव से सह लेती है।

उपसंहार—सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों को समुचित स्थान दिया गया था। पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उनकी उपयोगिता का विचार करके उन्हें आदर्श गृहिणी, आदर्श माता व आदर्श सहचरी बनाने की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारत के लोग स्त्रियों का आदर करना भी जानते थे। स्त्री-शिक्षा की उत्तम व्यवस्था की गई थी। आजकल भारतीय स्त्रियों की जो शोचनीय व दयनीय स्थिति है, वह प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों के बिलकुल विपरीत है।

(३)
अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का कलङ्क—जिस देश में मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धान्त विकसित हुए हों, ऊँची-से-ऊँची सामाजिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ हो, वहीं मानव-समाज के एक अङ्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराया जाय, यह तो अत्यन्त ही दुःख व आश्चर्य की बात है। मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकारी भारतीय संस्कृति पर अस्पृश्यता बड़ा भारी लाञ्छन है। वेद और स्मृति को मानने वाले उच्चवर्णीय समाज के एक अङ्ग को तोड़कर फेंकने में जरा भी नहीं हिचकिचाते, किन्तु उसे धार्मिक कृत्य मानते हैं। इस मनो-

वृत्ति के कारण समाज व राष्ट्र का कितना अहित हो रहा है यह किसी से छिपा नहीं है।

प्राचीन भारत में अस्पृश्यता का अभाव—यह निष्पक्ष भाव से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में अस्पृश्यता को कोई स्थान न था। वेद तथा तदनुकूल स्मृत्यादि में कहीं भी उसका उल्लेख नहीं है। जहाँ 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त चरितार्थ किया जाता हो, वहाँ समाज के एक बड़े अङ्ग को तोड़कर फेंक देने का आदेश हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक मानी जाती थी। समाज को एक जीवित पुरुष मानकर चार वर्ण उसके चार अङ्ग माने जाते थे। 'पुरुष-सूक्त' (ऋ० १०।६०।११) में शूद्रों को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न हुए बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि समाज को शूद्र की नितान्त आवश्यकता थी। उसका बहिष्कार करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। अथर्व वेद (१६।६२।१) में लिखा है कि "मुझे देवताओं में प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूँ, चाहे आर्य हों, चाहे शूद्र हों।" इसमें भी शूद्रों के प्रति अच्छे व्यवहार का स्पष्ट उल्लेख है। शूद्र के प्रति घृणा के भाव का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यजुर्वेद (२६।२) में लिखा है कि "मैंने यह कल्याणकारी वाणी मनुष्यों के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अरण आदि के लिए कही है। देवताओं को दक्षिणा देने वाले का मैं प्रिय बनूँ, मेरे काम की समृद्धि हो व उपमाद कम हो।" यहाँ शूद्रों को भी वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है। यजुर्वेद (३०।७) में विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोगों का उल्लेख है जैसे कुम्हार, लुहार, जड़िया, बाग बनाने वाला, धनुष बनाने वाला, धनुष की रस्सी बनाने वाला, शिकारी आदि। इसी प्रकार चाण्डाल का भी उल्लेख आता है। (यजु० ३०।२१) इन उल्लेखों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन व्यवसाय करने वालों को हेय, घृणास्पद या अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। यजुर्वेद में तो उनके नामों के साथ

उनके विभिन्न कार्यों का उल्लेख भी है। आजकल उनमें से कुछ (कुम्हार, चाण्डाल, शिकारी आदि) अवश्य अस्पृश्य माने जाते हैं।

इन उद्धरणों के अतिरिक्त वेदों में कितने ही स्थलों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि शूद्र अस्पृश्य नहीं समझा जाता था और न घृणा का पात्र ही, अपितु उसे भी समाज में स्थान प्राप्त था। विभिन्न वर्णों के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आपस में रोटी-बेटी-व्यवहार करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी मालूम होता है कि शूद्रों को सताया नहीं जाता था; उन्हें समाज का आवश्यक अङ्ग समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण (५।४।६।६) में लिखा है कि ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भूः' से, वैश्य 'भुवः' से व शूद्र 'स्वः' से उत्पन्न हुए हैं। राज्याभिषेक के समय नौ रत्नियों में शूद्रों का भी स्थान था (तैत्तिरीय सं० १।८।६।१-२, तैत्तिरीय ब्रा० १।७।३, शतपथ ब्रा० ५।३।१)। मनु (१।३१), ने 'पुरुष सूक्त' के समान वर्णों की उत्पत्ति बताते हुए शूद्र को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न बताया है। प्राचीन साहित्य में प्रतिलोम तथा अनुलोम विवाहों के उल्लेख से मालूम होता है कि प्राचीन काल में शूद्र उच्च वर्णों से विवाह भी कर सकता था। इसी प्रकार खान-पान के सम्बन्ध में भी कोई रुकावट नहीं थी। शूद्र भोजनादि भी बना सकता था।

शूद्रों के अधिकार—वैदिक संहिताओं से पता चलता है कि 'रथकार' को बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।४।८) में शूद्र के 'अग्न्याधान' के लिए भिन्न समय निर्दिष्ट हैं। उसका यज्ञोपवीत संस्कार भी हो सकता था। सूत्र-काल में भी उसे बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। गौतम धर्मसूत्र (२।१, ५।४) में लिखा है कि "शूद्र के लिए भी सत्य, अक्रोध, शौच और श्राद्ध कर्म है।" कुछ आचार्यों के मतानुसार वे पाक यज्ञ भी कर सकते हैं। महाभारत (शान्ति ५०।४०) में लिखा है कि "इसलिए शूद्र स्वयं जनेऊ धारण करके पाक-यज्ञ कर सकता है।" इस प्रकार शूद्रों को कितने ही धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। धीरे-धीरे शूद्रों में भी 'सत् शूद्र,' तथा 'असत् शूद्र' दो भेद हो गए।

कुछ स्मृतिकारों के मत में केवल 'सत्-शूद्र' ही यज्ञ कर सकते थे। इसी प्रकार 'श्राद्धी शूद्र' और 'अश्राद्धी' का भी भेद हो गया। वीर-मित्रोदय, जातूकर्णी आदि मध्यकालीन लेखकों के मतानुसार शूद्र संस्कार भी कर सकते थे। साधारणतया शूद्र के लिए दास्य-कर्म विहित था; किन्तु व्यवहार में वह कोई भी कर्म कर सकता था। गौतम (१०।१६) तथा विष्णु-स्मृति (२।१४) में शूद्र व्यापारियों का उल्लेख आता है। मनुस्मृति (१।९१; १०।२०) में शूद्र के लिए 'दास-कर्म' व 'शिल्प-वृत्ति' विहित है।

अस्पृश्यता के भाव का उदय—उपरोक्त प्रमाणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी और समाज के किसी भी अङ्ग को अस्पृश्य नहीं माना जाता था। इतिहास से पता चलता है कि मुस्लिम-आक्रमणों के पूर्व तक जितने भी विदेशी आये उन सबको समाज पचा गया। मुसलमानों के आने पर उसे मन्दाग्नि रोग हो गया और उसका शरीर सड़ने लगा। समाज को आत्मरक्षा की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। युद्ध आदि में ही जीवन व्यतीत हो जाता था। अतएव धार्मिक ग्रन्थों के मर्म भुलाये जाने लगे। अहिंसा के सिद्धान्त के कारण भी शाकाहारी, मांसाहारियों के साथ भोजन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार भोजन के नियम बनने लगे। धीरे-धीरे रीति-रिवाजों की भिन्नता के कारण भी समाज के छोटे-छोटे टुकड़े होने लगे। ऊँचे वर्णों की नकल करके शूद्रों ने भी अपने को छोटे-छोटे विभागों में विभाजित कर लिया, और उनमें भी आपस में रोटी-बेटी-व्यवहार बन्द हो गया। इसी समय जो शूद्र गन्दे काम करते थे एवं असभ्य थे, वे 'अन्त्यज' अर्थात् अस्पृश्य शूद्र कहलाये। इन लोगों को नगर के बाहर रहना पड़ता था तथा गरीबी के कारण फटे-पुराने कपड़े पहनने पड़ते थे। इनसे समाज के अन्य लोग घृणा करने लगे, और अस्पृश्यता के भाव का उदय हुआ। ईसा की दसवीं शताब्दी के पूर्व आधुनिक स्वरूप में

अन्त्यज और अस्पृश्यता के भाव का जन्म नहीं हुआ था। कुछ असभ्य और जंगली जातियाँ अवश्य थीं जिनसे सभ्य समाज को दूर ही रहना पड़ता था, किन्तु उन्हें सभ्य बनने का पूर्ण अवसर दिया जाता था। अत्रि (१६६), यम (३३), उशनस् (३१-३२); अङ्गिरस (पृ० ४५) आदि स्मृतियों में अन्त्यजों का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।२६५) ने धोबी, चमार, नट, बसोड, मेद और भीलों को अन्त्यजों में सम्मिलित किया है। अत्रि स्मृति (२४६) में लिखा है कि "देव-यात्रा, विवाह, यज्ञ तथा सब उत्सवों में छूआछूत नहीं रहती।" इससे मालूम होता है कि उस समय भी आजकल के समान अस्पृश्यता का भाव नहीं था।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक अस्पृश्यता को प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। वह पूर्णतया अवैदिक तथा अशास्त्रीय है, साथ ही भारतीय संस्कृति की आत्मा के 'बिलकुल प्रतिकूल है। इसका बहिष्कार करना वेद और धर्मशास्त्र के प्रत्येक भक्त का परम कर्तव्य है।

८

आर्थिक विकास

आर्थिक विकास का महत्त्व—प्राचीन भारत की सांस्कृतिक उन्नति में आर्थिक विकास को भी समुचित स्थान दिया गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत केवल आध्यात्मिक रंग में रँगा था, लौकिक तथा व्यावहारिक बातों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था; क्योंकि उसका सिद्धान्त था कि संसार दुःखमय है, परम सुख की प्राप्ति इस लोक को छोड़कर उस लोक में होती है। इसीलिए सांसारिक झंझटों में पड़ना उचित नहीं। इन विद्वानों के मतानुसार प्राचीन दर्शनकारों ने भी अपने सिद्धान्तों में इसी दृष्टि को अपनाया है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अवश्य एक समय ऐसा था, जबकि दुनिया के दुःखों से ऊबकर विचारक उससे अलग होना चाहते थे, तथा तप के बहाने कितने ही शारीरिक कष्ट झेलते थे। वेदान्त के मिथ्यावाद या मायावाद ने भी कदाचित् इस मनोवृत्ति के विकास में सहायता दी हो, किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत का सांस्कृतिक विकास इसी निराशा की मनोवृत्ति के पाये पर हुआ था, और प्राचीन भारतीय सांसारिक वैभव की जरा भी परवाह नहीं करते थे। भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन करने के पश्चात् संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तों का सूत्रपात किया था। मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण विकास ही उस संस्कृति का मूल-मन्त्र था।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। वेद, स्मृत्यादि ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आर्थिक विकास के महत्त्व को समझाया गया है। वेदों में वर्णोत्पत्ति के प्रकरण में वैश्यों को जो स्थान दिया गया है उसके व अन्य प्रमाणों के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत ने आर्थिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझा था।

वर्ग-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति ही मानव-जीवन का ध्येय था। प्राचीन भारतीय का प्रत्येक काम, प्रत्येक प्रयत्न वर्ग-चतुष्टय की प्राप्ति के लिए रहता था। आध्यात्मिकता के मार्ग पर प्रवृत्त होने की तैयारी करना और उसी को समस्त जीवन का आधार बनाना धर्म कहलाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन करके ऐहिक उन्नति करना ही अर्थ था। काम से यह तात्पर्य था कि मनुष्य आध्यात्मिक व पारलौकिक महत्त्वाकांक्षाओं को सफल बनाने के साधन प्राप्त करे। आश्रम-व्यवस्था विशेष रूप से वर्ग-चतुष्टय से सम्बन्धित थी। गृहस्थाश्रम का अर्थ से सम्बन्ध था। गृहस्थियों को आर्थिक विकास से सम्बन्धित करना बिलकुल उपयुक्त था। केवल गृहस्थाश्रमी ही ऐसे थे, जिन पर आर्थिक व आध्यात्मिक उन्नति का उत्तरदायित्व रहता था। उन्हें मानव-जीवन के सच्चे उद्देश्य को ध्यान में रखकर आर्थिक उन्नति करनी पड़ती थी। प्राचीन भारत का आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिए था, न कि भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाकर ऐश-आराम करने के लिए। इस प्रकार प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का पता लग जाता है।

प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था—वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर व्यवस्थित व सञ्चालित किया गया था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, आदान-प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे।

श्रम-विभाग के सिद्धान्त के आधार पर समाज को चार विभागों में विभाजित किया गया था।

सम्पत्तियों की निधि वसुन्धरा—प्राचीन भारत ने भली भाँति समझ लिया था कि संसार की अनेकों सम्पत्तियों की निधि पृथ्वी ही है। इसी लिए उसका नाम 'वसुधा' या 'वसुन्धरा' रखा गया, जिसका अर्थ 'द्रव्य धारण करने वाली' होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह शब्द कितना अर्थपूर्ण है, यह स्पष्ट ही है। पृथ्वी के द्वारा अन्न, जल, वस्त्र आदि की प्राप्ति होती है। उसी के गर्भ में से सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, कोयला व हीरे-माणिक आदि विविध रत्न मिलते हैं। आज भी समस्त मानव जाति का साम्पत्तिक जीवन पृथ्वी पर ही निर्भर है। इस प्रकार आर्थिक विकास में पृथ्वी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस तथ्य को प्राचीन भारत अच्छी तरह समझ गया था। यही कारण है कि ऋग्वेद के कितने ही मन्त्र (५।३२।१०; ५।४२।१३; १०।४।३; ५।५८।७; ८।१८।६; ७।४०।४) पृथ्वी की स्तुति में लिखे गए हैं।

कृषि—भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन व सरल तरीका कृषि है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ पहले ही से कृषि-कर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। प्राचीन काल से आज तक यहाँ के अधिकांश लोग कृषि पर ही निर्भर रहते आए हैं। यहाँ ग्रामों का आधिक्य है व इसे कृषि-प्रधान देश कहते हैं। वेदों से पता चलता है कि कृषि कर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत जोतने, हल चलाने व फसलों से हरे-भरे खेतों का उल्लेख है। वर्षा से सम्बन्धित देवता इन्द्र की स्तुति कितने ही मंत्रों में की गई है। पृथ्वी को 'गो' नाम से सम्बोधित करके पूजनीय माना गया है। राजाओं को भी किसी-किसी अवसर पर अपने हाथों से हल चलाना पड़ता था। जनक के समान धार्मिक राजा को यज्ञ-भूमि में हल चलाना पड़ा था, जिससे सीता का जन्म हुआ।

ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र-युद्ध के वर्णन में समझाया गया है कि कृषि-प्रधान भारत में वृष्टि की कितनी आवश्यकता होती थी व अनावृष्टि से कितनी हानि होती थी।

ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर कृषि-सम्बन्धी बहुत सी वस्तुओं का उल्लेख आता है। कृष्ट व अकृष्ट भूमि आदि के लिए कितने ही शब्द प्रयुक्त किये गए हैं, जैसे उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि। खेती के औजारों का भी निर्देश किया गया है, जैसे स्तेग, फल, लाङ्गल, सीता, सीर, अस्त्र आदि। सिंचाई, खत देना आदि के बारे में ऋग्वेद से बहुत-कुछ मालूम होता है। यव, व्रीहि आदि के उल्लेख से उस समय पैदा किये जाने वाले अनाज का पता लगता है। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वैदिक काल में ही खेती का अच्छा विकास हो गया था व तत्सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान भी लोगों को था। खेती बैलों के द्वारा होती थी, इसीलिए प्राचीन काल के आर्थिक विकास में गो-पालन का भी विशेष स्थान था, व उसे एक स्वतन्त्र उद्योग-धंधे के रूप में विकसित किया गया था। वैदिक काल में कृषि-कर्म का प्राधान्य रहने से उससे सम्बन्धित लोगों को खेतों के निकट गाँवों में रहना पड़ता था। इसलिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में ग्रामों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में ग्रामणी का उल्लेख आता है, जिसका आदर राज-दरबार में भी होता था। इस प्रकार वैदिक काल में देहात के लोग अपने खेतों की उपज पर निर्भर रहकर दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। अन्न-वस्त्र की उन्हें कभी कमी नहीं रहती थी। वैदिक काल के पश्चात् भी कृषि-कर्म सम्पत्ति-वृद्धि, उदर-निर्वाह व आर्थिक विकास का मुख्य साधन रहा है। ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में कृषि-कर्म का स्पष्ट उल्लेख है। वही राजा अच्छा समझा जाता था, जिसके राज्य में अच्छी-अच्छी फसलें पैदा होती थीं। यज्ञ का सम्बन्ध भी कृषि से जोड़ा गया था, क्योंकि समाज की मान्यता थी कि यज्ञ से वर्षा होती है। वर्षा न होने पर ऋषि लोग

बारह-बारह वर्ष के यज्ञ आयोजित करते थे। इस प्रकार कृषि-कर्म का प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

गो-पालन—गो-पालन का कृषि से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है गाय के महत्त्व को जितना अधिक भारतवासी समझते हैं, उतना कोई नहीं समझा। आज भी पाश्चात्य देशों में गो-पालन होता है, किन्तु साथ ही गो-भक्षण भी होता है। जननी के पश्चात् गाय ही मनुष्य के पोषण व वर्धन में अधिक सहायक बनती है। उसके बछड़े खेती करने में सहायता देते हैं। वह स्वतः अपने बछड़े के दूध में से बचाकर हमें दूध व घी देती है, जिसे खाकर हम अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग खूब मजबूत बनाते हैं। जब मनुष्य जाति पर गाय का इतना उपकार है तब यदि भारतीय उसे माँ कहकर पुकारें तो क्या हर्ज है ? यही तो मानवता है, न कि उसके घी दूध से मजबूत बने हुए हाथों से उसी की गरदन पर छुरी चलाकर उसके रक्त व मांस का भक्षण करना। किन्तु बीसवीं शताब्दी के इस सभ्य जगत् में कितने ही स्थानों पर इसी प्रकार गाय के उपकार को भुलाया जा रहा है।

वैदिक काल से ही गाय को पूजनीय माना गया था। वैदिक ऋषियों ने (१।१६४।२७,४०) "अघ्न्या हि गोः" अर्थात् "गाय को मारना नहीं चाहिए" कहकर उसे सम्बोधित किया, जिससे कोई उस पर हाथ न उठा सके। गो-पालन प्राचीन आर्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। गायें प्राचीन आर्यों की विशेष सम्पत्ति थीं। पृथ्वी व गाय दोनों को बहुत पहले से पूजा जाता था। खेती के लिए बछड़े, शरीर मजबूत बनाने के लिए घी-दूध देहातों के घर लीपने के लिए गोबर, जलाने के लिए कंडे आदि सब गाय से ही प्राप्त होते थे। आर्थिक दृष्टि से समाज में गाय का इतना अधिक महत्त्व था व उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग में देवताओं के निवास-स्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बड़े-बड़े सींग वाली बहुत सी गायें

विशेष रूप से रहती थीं, जैसा कि ऋग्वेद (१।१२४।६) में विष्णु लोक के सम्बन्ध में कहा गया है।

कामधेनु—पुराणों ने समाज के प्रति गाय के उपकार का बदला अच्छी तरह से दिया है। सचमुच ही, कामधेनु की कल्पना स्तुत्य है। मानव-जाति की समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली कल्पित कामधेनु स्वर्ग में बसती थी। वह कभी-कभी मृत्यु-लोक पर भी कृपा-दृष्टि कर देती थी, जैसी उसकी लाडली नन्दिनी ने भक्ति के परिणामस्वरूप पुत्र-रत्न देकर राजा दिलीप पर की थी (रघुवंश २।१)। कालिदास ने दिलीप की गो-सेवा का जो सौन्दर्यपूर्ण चित्र खींचा है (रघु० स० २) उसमें भारतीयों के गाय के प्रति उस पूज्य भाव के दर्शन होते हैं, जिसका उन्होंने वैदिक काल से ही अन्तःकरण में धारण करना सीखा था। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि स्वर्गीय कामधेनु की पौराणिक कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि मृत्यु-लोक की गाय भी इस कामधेनु से किसी प्रकार कम नहीं ठहरती। इस बात का साक्षात्कार आज भी किया जा सकता है।

कृष्ण व गो-पालन—पुराणों द्वारा गायों को एक और भेंट दी गई है, और वह है कृष्ण को गायमय वातावरण में बालपन को व्यतीत करने को बाधित करना। कृष्ण कारागृह में पैदा होकर भी गोप-गोपियों में पाले व पोसे जाते हैं। बालपन से ही बंसरी बजा-बजाकर गायों को चराना उनके जीवन का उद्देश्य हो गया था। याद रहे कि गायों के चरवैये कृष्ण ने ही अर्जुन को उपदेश देकर गीता के रूप में दार्शनिक तत्त्वों का अमित भाण्डार दुनिया के सामने रखा, जिसके जाज्वल्यमान प्रकाश में इस बीसवीं शताब्दी की आँखें भी चौंधिया जाती हैं। प्राचीन भारतीयों को गाय के दर्शन इतने प्रिय थे कि गायें दिन-भर जंगल में चरने के बाद जब घर लौटतीं तो सर्वप्रथम उनके पैर की धूलि देखकर इन्हें प्रसन्नता होती थी व वे प्रतिदिन उस समय की प्रतीक्षा करते थे, जबकि गोधूलि आकाश में दिखाई दे। इसीलिए

विवाह के समान पवित्र संस्कार के लिए भी वही समय उत्तम समझा जाने लगा तथा उसका नाम 'गोरज मुहूर्त' व गोधूलि-वेला रखा गया। आज भी गोरज मुहूर्त का विवाह बहुत ही शुभ समझा जाता है। गृह्य-सूत्रों व मन्वादि स्मृतियों में विवाह के उपलक्ष्य में पुरोहित को गाय देने का आदेश है।

वैदिक काल के व्रज—वैदिक काल से ही गाय, बैल आदि के बाँधने के लिए अलग-अलग अहातों की व्यवस्था रहती थी (ऋ० ५।६।७)। ऋग्वेद में वृत्र के द्वारा इन्द्र की गायों के चुराये जाने का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि गाय एक प्रकार की दौलत समझी जाती थी। गृह्य-सूत्रों से यह भी पता चलता है कि प्राचीन-काल में गाय व्यापारिक विनिमय का साधन मानी जाती थी। पुराणों से मालूम होता है कि गायों की संख्या पर व्यक्तियों की हैसियत निर्भर रहती थी। गोप, नन्द आदि दस-दस हजार गायें रखते थे। गायें ही उनकी दौलत होती थीं। इस प्रकार प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में गो-पालन का महत्त्व स्पष्ट है।

भेड़, बकरी आदि का पालन—प्राचीन भारत में गायों के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थीं। ऋग्वेद में मेष व मेषी का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णवती' शब्द से पता लगता है कि उस समय भेड़ों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी ज्ञात था। ऊन के कपड़े बनाये जाते थे। अज व अजा का भी उल्लेख ऋग्वेद में कितनी ही बार आया है। बकरी का दूध भी पिया जाता था। वैदिक काल से आज तक भी भारत को कितने ही भागों में गरीब ग्रामीण भेड़, बकरी आदि पालकर ही उदर-निर्वाह करते हैं।

वाणिज्य—कृषि व गो-पालन के अतिरिक्त एक और साम्पत्तिक विकास का साधन था, जिसे वाणिज्य कहा गया है। कृषि आदि का सम्बन्ध ग्रामों से था, जोकि प्राचीन काल में आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिकांश ग्रामों में ही उत्पन्न की

जाती थीं। प्राचीन काल में आजकल के समान बड़े-बड़े यन्त्र नहीं थे कि नगरों की आवश्यकता होती। फिर भी राजकीय व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र अवश्य थे, जो विकसित होकर नगर बन गए थे।

प्राचीन भारत के व्यापार के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से विशेष पता नहीं लगता, किन्तु परोक्ष रूप से बहुत-सी बातें मालूम हो जाती हैं। वेदों के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि वैदिक सभ्यता पूर्णतया ग्रामीण थी, वैदिक काल में नगर नहीं थे। किन्तु यह उक्ति भ्रमपूर्ण है। ऋग्वेद (६।२८।६;७।४।६;८।३४।६) में सभा, पुर आदि का उल्लेख आता है; कितने ही स्थलों पर सुवर्ण (१।४३।५;३।३४।६;४।१०।६; ४।१७।११ आदि) उल्लिखित हैं व धनपति बनने की इच्छा दरसाई गई है। ऋग्वेद में और भी बहुत-सी बातें उल्लिखित हैं, जिनसे नगरों का अस्तित्व स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है। यजुर्वेद (३०।६,७,११,१७,२०) में वर्णित उद्योग-धंधों से भी विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। इसलिए यह कथन कि वैदिक काल में नगर नहीं थे केवल ग्राम ही थे, ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता।

नगरों के अस्तित्व से अधिकांश लोगों, विशेषकर धनाढ्यों का सञ्चालन व निग्रह करने वाली किसी सत्ता की छत्र-छाया में एकत्रित रहना स्पष्टतया सूचित होता है। एक बड़े मानव-समुदाय के एकत्रित रहने पर दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं, व यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। गांवों में इसके विकास की गुन्जाइश नहीं रहती। वाणिज्य और नगर का लगभग चोली-दामन का साथ है। 'वाणिज्य' शब्द 'वणिक्' शब्द से बनता है, जिसका अर्थ बनिया या व्यापारी होता है। 'वाणिज्य' शब्द से ही व्यापार का बोध होता है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में वैश्यों को जङ्घाओं से सम्बन्धित किया गया है। मनु आदि स्मृतिकार कृषि, वाणिज्य आदि को वैश्य का स्वाभाविक कर्म बताते हैं। इस पर से यह कहा

जा सकता है कि वैदिक काल में भी वैश्य का वही काम था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। कृषि की उपज, घी, दूध, वस्त्र व दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था। सूत्रादि ग्रन्थों से बड़े-बड़े बाजारों के अस्तित्व का पता लगता है। ये बाजार वैदिक काल में भी रहे होंगे। वेदों में सुवर्ण निष्क का भी उल्लेख आता है, जोकि व्यापारिक विनिमय का साधन रहा होगा।

ऋग्वेद में समुद्र द्वारा व्यापार—ऋग्वेद (१।५६।२;१।४८।३; १।२५।७; १।११६।३;२।४८।३;७।८८।३-४) में 'नावः समुद्रिदः' अर्थात् समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख आता है, तथा भुज्यु नाविक के बहुत दूर चले जाने पर मार्ग भूल जाने व पूषा की स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है (ऋक्० १।११६।३)। ऋग्वेद (१०।१०८।३) में पणियों का भी उल्लेख है। उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि वे बड़े धनलोलुप व कंजूस हैं, स्वार्थ तो उनका परम धर्म है। अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की गई है कि पणियों के हृदयों के टुकड़े-टुकड़े कर दो (ऋक्० ६।५३।७-८)। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'पण्य' शब्द, जिसका अर्थ बेचने का माल तथा 'आपण' शब्द, जिसका अर्थ बाजार होता है इसी 'पणि' शब्द से बनते हैं। इसमें यत्किञ्चित् भी शक नहीं कि ये पणि वैदिक काल के बड़े-बड़े व्यापारी थे जो व्यापार के लिए देश-विदेशों के कोने-कोने में पहुँचते थे।

पणि व 'फिनिशियन्स'—कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि पणियों का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया के प्राचीन देश फिनीशिया के निवासियों से है। उनके मतानुसार पणि व 'फिनिशियन्स' एक ही हैं। फिनिशियन्स प्राचीन काल में जबरदस्त व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्यसागर और उसके तटवर्ती देश थे। इसलिए 'फिनिशिया' व्यापारियों का राष्ट्र कहलाता था। उन्होंने उत्तर अफ्रीका में बड़ा भारी

साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी कार्थेज थी। इसलिए यह 'कार्थेजियन'-साम्राज्य भी कहलाता था। स्पेन आदि यूरोप के देश भी इसमें सम्मिलित कर लिये गए थे। यहाँ तक कि 'कार्थेजिनियन' लोगों के वीर सेनापति हेनिबाल ने इटली के रोम आदि विभिन्न नगरों पर भी आक्रमण किये थे। इस प्रकार ये 'फिनिशियन्स' प्राचीन यूरोप में बहुत महत्त्वशाली थे। यदि वेदकालीन पणियों से उनका सम्बन्ध हो जाय तो भारत के वैदेशिक व्यापार की प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

बौद्ध-साहित्य में व्यापार—भारत के प्राचीन व्यापार का स्पष्ट पता बौद्ध-साहित्य, सूत्र, स्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि से लगता है। अर्थशास्त्र में इसका विस्तृत वर्णन है, किन्तु बौद्ध जातकों से इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ मालूम होता है और यह साहित्य स्मृति, अर्थशास्त्र आदि से अधिक प्राचीन माना जाता है। जातकों के आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि बौद्ध-काल में भारत का व्यापार खूब बढ़ा-चढ़ा था। उत्तर भारत में श्रावस्ती, राजगृह, कौशाम्बी, उज्जयिनी आदि महान् नगर थे, जहाँ बड़े-बड़े धनाढ्य व्यापारी रहते थे, जिनमें से अधिकांश गौतम बुद्ध को बहुत आर्थिक सहायता देते थे। उन व्यापारियों ने समस्त भारत को व्यापारिक सूत्र में बाँध रखा था। व्यापार इतना बढ़ा-चढ़ा था कि कितने ही ब्राह्मण अपना काम छोड़कर व्यापार करने लगे थे (जातक ४।१५) और इस प्रकार लखपति बनने की धुन में लग गए थे। व्यापार में साधारणतया वंश-क्रम का ही विशेष स्थान था। व्यापारी का पुत्र ही अधिक सफल व्यापारी बन सकता था। इसलिए व्यापारियों के परिवार-के-परिवार रहते थे, जो कभी-कभी मिलकर या अलग-अलग होकर व्यापार करते थे। यह सम्भव है कि व्यापारियों का कोई संगठन अवश्य रहा हो। किन्तु जातक-ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'चुल्लकसेट्ठी जातक' (जातक १।१।२२) में लगभग सौ व्यापारियों का

उल्लेख है, जो विदेशों से आये हुए माल को खरीदने जाते हैं, जहाँ प्रत्येक अपनी-अपनी बाजी मारना चाहता है, जैसा कि एक नवयुवक व्यापारी ने हिक्मत से बहुत सा माल खरीदकर किया। 'वलाहस' (२।१२८, नं० १९६) व 'पण्डार' (जातक २।१२८;५।७५) जातक में ऐसे जहाजों का उल्लेख है, जिनमें लगभग पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे, जोकि डूब गए। बहुत से व्यापारी स्थल-मार्ग से भी एक साथ यात्रा करते थे। उनका एक मुखिया रहता था, जिसे 'सात्थवाह' कहते थे। वह व्यापारियों का नेता माना जाता था। उसी की आज्ञा-नुसार व्यापारी माल से लदी हुई अपनी-अपनी बैलगाड़ियों को ठहराते या आगे बढ़ाते थे। मार्ग में चोर, डाकू आदि से सबकी रक्षा की व्यवस्था करना भी सात्थवाह का काम था।

जातकों से पता चलता है कि व्यापार साझेदारी से भी होता था। 'कूटवाणिज' 'महावाणिज' व 'सेरिवाणिज' तथा 'पायासि सुत्तन्त' में इसका उल्लेख है (जातक, १।४०४; २।१८१, ४।३५०); 'जरूदपान-जातक' से पता चलता है कि बहुत से व्यापारी मिलकर बहुत सा माल खरीदते हैं और उसको विदेशों में भेजकर मुनाफा आपस में बाँट लेते हैं (जातक २।२-९४)। व्यापारियों की यह 'कम्पनी' अपनी यात्रा के पूर्व व पश्चात् बुद्ध की सेवा में उपस्थित होकर उसे बहुत-कुछ धन भेंट देती है। श्रावस्ती के सब बड़े-बड़े व्यापारी अनाथ पिण्डद के अधीन रहकर उसकी सलाह से काम करते थे। इस अनाथ पिण्डद ने बुद्ध को कितना ही दान दिया था तथा उसके अनुयायियों के लिए विहार भी बनवा दिए थे। 'गुत्तिल जातक' में लिखा है कि बनारस के व्यापारी न केवल अपना काम एक साथ मिलकर करते थे, किन्तु खेल, मनोरञ्जन आदि भी इकट्ठे ही करते थे। स्थल-यात्री व्यापारियों के सम्बन्ध में जातकों में उल्लेख आता है कि वे पूर्व व पश्चिम की ओर जाते हैं और मरुस्थल को भी पार करते हैं, जिसमें उन्हें कितने ही दिन लग जाते हैं। रात्रि के समय वे लोग 'थल नियामक'

के मार्गदर्शकत्व में तारों के सहारे चला करते थे। इस यात्रा में अनावृष्टि, दुष्काल, जंगली जानवर, डाकू, राक्षस आदि का भय बताया गया है। ये व्यापारी बनारस के समान व्यापारिक व औद्योगिक केन्द्र से राजपूताना की मरुभूमि में से होते हुए भरुकच्छ, सोवीर आदि बन्दर-स्थानों में माल ले जाते थे। वहीं से बावेरु (बेबीलोन) से व्यापार किया जाता था।

तामिल साहित्य में व्यापार—प्राचीन तामिल साहित्य से पता चलता है कि चोल राजधानी 'काविरीपट्टिनम', जिसे 'पेरिप्लस' में 'कमर' कहा गया है व टोलेमी ने 'खबरी' कहा है और जो कावेरी नदी पर बसा हुआ है, एक ज़बरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र था। यहाँ पर यवन व्यापारी विशेष रूप से आते थे। उत्तर भारत के व्यापारी भी यहाँ पर आते थे तथा समुद्र द्वारा भारत के दोनों किनारों के बन्दर-स्थानों में घूमते थे।

आयात-निर्यात—आयात व निर्यात के सम्बन्ध में जातकों से कुछ विशेष पता नहीं चलता। सुवर्ण, जोकि प्राचीन काल में पारस भेजा जाता था, जातकों में उल्लिखित नहीं है। जातकों में लिखा है कि विदेशी व्यापारी यहाँ के मोती, जवाहिरात आदि की फिराक में अक्सर रहते थे। रेशम, मलमल, महीन कपड़ा, चाकू-कैंची आदि, कवच, बेल-बूटे ज़री आदि की चीजें, कम्बल, सुगन्धित द्रव्य, दवाइयाँ, हाथी-दाँत, जवाहिरात सोना-चाँदी आदि का व्यापार खूब होता था। शाक-भाजी व दूसरी खाने की चीजें कदाचित् नगर के फाटकों के बाहर ही बेची जाती थीं बड़े-बड़े कारखाने व बाज़ार नगर के अन्दर रहते थे, और अलग-अलग माल के लिए अलग-अलग बाज़ार रहते थे। प्राचीन नगरों में आजकल भी ऐसी व्यवस्था है, या कम-से-कम उस व्यवस्था के सूचक मुहल्लों के पुराने नाम अभी भी वर्तमान हैं। श्रावस्ती, बनारस आदि के बाज़ारों में सब चीज़ें मिल सकती थीं।

विनिमय—व्यापारिक विनिमय के साधन के बारे में मालूम होता

है कि कभी-कभी एक वस्तु से दूसरी वस्तु का परिवर्तन किया जाता था। जातकों में 'काहायण' नामी सिक्के का उल्लेख है। इसी के द्वारा साधारणतया चीजें खरीदी व बेची जाती थीं। आधे व चौथाई 'काहायण' के सिक्के भी रहते थे। इसके सिवाय कदाचित् सुवर्ण निष्कों का भी उपयोग होता था।

लेन-देन—जातकों से लेन-देन के धन्धे का भी पता लगता है, जिसका उल्लेख सूत्र-स्मृत्यादि में भी आता है। लेन-देन करने वाले दस्तावेज लिखवाकर रुपया उधार देते थे; ब्याज कितना लेते थे इसका पता नहीं चलता। व्यापारिक जगत् में हुण्डी का उपयोग भी होता था। बड़े-बड़े सेठों के पास जो-कुछ धन जमा रखा जाता था, उसका भी दस्तावेज लिया जाता था (जातक १।१२१; ६।५२१)।

व्यापार के स्थल-मार्ग—जातक ग्रन्थों से व्यापार के स्थल-मार्गों का पता भी लगता है, जिससे तत्कालीन व्यापार के विस्तार का ज्ञान होता है। अनाथपिण्डद और उसके व्यापारी श्रावस्ती से दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर राजगृह आते थे और उसी मार्ग से वापस जाते थे, तथा पश्चिमोत्तर में गान्धार तक भी जाते थे। श्रावस्ती से दक्षिण में प्रतिष्ठान (हैदराबाद राज्य पैठण) तक भी व्यापार का एक मार्ग था। बीच में छः स्थानों में ठहरना पड़ता था। वहाँ से सिन्ध व पश्चिम भारत को भी मार्ग जाता था। उत्तर में तक्षशिला से मध्य एशिया के व्यापारिक केन्द्रों तक भी मार्ग जाता था। इस प्रकार समस्त भारत में व्यापारिक मार्गों का जाल फैला हुआ था।

वैदेशिक व्यापार—प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार भी बहुत ही पुराना है। पहले ही लिख दिया गया है कि वैदिक काल में किस प्रकार लोग जहाज़ों में बैठकर समुद्र में दूर-दूर तक जाते थे तथा पणि उस काल के बड़े व्यापारी थे, व सम्भवतः वे 'फिनिशियन' लोगों से सम्बन्धित थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत के वैदेशिक व्यापार का श्रीगणेश वैदिक काल से ही होता है। उसके पश्चात् भी

इस व्यापार की उत्तोत्तर वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि बौद्ध काल से तो इसका खूब विकास होने लगा। इसलिए जातकादि बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत, सूत्र-साहित्य, ज्योतिष-साहित्य, पुराण व अन्य संस्कृत साहित्य आदि के द्वारा वैदेशिक व्यापार के बारे में बहुत-कुछ ज्ञात होता है। प्राचीन बाबुल, मिस्र आदि के लेखों में तथा ग्रीस, रोम आदि के प्राचीन साहित्य में कितने ही स्थलों पर भारत के वैदेशिक व्यापार का उल्लेख आता है।

यह सर्वमान्य बात है कि पश्चिम एशिया के असुरबेनीपाल (ई० पू० ६६८-६२६) राजा के पुस्तकालय में प्राप्त 'सिन्धु' शब्द भारतीय कपास का द्योतक है, और यथार्थ में प्राचीन 'एकेडियन' भाषा का है। इतिहास से पता लगता है कि असुरबेनीपाल एक प्रसिद्ध कृषि-प्रिय राजा था। उसने भारत से बहुत-से पौधे मँगवाये थे, जिनमें भारत के "ऊन के पौधे (कपास को पाश्चात्य लोग ऊन कहा करते थे) भी थे। इससे तो स्पष्ट है कि भारत का कपास-व्यापार बहुत पुराना है। प्राचीन नगर मुघर (उर) के चन्द्र-मन्दिर में तथा राजा नेबुकेडनेजर के महल में भारतीय इमारती लकड़ी पाई गई है। ये दोनों ई० पू० छठी शताब्दी के हैं। शलमनसार 'तृतीय' (ई० पू० ८६०) के स्तम्भ पर बन्दर भारतीय हाथी और बैक्ट्रिया के ऊँट खुदे हुए हैं। प्राचीन इतिहासकार एकिनियस से पता लगता है कि टोलेमी फिलेडेलफोस के जुलूस में भारतीय स्त्रियाँ, भारतीय शिकारी कुत्ते और भारतीय गायें भी रहती थीं, तथा साथ ही ऊँटों पर भारत के मसाले ले जाये जाते थे, जिनको देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था। रोम का सुप्रसिद्ध लेखक प्लिनी (७८ ई० के लगभग), जिसने रोम-निवासियों की अपव्ययता की कड़ी आलोचना की है, ज़ोरदार शिकायत करता है कि भारतीय व्यापार के कारण रोम का कोष बहुत खाली हो जाता है। वह कहता है कि भारत, चीन व अरब मिलकर रोम से प्रति वर्ष दस करोड़ 'सेसटेरेस' ले जाते हैं, जिनमें से अधिकांश भारत में जाता है।

यह रकम लगभग दस हज़ार 'पौण्ड' के बराबर होती है। प्राचीन रोम के सिक्कों का दक्षिण भारत में पाया जाना तथा दक्षिण भारत के साहित्य में रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के उल्लेख आदि से स्पष्ट होता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ में रोम और दक्षिण भारत के बीच बहुत ही जोरदार व्यापार होता था। पश्चिमी एशिया, मिस्र और यूरोप के पश्चिमी छोर से मलाबार किनारे तक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। हिब्रू-साहित्य में भारत की, विशेषकर दक्षिण भारत की बनी हुई बहुत-सी चीजों का उल्लेख है। प्राचीन रोम के प्रसिद्ध इतिहासकार टेसिटस ने लिखा है कि एक भारतीय नाविक का जहाज यूरोप के उत्तरीय समुद्र में रेती में फँस गया था। 'एक्सोडस' में भी एक भारतीय व्यापारी का उल्लेख आता है, जो यूनानियों को अरब-समुद्र में से भारत के मलाबार किनारे तक लाया था। मिस्र के एक प्राचीन लेख में 'सोफन इण्डोज़' नाम के एक सुप्रसिद्ध भारतीय नाविक का उल्लेख आता है। इस प्रकार इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारत का वैदेशिक व्यापार बहुत पुराना है, और वह विश्व में दूर-दूर तक फैला था। परोक्ष रूप से इस मन्तव्य की पुष्टि भारत के प्राचीन साहित्य से भी होती है।

बौद्ध-जातक व वैदेशिक व्यापार—जातक साहित्य में समुद्र-यात्रा और वैदेशिक व्यापार का वर्णन कितने ही स्थानों पर आता है। 'विनय पिटक' में पूर्ण नामी एक भारतीय व्यापारी के छः बार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। सातवीं बार उसके साथ श्रावस्ती के कुछ बौद्ध यात्री भी थे, जिनके संसर्ग से वह स्वतः बौद्ध बन गया। 'सुत्त-पिटक' में दूर-दूर के देशों तक की जाने वाली समुद्र-यात्रा का वर्णन है। 'संयुत्तनिकाय' (३।११५; ५।५१) व 'अंगुत्तर (४।२७) में छः छः महीने तक नाव द्वारा की जाने वाली यात्रा का वर्णन है। 'दीघ-निकाय' (१।२२२) में वर्णन आता है कि दूर-दूर देशों तक समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे। जब जहाज स्थल से

बहुत दूर पहुँच जाता और भूमि के कोई चिह्न न दिखाई देते, तब उन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रहती तो वे पक्षी वापस नहीं आते थे, अन्यथा थोड़ी देर तक इधर-उधर उड़कर वापस आ जाते थे। 'बावेरुजातक' (३ नं० ३३९) में भारत व बेबिलोन के व्यापारिक सम्बन्ध का उल्लेख है। इसी प्रकार 'सुपारक' 'महाजनक', 'शंख', 'सुसोन्दी' आदि जातकों में भारत के वैदेशिक व्यापार तथा जहाजों द्वारा समुद्र-यात्रा का स्पष्ट उल्लेख है। (जातक ४।१३८-१४२; ६।३२-३५, नं० ५३९; ६।१५-१७, नं० ४४२; ३।१८८, नं० ३६०)।

रामायण व विदेश—वाल्मीकि-रामायण में कितने ही स्थलों पर भारत व दूरस्थ देशों के मध्य समुद्र द्वारा आवागमन का उल्लेख है। किष्किन्धा काण्ड (४०।२५) में सुग्रीव सीता की खोज के सम्बन्ध में बन्दरों को उन देशों के नाम बताता है, जहाँ सीता के रहने की सम्भावना थी। इस सम्बन्ध में बहुत से द्वीपों के पर्वतों को उल्लिखित किया गया है। किष्किन्धा-काण्ड (४०।२३) के एक स्थान पर कोसकर देश का उल्लेख है, जिससे चीन का तात्पर्य है। एक जगह यवद्वीप व सुवर्णद्वीप का उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध जावा और सुमात्रा से है। इसी प्रकार लोहित सागर (Red sea) का भी उल्लेख पाया जाता है। अयोध्या-काण्ड (८४।७८) में एक जगह नौका-युद्ध की तैयारी का वर्णन आता है। रामायण में उन व्यापारियों का उल्लेख भी है, जो समुद्र द्वारा दूर-दूर के देशों को अक्सर जाया करते थे, और राजाओं के लिए अच्छी-अच्छी भेंटें लाते थे।

महाभारत व विदेश—महाभारत में राजसूय-यज्ञ तथा अर्जुन व नकुल की दिग्विजय के सम्बन्ध में भारत के बाहर के बहुत से देशों का वर्णन आता है, जिनसे भारत का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। सभा पर्व (३१।६५-६८) में वर्णन आता है कि सहदेव बहुत से समुद्रस्थ द्वीपों में गया, व उसने वहाँ के सब म्लेच्छ निवासियों को

जीत लिया। द्रोण-पर्व में आँधी से त्रसित नाविकों का द्वीपों में पनाह लेने का उल्लेख है। उसी पर्व में दूसरी जगह एक बड़े समुद्र में आँधी द्वारा छिन्न-भिन्न किये गए जहाजों का उल्लेख है। कर्ण-पर्व में वर्णन आता है कि कौरवों के योद्धा इस प्रकार घबरा गए, जैसे गहरे समुद्र में आँधी द्वारा अपने जहाजों के छिन्न-भिन्न किये जाने पर व्यापारी लोग घबराते हैं। शान्ति-पर्व में कर्म व सत्य-ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति की तुलना उस आर्थिक लाभ से की गई है जोकि एक व्यापारी समुद्र द्वारा व्यापार से प्राप्त करता है। एक जगह विदुर द्वारा विशेष रूप से बनवाये गए जहाज के नष्ट हो जाने पर पाण्डवों के बच जाने का वर्णन आता है। वह जहाज बहुत बड़ा व यन्त्रयुक्त था, उसमें युद्ध के सब प्रकार के हथियार थे, तथा वह इतना मजबूत था कि आँधी व समुद्र की झौलें उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थीं।

सूत्रों में वैदेशिक व्यापार—बौधायन धर्म-सूत्र (२।२।२; १।२।४) में धार्मिक ब्राह्मणों के लिए समुद्र-यात्रा निषिद्ध है, किन्तु उसमें यह भी उल्लिखित है कि उत्तर के निवासी बहुधा उक्त नियम का उल्लङ्घन करते थे। उत्तर में रहने वालों के लिए ऊन, घोड़े, खच्चर आदि का व्यापार करना निषिद्ध था। बौधायन धर्मसूत्र (१।१८।१४) व गौतम धर्मसूत्र (१०।३३) में राजा को नावकों द्वारा दिये जाने वाले कर को निश्चित किया गया है। स्मृतियों में भी वैदेशिक व्यापार का उल्लेख है, तथा नदी व समुद्र द्वारा यात्रा के किराये के बारे में लिखा है (मनु० ८। ४०४-४०६)। मनु (३।१५८; ४।४०८, ४०६) ने समुद्र-यात्रा की सुरक्षा-सम्बन्धी बहुत से नियमों का उल्लेख किया है। उन्होंने एक जाति-विशेष का वर्णन किया है, जिसका काम व्यापार तथा विदेशों की आवश्यक वस्तुओं व वहाँ की भाषाओं की जानकारी प्राप्त करना था। याज्ञवल्क्य स्मृति (४।८) में दूर-दूर के देशों की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है।

ज्योतिष-ग्रन्थों में वैदेशिक व्यापार—पुराणों में भी वैदेशिक

व्यापार का उल्लेख है। वराह पुराण में एक निपुत्र व्यापारी गोकर्ण की व्यापारार्थ समुद्र-यात्रा का वर्णन है। यह व्यापारी समुद्र की आँधी के कारण बाल-बाल बच गया। एक व्यापारी ने मोती के काम में होशियार व्यक्तियों को लेकर मोतियों के फिराक में समुद्र-यात्रा की थी। रघुवंश में कालिदास ने रघु द्वारा बङ्गाल की नौका-सेना की पराजय का वर्णन किया है, व रघु के स्थल-मार्ग द्वारा पारसीकों को जीतने जाने का उल्लेख किया है (रघु० ४।३६)। इससे स्पष्ट है कि पारस जाने के लिए जल-मार्ग भी काम में लाया जाता था। शाकुन्तल में चीन का उल्लेख है, जहाँ से बहुत-सा रेशम आता था। 'चीनांशुक' शब्द संस्कृत साहित्य में कितनी ही बार प्रयुक्त किया गया है। शाकुन्तल में एक निःसन्तान धनवृद्धि नामक व्यापारी का वर्णन आता है, जिसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सब धन राजा को मिल गया। हर्षकृत रत्नावली में सिंहल के विक्रमबाहु राजा की राजकुमारी के जहाज के मध्यसमुद्र में डूबने, आपत्ति में पड़ने, व कोशाम्बी के व्यापारियों द्वारा बचाये जाने का वर्णन है। दण्डी के दशकुमारचरित में रत्नोद्भव नामक व्यापारी का वर्णन है, जिसने कालयवण द्वीप में जाकर एक लड़की से शादी की, किन्तु लौटते समय उसका जहाज डूब गया। एक दूसरे व्यापारी मित्रगुप्त ने एक यवन जहाज पर समुद्र-यात्रा की, व मार्ग भूलने पर किसी दूसरे द्वीप पर पहुँचता है। माघ-कृत शिशुपाल-वध में वर्णन आता है कि द्वारिका से हस्तिनापुर जाते समय श्रीकृष्ण उन व्यापारियों को देखते हैं, जो माल से लदे जहाजों में विदेशों से आते हैं, व भारत के माल को पुनः विदेशी जहाजों में भरवाते हैं सोमदेव-कृत कथासरित्सागर में भी समुद्र-यात्रा का उल्लेख है। इसके नवें लम्बक की प्रथम तरङ्ग में एक कलाकार के साथ पृथ्वीराज के मुक्तिपुर-द्वीप जाने का वर्णन है। दूसरी तरङ्ग में समुद्र-यात्रा करते समय जहाज डूब जाने पर एक व्यापारी व उसकी स्त्री के एक-दूसरे से बिछुड़ जाने का वर्णन है। चौथी तरङ्ग में समुद्रसुर व एक दूसरे

व्यापारी का व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप जाने व उनके जहाज के डूबने का वर्णन है। छठी तरंग में व्यापारी-जहाजों पर चन्द्रस्वामी के भिन्न-भिन्न द्वीपों में अपने पुत्र की खोज में जाने का वर्णन है। हितोपदेश में भी समुद्र-यात्रा के जहाज व व्यापारियों का उल्लेख आता है। उसमें लिखा है कि एक व्यापारी बारह वर्ष तक समुद्र-यात्रा करता रहा व अन्त में अपने जहाज को बहुत से अनमोल रत्नों से लादकर वापिस आया।

प्राचीन काल में दक्षिण भारत में मोतियों का व्यापार बहुत जोरों में था, जिसके लिए नौका-विद्या का ज्ञान रहना आवश्यक है। बृहत्संहिता, गरुड़पुराण आदि में हिन्द महासागर में किये जाने वाले मोती के धन्धे का उल्लेख है, जिसके मुख्य केन्द्र सिंहल, पारलौकिक, सौराष्ट्र ताम्रपर्णी, पारस्व, कौवेर, पाण्डयवाटक व हेम देश के किनारे थे।

अन्य उद्योग-धन्धे—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में दस्तकारी आदि धन्धों का भी विशेष हाथ था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों में चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख है; उत्तरीय व अधो-वस्त्र धारण करने का भी उल्लेख उसमें आता है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन भारत में हाथ से सूत कातकर कपड़ा बनाने का धन्धा उन्नत अवस्था में था। इसका ग्रामों में विशेष-रूप से प्रचार होगा। ऋग्वेद (२।३।६) में बुनने वाले को 'वय' कहा गया है। पूषा को ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया है। 'सिरी' शब्द भी कदाचित् बुनने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'तन्तु', 'तन्त्र', 'ओतु', 'तसर,' 'मयूख' आदि शब्द, जिनका उल्लेख ऋग्वेद (६।९।२, ३; १०।७१।६; ६।९।२; १०।१३०।२; ७।९९।३; १०।२६।६) में आता है, बुनने की कला से ही सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नाव जहाज आदि बनाने, व अन्य ऐसे कितने ही धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख आता है। यजुर्वेद (३०।६-७, ११, १७, २०)

२०) में विभिन्न धन्धों को करने वालों का स्पष्ट उल्लेख है जैसे रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मकार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, मृगयु, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक्, ग्वालिन् आदि । इन नामों से तत्कालीन आर्थिक विकास का पता चलता है। सम्भवतः इन सब धन्धों वाले बौद्ध काल के अनुसार संगठित रूप से रहते होंगे । ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों इन धन्धों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रही । ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, बौद्ध व जैन साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से विभिन्न धन्धों के विकास व समाज की समृद्धिशील अवस्था का पता लगता है । बौद्ध जातकों की सहायता से ई० पू० सातवीं या छठवीं शताब्दी में भारत की आर्थिक परिस्थिति का बहुत सुन्दर चित्र खींचा जा सकता है । उस समय के उन्नत व्यापार का विस्तृत वर्णन पहले ही कर दिया गया है । यहाँ पर तत्कालीन संगठित व विकसित धन्धों के बारे में कुछ जानना आवश्यक है ।

बौद्ध-काल में धन्धे—इस काल में भिन्न-भिन्न कलाएँ दस्तकारियाँ धंधे आदि का आश्चर्यजनक विकास किया गया था । 'दीर्घनिकाय' (१।५१) में विभिन्न दस्तकारियों व धन्धों का उल्लेख है । राजा अजातशत्रु ने गौतम बुद्ध से पूछा कि तुम्हारे संन्यास से क्या लाभ है, जब कि लोग विभिन्न धन्धों द्वारा द्रव्य कमाकर चैन से रहते हैं ? इसके पश्चात् उक्त राजा ने उन धन्धों की सूची दी, जोकि इस प्रकार है—हाथी पर सवारी करने वाले, घुड़सवार, रथ पर बैठने वाले, धनुष-बाण चलाने वाले, पाँच प्रकार के सैनिक काम करने वाले, दास, भोजन बनाने वाले, नाई, स्नानागार के नौकर, हलवाई, फूलमाली, धोबी, जुलाहे, बसोड़, कुम्हार, मुनीम आदि । अन्य स्थान पर विभिन्न धंधे करने वालों के संघों के उल्लेख के अवसर पर कितने ही धंधों का वर्णन आया है, जैसे (१) लकड़ी का काम करने वाले, चाक, घर, नाव व सब प्रकार की गाड़ियाँ बनाने तथा बढ़ई का काम करते थे; (२) धातु का

काम करने वाले लोहे के औजार, सब प्रकार के हथियार, बारीक-से-बारीक सुइयाँ व सोने-चाँदी के गहने आदि बनाते थे; (३) पत्थर का काम करने वाले घर या तालाब की पैड़ियाँ, बड़े-बड़े स्तम्भ, छोटी-छोटी सुन्दर वस्तुएँ आदि बनाते थे; (४) जुलाहे कपड़ा, बारीक-से-बारीक रेशम, कम्बल, चादरें, दरियाँ, गलीचे आदि बनाते थे; (५) चमड़े का काम करने वाले जूते, चप्पल व अन्य छोटी-छोटी सुन्दर चीजें बनाते थे; (६) कुम्हार घरेलू काम के लिए सब प्रकार के मिट्टी के बरतन बनाते थे; (७) हाथीदाँत का काम करने वाले हाथीदाँत की छोटी-छोटी सुन्दर चीजें बनाते थे, जिनके लिए भारत आज भी प्रसिद्ध है; (८) रँगरेज,कपड़े रँगने का काम करते थे; (९) जड़िये रत्न, जवाहरात आदि का सुन्दर काम करते थे; (१०) मछुए मछली पकड़ते थे; (११) शिकारी शिकार किये हुए जंगली जानवर व जंगल की शाक-भाजी गाड़ियों में भरकर बेचने के लिए नगरों में लाते थे; (१२) रसोइये व हलवाई; (१३) नाई व मालिश करने वाले; (१४) फूलमाली; (१५) कसाई; (१६) नाविक नदी व समुद्र में खेने का काम करते थे; (१७) बसोड़; व (१८) चित्रकार।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध-काल में कितना आश्चर्यजनक आर्थिक विकास हुआ था। ऊपर बताये हुए धन्धे अधिकांश रूप में नगरों से सम्बन्धित थे। ग्रामों में कृषि, गो-पालनादि का अधिक प्रचार था। यहाँ यह बात विशेष रूप से याद रखने योग्य है कि बौद्ध-ग्रन्थों में निर्दिष्ट उद्योग-धंधे यजुर्वेद में भी उल्लिखित हैं। रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। मौर्यों, आन्ध्रों, गुप्तों आदि के समय में भी यही परिस्थिति थी। इससे आर्थिक व्यवस्था की सत्यता का भी पता चलता है।

धन्धों का संगठन—ये सब धंधे जैसा कि बौद्ध-साहित्य से मालूम होता है, संगठित रूप से चलते थे। इन सबके संगठन थे, जिन्हें पूग, श्रेणि, निगम आदि नामों से जाना जाता था। स्मृत्यादि ग्रन्थों में

इन संगठनों के सञ्चालन, उनकी व्यवस्था आदि के नियम वर्णित हैं। राजा की ओर से भी उनके नियमों को मान्यता दी जाती थी। प्राचीन राजवंशों, विशेषकर आन्ध्रों व गुप्तों के लेखों में भी श्रेणि, पूग आदि का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे उनकी कार्य-प्रणाली आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके सञ्चालन आदि के बारे में मालूम होता है कि सदस्यों पर उनका पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता था; यहाँ तक कि विवाह आदि के बारे में भी उनकी सलाह लेनी पड़ती थी। सदस्यों की शिक्षा की व्यवस्था भी की जाती थी। सुनार, जुलाहे आदि के लड़के श्रेणि, निगम, पूग आदि की सहायता से किसी कुशल कारीगर के यहाँ रहकर काम सीखते थे। ये प्रथाएँ आज तक भी विकृत रूप में वर्तमान हैं।

श्रेणि, पूग, निगम आदि की नियमित रूप से सभाएँ हुआ करती थीं, जिनमें बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार किये जाते थे। सभा के प्रधान को 'श्रेष्ठिन्' कहते थे। आजकल भी गुजराती बनियों की जाति का सरपञ्च 'सेठ' कहलाता है। विभिन्न श्रेणियों आदि का भी एक केन्द्रीय संगठन रहता था, जिसका प्रमुख 'महाश्रेष्ठिन्' कहलाता था। इन संगठनों द्वारा खरीदे व बेचे जाने वाले माल की कीमत का नियन्त्रण भी होता था। कहीं-कहीं इन्हें अपने सिक्के चलाने का भी अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार विभिन्न धन्धे करने वालों का जीवन पूर्णतया संगठित था यह संगठित जीवन बहुत दिनों तक रहा। आज भी हम इसके बिगड़े स्वरूप को विभिन्न जातियों के रूप में पाते हैं। जाति-नियमों की कड़ाई से शक्तिशाली संगठन का पता चलता है।

वार्ता—आर्थिक विकास के साथ-साथ विद्वानों ने आर्थिक समस्याओं को समझकर तत्सम्बन्धी उत्तमोत्तम सिद्धान्त भी विकसित किये थे, जोकि विभिन्न ग्रन्थों में समाविष्ट किये गए हैं। इस शास्त्र को 'वार्ता' कहते थे। प्राचीन साहित्य में अन्य विद्याओं के साथ में वार्ता का भी उल्लेख आता है। प्राचीन काल में इस शास्त्र में निष्णात कितने ही आचार्य थे, जिनका उल्लेख 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र' में पाया जाता है।

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' इस विषय का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार उसमें मौर्यकालीन राजनैतिक व आर्थिक परिस्थिति का दिग्दर्शन है।

आर्थिक विकास का प्रभाव—प्राचीन भारत के आर्थिक विकास ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया था। समाज में समृद्धि रहने के कारण विभिन्न कला, विद्या आदि का विकास होने लगा। विद्वान् लोग जीवन के आध्यात्मिक पहलू पर अधिक परिश्रम करने लगे, क्योंकि उन्हें जीवन-कलह के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था। सब लोगों को अन्न, वस्त्र तथा अन्य दैनिक आवश्यकताएँ सरलता से प्राप्त होती थीं। इसलिए उन्हें संसार की पहेलियों के समझने तथा अध्यात्म-जीवन को उन्नत बनाने के लिए अधिक समय मिलता था।

उपसंहार—सारांश में यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही भारत के आर्थिक जीवन का विकास प्रारम्भ हो चुका था। कृषि का प्राधान्य था; किन्तु गाय, भेड़, बकरी का पालन, कपड़ा बुनना व नाना प्रकार की अन्य वस्तुएँ बनाने का ज्ञान भी लोगों को था। यह सब संगठित रूप से किया जाता था। प्राचीन साहित्य से संगठित आर्थिक जीवन का पता चलता है। राजा का भी कर्तव्य था कि वह आर्थिक संस्थाओं का आदर करे तथा उन्हें पूरी-पूरी सहायता दे। भारत के ग्राम विशेष रूप से उत्पादन के केन्द्र थे। प्राचीन काल में व्यापार का भी खूब विकास हुआ था, विशेषकर समुद्र द्वारा वैदेशिक व्यापार का। भारत की कपास, कपड़ा, मोती, हाथीदाँत, रत्न आदि की बनी हुई चीजें, मसाला आदि पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी व पश्चिमी यूरोप के बाजारों में बिकने जाते थे। इस प्रकार भारत के व्यापारी विदेशों से कितना ही सोना भारत में लाते थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत धनधान्यपूर्ण व समृद्धिशाली था।

९

राजनीतिक विकास

राजनीति की प्राचीनता—प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास में राजनीति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेदादि प्राचीन साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन राजनीतिक विकास का पता लगता है। प्राचीन भारत में राजनीति के बहुत से सिद्धान्त ज्ञात थे। वेदों में राजा (ऋ० १०।१७८; अथर्व० ६।८७।८८) सभा (ऋ० १०। ७१।१०; अथर्व० ७।१२; यजु० १६।२८; १६।२४), समिति (अथर्व० ६।८८।३; ५।१९।१५), राजकृत (अथर्व० ३।५।६-७), राजा का चुनाव (अथर्व० ३।४।२); राजाओं का पदच्युत किया जाना व पुनः सिंहासनारूढ़ किया जाना (अथर्व० ४।८।४; ३।३।५; ३।४।६) आदि से तत्कालीन राजनीतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। यह भी ज्ञात होता है कि राजा पर प्रजा का पर्याप्त नियन्त्रण रहता था। प्रजा में पूरी राजनीतिक जागृति थी। वेदों में वर्णित सभा और समिति द्वारा कहीं-कहीं राजा का चुनाव होता था। इस प्रकार वैदिक काल में पर्याप्त राजनैतिक विकास हुआ था। राजनीति के सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न किया गया था तथा इस शास्त्र को वैज्ञानिक ढंग पर विकसित भी किया गया था। इस शास्त्र में निष्णात कितने ही आचार्य हुए थे जिनका उल्लेख 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र' (साम शास्त्री द्वारा अनुवादित, पृ० ५-६; १३-१४) व महाभारत (शान्ति० ५७-५८) में आता है।

विशालाक्ष, इन्द्र (बहुदन्त), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गौरशिरस् पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन, चारायण आदि राजनीति के आचार्य अर्थशास्त्र में उल्लिखित किये गए हैं और उनमें कुछ के राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है। महाभारत में शिव, विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज, गौरशिरस् आदि राजनीति के महान् लेखकों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त धर्म-सूत्रों (आप० २।५।१०।१४; आश्व० गृ० ३।१२।१६), स्मृतियों (मनु० ७।१ व आगे) आदि में भी राजधर्म-प्रकरण में राजनीति के तत्त्वों का विवेचन किया गया है। अर्थ-शास्त्र के अतिरिक्त राजनीति-विषयक ग्रन्थ बहुत कम हैं, जैसे कामन्दकीय नीतिसार (ई० स० ५००), शुक्रनीति (आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग) आदि; जो कि अर्थ-शास्त्र के आधार पर लिखे गए हैं। पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश आदि में राजनीति के तत्त्वों को कहानियों के रूप में लौकिक ढङ्ग पर समझाया गया है।

शासन की उत्पत्ति—शासन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में राजनीति-विशारदों ने विभिन्न सिद्धान्तों को विकसित किया था, जैसा कि आधुनिक काल में देखा जाता है। साधारणतया इस सम्बन्ध के छः सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जा सकता है, जैसे (१) परमात्मा द्वारा प्रेषित व्यक्ति-विशेष द्वारा शासन का सूत्रपात्र, (२) मात्स्य-न्याय (३) सतयुग, (४) सामाजिक इकरारनामा, (५) पितृप्राधान्य-सिद्धान्त, व ईश्वर-प्रदत्त शासन-सत्ता।

व्यक्ति-विशेष द्वारा शासन का सूत्रपात—इस सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा किसी व्यक्ति को भिजवाकर किसी देश या राष्ट्र में शासन का सूत्रपात करता है। प्राचीन भारत ने मनु को परमात्मा द्वारा प्रेषित शासन का पुरस्कर्ता माना था। मनु ने ही राज-सत्ता का श्री गणेश किया, यह बहुत-से प्राचीन लेखकों का मन्तव्य है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य जगत् में भी पाया जाता है। प्राचीन स्पार्टा में लायकरगस,

एथेन्स में सोलन व मिस्र में मोज़ेज़ को शासन का आदि-प्रणेता मानते थे।

मात्स्य-न्याय—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य आपस में खूब लड़ते-झगड़ते थे। सब जगह पूर्ण अराजकता थी शक्तिशाली अशक्तों का नाश करते थे, जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। कुछ समय पश्चात् लोगों ने ऐसी परिस्थिति को अत्यन्त ही कष्टदायक अनुभव किया तथा सुख व शान्ति से रहने के लिए अपने को शासन के सूत्र में बाँध लिया। ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत शान्तिपर्व, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, कामन्दकीय नीति, शुक्रनीति आदि में मात्स्यन्याय के सिद्धान्त का अच्छा विवेचन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में लिखा है कि "देव और असुर इस लोक में आपस में लड़ने लगे। असुरों ने देवताओं को जीत लिया। देव कहने लगे, अराजकता के कारण वे हमें जीतते हैं। हमें चाहिए कि हम किसी को अपना राजा बनावें।" मनुस्मृति (७।३,२०) में लिखा है कि "इस अराजक लोक में, जहाँ चहुँओर भय-ही-भय था, सबकी रक्षा के लिए परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया। यदि लोक में दण्ड न हो तो सब प्रजा नष्ट हो जायगी। पानी में मछलियों के समान अधिक ससक्त अशक्तों को खा जायँगे।" बौद्ध जातक (१।३६६) में इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके कहा गया है कि इस कल्प का सर्वप्रथम राजा सुमेध था। प्रारम्भिक अराजकता को दूर करने के लिए वह राजा बनाया गया था। उसने समस्त अराजकता को दूर करके मानव-समाज में पुनर्व्यवस्था व संगठन की स्थापना की। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ हॉब्स ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सतयुग—इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-समाज प्रारम्भिक अवस्था में सुख और शान्ति से रहता था। उस समय न शासन की आवश्यकता थी और न ही शासक की। सब लोग धर्म से रहकर सुख व शान्ति का अनुभव करते थे; तथा नैसर्गिक नियमों से शासित किये

जाते थे। कुछ समय पश्चात् मनुष्यों ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इस परिस्थिति का अन्त किया और राज-सत्ता के अधीन रहना स्वीकृत कर लिया। उन्होंने सामाजिक उन्नति के लिए वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की परवाह नहीं की। महाभारत (शान्ति पर्व, ५८), दीघनिकाय (३।८४-९६) आदि ने इसी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए प्रारम्भिक शान्ति और सदाचार के साम्राज्य का विशद वर्णन किया है। नारद (अध्याय १,२) व बृहस्पति (१।१) स्मृतियों में भी स्वर्ण-युग का वर्णन है। पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो व राजनीतिज्ञ लॉक भी इसी मन्तव्य को मानते हैं।

सामाजिक इकरारनामा—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव-समाज सतयुग में सुख और शान्ति से रहता था। किसी को कष्ट नहीं था। किसी प्रकार का भी पाप नहीं था। किन्तु लोग धीरे-धीरे मोह से अभिभूत होकर सन्मार्ग से बिछुड़ने लगे और समाज में अशान्ति फैलने लगी। अतएव जनता ने एकत्रित होकर अपने में से एक को राजा बनाया। राजा ने यह इकरार किया कि मैं प्रजा की रक्षा करूँगा, प्रजा ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार किया व राजा को रक्षा करने के वेतन-रूप धान्य का षड्भागादि देना स्वीकार किया। महाभारत (शान्ति० ६६), अर्थ-शास्त्र (१।१४) आदि में इस सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन किया गया है, जहां कहा है कि कृतयुग में पहले-पहल राज्य, राजा, दण्ड, दण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे। सब लोग धर्म से ही परस्पर रक्षा करते थे। किन्तु वे धीरे-धीरे मोहाभिभूत हुए और उन्हें कष्ट होने लगा। वे लोग आपस में लड़ने लगे। इस मात्स्य-न्याय से सताये जाने पर उन्होंने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया, और वे धान्य-षड्भाग व पण्य-दश-भाग देने लगे। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ रूसो ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिससे प्रेरित होकर फ्रांस के लोगों ने क्रान्ति (ई० स० १७८९) की थी।

पितृ-प्राधान्य सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि शासन का सूत्रपात परिवार से होता है। परिवार में पिता सर्वोपरि

रहता है, तथा सबका शासन करने वाला होता है। ज्यों-ज्यों मानव-समाज विकसित होने लगा, त्यों-त्यों पारिवारिक शासन के अनुसार राजकीय शासन का भी विकास हुआ। कदाचित् प्राचीन आर्यों में शासन का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ होगा। वैदिक काल के 'राजा', 'विशपति', 'जन', 'विश' आदि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप यूरोप की मुख्य-मुख्य भाषाओं में पाये जाते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के समस्त आर्य विभिन्न विभागों में विभक्त थे, जिनका मूल 'कुल' था। सर हेनरी मेन इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी में रूस में लगभग दो सौ या तीन सौ परिवार ऐसे थे जोकि एक ही गृहपति द्वारा सञ्चालित व शासित किये जाते थे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अथर्ववेद (८।१०।१-२) में भी किया गया है। सुप्रसिद्ध यूनानी कवि होमर के मतानुसार भी राजशासन कतिपय व्यक्तियों के शासन से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजशासन का प्रारम्भ कुल से ही हुआ है।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आधुनिक काल में शासनोत्पत्ति के जो-जो सिद्धान्त राजनैतिक क्षेत्र में वर्तमान हैं, वे प्राचीन भारत के राजनीति-विशारदों को भी पूर्णतया ज्ञात थे।

ईश्वर-प्रदत्त शासन-सत्ता—शासन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त था। राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। जनता को शासन में रखने के लिए परमात्मा स्वयं नररूप धारण करता था। इस सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (५।१५।१४) में आता है, जहाँ राजा को प्रजापति कहा गया है; क्योंकि उसके अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। वहाँ 'चक्रवर्तिन्' शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२।६) में राज्याभिषेक के प्रसङ्ग पर अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। महाभारत (शांति०५६) में वर्णन आता है कि नारायण ने अपने तेज से एक पुत्र उत्पन्न किया,

तथा पृथुवैन्य का सातवाँ वंशज राजा बनाया गया। विष्णु भगवान् ने उसके शरीर में प्रवेश किया। इसीलिए समस्त विश्व ने उसे परमात्मा समझकर उसका आधिपत्य स्वीकार किया। देव व नरदेव में कोई अन्तर नहीं है। मनुस्मृति (७।८) में कहा है कि राजा नररूप में देवता ही हैं। शुक्रस्मृति में राजा की तुलना इन्द्र, वायु, रवि, यम, अग्नि, कुबेर आदि देवताओं से की गई है। नारदस्मृति मे राजा को ईश्वर का अंग माना गया है। राजा को देवता का अंश मानने का यह मतलब कदापि नहीं था कि वह निरंकुशता से चाहे जो कर सकता था। जो राजा प्रजा-पालन आदि कर्तव्यों को अच्छी तरह से निबाहता था और प्रजा को प्रसन्न रखता था, उसी को देवता कहलाने का अधिकार प्राप्त था, अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सतावे उसे कुत्ते के समान मार डालने का महाभारत (अनुशासन ६१।३२,३३) ने आदेश दिया है। वेन, नहुष आदि राजाओं का यही हाल हुआ था। प्रजा के दोषों के लिए राजा को जिम्मेदार समझा जाता था। इस प्रकार देवता का अंश समझे जाने पर भी राजा का जीवन उत्तरदायित्वपूर्ण था।

आठ प्रकार के शासन-विधान—आधुनिक काल के अनुसार प्राचीन भारत में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के शासन-विधान वर्तमान थे। राजा द्वारा शासित राज्य से लेकर प्रजातन्त्र तक नाना प्रकार की शासन-प्रणालियां वर्तमान थीं। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१३) में आठ प्रकार के शासन-विधान उल्लिखित हैं तथा उसमें वहाँ के शासकों की विभिन्न पदवियों का और जिन देशों में वे विधान प्राप्त थे उनका भी उल्लेख है। निम्नाङ्कित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

शासन-विधान	पदवी	स्थान-निर्देश
(१) साम्राज्य	सम्राट्	पूर्व
(२) भौज्य	भोज	दक्षिण
(३) स्वाराज्य	स्वराट	पश्चिम

शासन-विधान	पदवी	स्थान-निर्देश
(४) वैराज्य	विराट्	उत्तर (उत्तर मद्र, उत्तर कुरु)
(५) राज्य	राट्	कुरु-पाञ्चाल
(६) पारमेष्ठ्य		कुरु पाञ्चाल से उत्तर की ओर
(७) माहाराज्य		
(८) आधिपत्य (स्वावश्य)		

इन शासन-विधानों की शासन-सम्बन्धी क्या-क्या विशेषताएँ थीं, इस सम्बन्ध में विस्तार रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु उन्हें दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे प्रजातन्त्र व राजतन्त्र। प्रजातन्त्र-शासन-विधान में जनसाधारण की सत्ता सर्वोपरि रहती थी। राजतन्त्र-शासन-विधान में राजा ही सर्वोपरि रहता था, तथा प्रजा को उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता है। कहीं-कहीं प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा राजा चुना जाता था और उसके अधिकार परिसीमित रहते थे; कहीं-कहीं राजा वंशक्रमागत ही रहता था। ऊपर बताये हुए आठ शासन-विधानों में से भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि प्रजा-सत्तात्मक तथा साम्राज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य आदि राजसत्तात्मक प्रतीत होते हैं।

यदि निर्दिष्ट शासन-विधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि उक्त शासन-विधानों में से स्वाराज्य साम्राज्य, भौज्य आदि तीन की पुष्टि इतिहास से होती है। प्राचीन काल में बड़े-बड़े साम्राज्यों का सूत्रपात पूर्व दिशा में ही हुआ था, जैसे जरासन्ध व शिशुपाल का साम्राज्य तथा शैशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य। इसी प्रकार पश्चिम में प्रजातन्त्रों का आधिक्य रहा है, जैसे मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन, यौधेय आदि। बौद्ध-साहित्य, पुराण,

अशोक के धर्म-लेख आदि से दक्षिण के भौज्यों का पाता चलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में निर्दिष्ट शासन-विधानों के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में अन्य शासन-विधानों का भी उल्लेख आता है, जो कि इस प्रकार हैं—(१) राष्ट्रिक, इसमें 'राष्ट्रिक सापत्य' अथवा समाज के नेताओं द्वारा शासन होता था, जो कि वंशक्रमागत नहीं रहते थे, यह शासन-विधान पूर्वीय व पश्चिमी देशों में पाया जाता था; (२) पेत्तनिक, यह राष्ट्रिक का उलटा था तथा भौज्य से मिलता-जुलता था, अशोक के लेखों से मालूम होता है कि पेत्तनिकों का अस्तित्व पश्चिम में था; (३) द्वैराज्य, इसका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। महाभारत से पता चलता है कि अवन्ती में कुछ समय तक यह शासन-विधान था, ईसा की छठवीं व सातवीं शताब्दी के शिला-लेखों से पता चलता है कि नेपाल में ऐसा ही शासन-विधान वर्तमान था; (४) अराजक, इस शासन-विधान की विशेषता थी कि कोई राजा नहीं रहता था, सब लोग स्वयं ही नियमों का पालन करते थे, किसी नियम पालन कराने वाले की आवश्यकता ही न रहती थी, जैन सूत्रों में इसका उल्लेख है, जहाँ और ऐसे शासन-विधानों का भी उल्लेख है, जैसे गण-राज्य, युवराज-राज्य, द्वैराज्य, वैराज्य, विरुद्ध रज्जाणि आदि, (५) उग्र, वैदिक साहित्य में उग्र का उल्लेख है, कदाचित् केरल में यह शासन-विधान था, जैन-साहित्य में भी इसका उल्लेख है; (६) राजन्य, इसका उल्लेख जैन-सूत्रों में आता है। ये सब प्रजा-सत्तात्मक शासन-विधान प्रतीत होते हैं। इनमें से स्वाराज्य आदि का उल्लेख यजुर्वेद (१५।१३) में भी आता है। इन शासन-विधानों के अनुसार जो सर्वोपरि सत्ता का अधिकारी बनता था, उसका भी राज्याभिषेक आवश्यक समझा जाता था; क्योंकि आर्य शासकों के लिए 'मूर्धाभिषिक्त' होना अनिवार्य-सा हो था, केवल धर्म-च्युत यवनों का राज्याभिषेक नहीं होता था।

शुक्रनीति (१।१४-१५, और आगे) में भी विभिन्न शासन-विधानों का वर्णन है, किन्तु उनमें से अधिकांश राजसत्तात्मक हैं तथा उनका

विभाजन उनके 'रजक-कर्ष' के आधार पर हुआ है। वे शासन-विधान इस प्रकार हैं—(१) सामान्त, एक लाख से तीन लाख तक 'रजककर्ष', (२) माण्डलिक, चार लाख से दस तक, (३) राजन्, ग्यारह लाख से बीस लाख तक, (४) महाराज, इक्कीस लाख से पचास तक, (५) स्वाराज्य, इक्यावन लाख से सौ तक, (६) सम्राज, एक करोड़ से दस तक (७) विराज, ग्यारह करोड़ से पचास तक, (८) सार्वभौम, इक्यावन करोड़ व उससे अधिक।

राजतन्त्र व प्रजातन्त्र—उपरोक्त शासन-विधानों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये सब दो मुख्य विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले विभाग को राजतन्त्र कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत वे सब शासन-विधान आ जाते हैं, जहाँ सर्वोपरि सत्ता किसी वंशक्रमागत या चुने हुए राजा के हाथ में रहती है, जैसे राज्य, साम्राज्य, महाराज्य, पारमेष्ठ्य आदि। दूसरे विभाग को प्रजातन्त्र कह सकते हैं तथा इसमें वैराज्य-स्वाराज्य आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें प्रजा की सत्ता ही सर्वोपरि रहती थी। प्रजा-सत्तात्मक शासन को पारिभाषिक शब्दों में 'सङ्घ-शासन' भी कहते थे। सङ्घ भी दो प्रकार के थे, जैसे गण, जहाँ प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता था, और कुल, जहाँ वंशक्रमागत सामन्तों के हाथ में सत्ता के सूत्र रहते थे। अब दोनों विभागों का सविस्तार विवेचन आवश्यक है।

राजा व उसके अधिकार—महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों में 'राजा' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है। वहाँ समझाया गया है कि प्रजा का रञ्जन करना, उसे समृद्धिशील बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। महाभारत में लिखा है कि वह राजा इसलिए कहलाता है कि उसे प्रजा-रञ्जन करना पड़ता है। कालिदास ने भी रघुवंश में रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा भी अपने कर्तव्यों के पालन में कोई बात उठा

न रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्राण-प्यारी सीता को भी त्याग दिया। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख-शान्तिपूर्वक रहने के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। किन्तु राजा निरंकुश नहीं बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया गया था, और उस काम के लिए कृषि की आमदनी का छठवाँ तथा व्यापार की आमदनी का दसवाँ भाग उसे वेतन के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार वह जनता का वेतनभोगी रक्षक माना जाता था। उसे अपना कर्तव्य न करने पर पद-च्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा—प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार के रहते थे—वंश-क्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राजाओं के वंश-क्रम का उल्लेख है, रामायण, महाभारत पुराण आदि में उनकी वंशावलियाँ भी दी हैं, जिनसे पता चलता है कि राजाओं के अधिकार बहुशः वंश-क्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद (१०।१७३),अथर्ववेद (६।८७-८८;३।४।७) तथा अन्य साहित्य में राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख है। वैदिक काल में प्रजा के प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी, जिसके द्वारा राजा का निर्वाचन होता था। (ऋ० ६।६२।६; अथर्व० ६।८८।३; ५।१६।५)। वैदिक काल में एक और ऐसी संस्था थी, जिसे सभा कहा गया है। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि मन्त्रि-मण्डल का नाम ही सभा था। कोई-कोई उसे समिति के भवन से सम्बन्धित करते हैं।

समिति—सभा व समिति का उल्लेख ऋग्वेद (१०।१७३;६।१२।६) अथर्ववेद (७।१२।१-२) आदि में कितने ही स्थलों पर आता है, जहाँ लिखा है कि सभा व समिति प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियाँ हैं, जिनमें अच्छे-अच्छे सभासद् एकत्रित होकर उत्तम प्रकार से बोलने की इच्छा प्रगट करते हैं। समिति में अच्छे-अच्छे भाषण दिये जाते थे और प्रत्येक को यह महत्त्वाकांक्षा रहती थी कि मैं अच्छा वक्ता बनूँ। इस समिति

में राजा को भी उपस्थित रहना पड़ता था। वेदों (ऋ० ६।६२।६) में कितने ही स्थलों पर राजा के समिति में जाने का उल्लेख है। समिति में विचारैक्य का रहना व मतभेद का न रहना बहुत ही आवश्यक समझा जाता था। उसके सदस्य राजा का निर्वाचन भी करते थे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में राजा के चुनाव का उल्लेख है। राजा के लिए स्पष्टतया कहा गया है कि जनता ने उसे चुना है और वह राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करे तथा ऐश्वर्य का भागी बने (अथर्व० ३।४।२)। वेद-मंत्रों में 'राजकृत' शब्द कितनी ही बार उल्लिखित है जिससे कदाचित् 'मतदाता' का तात्पर्य है (अथर्व० ३।५।७) समिति द्वारा राजा के पद-च्युत किये जाने तथा पुनः उसी पद पर स्थापित किये जाने का उल्लेख भी वेदों में है (अथर्व० ३।३।६;३।४;१६) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में समिति द्वारा राजा का निर्वाचन होता था व उसे समिति की इच्छानुसार ही सब काम करने पड़ते थे। यदि कोई राजा समिति के विरुद्ध जाता तो वह पद-भ्रष्ट किया जाता था, तथा अपराध स्वीकार करने पर पुनः राजपद पर स्थापित किया जाता था।

पौर जानपद व राजा का चुनाव—वैदिक काल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कार्यरूप से लाया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में दिये हुए राज्याभिषेक के वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जायगा। पद्मगरुजातक, तेलपत्त-जातक महावंश आदि में 'महासम्मत' राजा का उल्लेख है। रामायण, महाभारत आदि में भी राजा के चुनाव का उल्लेख है। इस काल में समिति का स्थान पौर जानपद ने ले लिया था। यह सभा पौर जानपद इसलिए कहलाती थी कि नगरों व ग्रामों के प्रतिनिधि इसके सदस्य रहते थे। वैदिक काल की समिति के अनुसार इसका भी राजा पर पूरा-पूरा अधिकार रहता था। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड (१४।५२) से पता लगता है कि राम को राज-तिलक करने के पूर्व राजा दशरथ

को पौर जानपद की सम्मति लेनी पड़ी थी। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् नये राजा के चुनाव के लिए पौर जानपद की बैठक हुई थी। इसी पौर जानपद ने राम के वन जाने पर भरत को राज-काज सँभालने का आदेश दिया था (रामायण, अयोध्या० ६७।२;१११३२)। महाभारत (उद्योग० १४६।२१-२५) में वर्णन आता है कि देवापि को कुष्ठ रोग हो जाने पर जनता ने उसे राजा न बनने दिया; परिणामस्वरूप उसे अपने पुत्र को राजा बनाना पड़ा। महाभारत के आदि पर्व (८५।३२) में भी पौर जानपद व राजा के सम्बन्ध का उल्लेख आता है, जहाँ लिखा है कि "पौर जानपद ने प्रसन्न होकर नहुष के पुत्र ययाति से कहा कि अपने पुत्र पुरु का अपने राज-सिंहासन पर अभिषेक कीजिए।" महाक्षत्रप रुद्रदामन (ई० स० १२०) के गिरनार के शिलालेख में उसके सब वर्णों द्वारा चुने जाने का उल्लेख है। खालिमपुर के लेख में पालवंशी राजा धर्मपाल का प्रजा द्वारा चुने जाने का उल्लेख है। कसकौड़ी के ताम्रपत्रों में पल्लवराजा नंदीवर्मा का प्रजा द्वारा चुने जाने का वर्णन है। चीनी यात्री यूएनच्वेङ् ने लिखा है कि हर्षवर्धन को प्रजा ने राजा चुना था।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था। वैदिक काल में यह चुनाव समिति द्वारा होता था, और तत्पश्चात् पौर जानपद, ब्राह्मण वृद्धादि द्वारा होने लगा, जिन्हें रामायण, महाभारत आदि में 'राजकर्तारः' नाम से सम्बोधित किया गया है। इसका यह मतलब नहीं है कि आधुनिक काल में भारत के 'राष्ट्रपति' या अमरीका के संयुक्त राज्य के 'प्रेसिडेण्ट' के समान राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमें से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था। आजकल प्रजातन्त्र के नाम पर चलने वाली दूषित अहमहमिका प्राचीन भारत में नहीं थी। राजा के चुनाव से तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। साधारणतया राजा वंश-क्रमागत रहता था। उसके उत्तरदायित्व व

कर्तव्यों का स्पष्टीकरण कर दिया गया था। जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझकर कर्तव्यों का पालन नहीं करता था, वह समिति या पौर जानपद के द्वारा राज-पद से च्युत किया जाता था, तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जोकि साधारणतया राज-कुल का ही रहता था इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौर जानपद आदि की स्वीकृति पहले प्राप्त कर लेनी पड़ती थी। इस प्रकार राजपद का काम सुचारु रूप से चलता था।

राजा के लिए आवश्यक गुण—राजा बनने के लिए राज-कुल में जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं था, योग्यता व कितने ही गुण प्राप्त करने पड़ते थे, जिनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) विनय—नीति-शास्त्र के लेखकों ने राजा के लिए विनय-प्राप्ति पर बहुत जोर दिया है। इस सम्बन्ध में मनु, शुक्र, कामन्दक आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। (२) नियमबद्धता—प्राचीन स्पार्टा के निवासियों के समान प्राचीन भारत के राजा के लिए भी नियमबद्धता आवश्यक थी। राजा को कड़ाई के साथ सब नियमों का पालन करना पड़ता था, जैसा कि कल्हण-कृत 'राजतरङ्गिणी' से काश्मीर के राजा शङ्करवर्मा के बारे में मालूम होता है। (३) इन्द्रिय-दमन—महाभारत, मनु, शुक्र, बार्हस्पत्य, चाणक्य आदि इस पर विशेष जोर देते हैं। राजा के लिए द्यूत, पान, स्त्री आदि निषिद्ध थे। किन्तु इन्द्रिय-दमन का मतलब पूर्ण विषय-पराङ्मुखता नहीं था। (४) वृद्धसेवित्व—राजा को वृद्धों की सेवा करनी पड़ती थी, तथा उनकी सलाह से राज-काज चलाना पड़ता था। मनु, बार्हस्पत्य, अर्थशास्त्र आदि ने इसका विवेचन किया है। (५) विद्या-प्राप्ति—राजा के लिए विद्या-प्राप्ति अत्यन्त ही आवश्यक समझी जाती थी। त्रयी अर्थात् वेद, आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शन, वार्ता अर्थात् अर्थशास्त्र, दण्डनीति अर्थात् राजनीति आदि का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में कलिङ्ग के चेतवंशीय राजा खारवेल (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के हाथीगुम्फा लेख से प्रमाण मिलता है।

खारवेल ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही इन विद्याओं का पठन प्रारम्भ कर दिया था। लेख—राजकीय पत्रादि के लिखने की कला; रूप—सिक्कों की कला, गणना—हिसाब-किताब; व्यवहार—न्यायादि करने का ढङ्ग, न्यायालय के नियम आदि; विधि—राजनियम आदि।

उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त राजा को सुसंगति, सुनृतवाक्, धर्मप्रियता, सुपरिवायुक्तता आदि की प्राप्ति भी करनी पड़ती थी। राजा को धार्मिक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यम-नियमादि द्वारा आत्मनिग्रह का अभ्यास उसके लिए आवश्यक था; किन्तु धार्मिक कट्टरपन, जिससे राजकाज में बाधा पहुँच सकती है, सर्वथा अवाञ्छनीय था। राजतरङ्गिणी से मालूम होता है कि राजा सन्धिमान् अत्यन्त ही धार्मिक था। धार्मिक कृत्यों से उसे राजकाज सँभालने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। परिणामस्वरूप प्रजा उससे असन्तुष्ट हो गई तथा उसे राजगद्दी छोड़नी पड़ी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राजा के कर्तव्य, शिक्षा आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। प्राचीन राजा साधारणतया क्षत्रिय वर्ण के रहते थे। अर्थशास्त्र में क्षत्रिय के कर्तव्य इस प्रकार बताये गए हैं—(१) वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन, (२) यजन, (३) दान, (४) शस्त्र-जीवन, (५) भूतरक्षण। क्षत्रियों को विभिन्न विद्याओं का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था, जैसे (१) त्रयी, अर्थात् वेद, (२) आन्वीक्षिकी, (३) वार्ता, (४) दण्डनीति, (५) इतिहास। इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्म-शास्त्र, व अर्थशास्त्र का समावेश होता था। इन विद्याओं से उनको सैनिक शिक्षा, हस्ति-विद्या, अश्व-विद्या, रथ-विद्या, प्रहरण-विद्या आदि का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। अर्थशास्त्र में राजा की दिनचर्या भी दी गई है, जो कि इस प्रकार है—

दिवस

प्रातः—(१) ६ बजे से ७-३० बजे तक—सोना व कोष-निरीक्षण

(२) ७-३०	,,	६	,,	—पौर जानपद के कार्य का निरीक्षण।
(३) ६	,,	१०-३०	,,	—स्नान, सन्ध्या, भोजन व अध्ययन।
(४) १०-३०	,,	१२	,,	—अध्यक्षों के पास से कर आदि वसूल करना।
दोपहर—(५) १२	,,	१-३०	,,	—अनुपस्थित मन्त्रियों से पत्र-व्यवहार।
(६) १-३०	,,	३	,,	—मनोरंजन अथवा आत्म-चिन्तन।
(७) ३	,,	४-३०	,,	—हाथी, घोड़े, रथ, पदाति का निरीक्षण।
सायं—(८) ४-३०	,,	६	,,	—सेनाधिपति से विचार-विनियम व सायं सन्ध्या।

रात्रि

(१) ६ बजे	से	७-३०	बजे तक	—गुप्तचरों से मुलाकात।
(२) ७-३०	,,	६	,,	—स्नान, भोजन, अध्ययन।
(३) (४) (५) ६	,,	१-३०	,,	—शयन
(६) १-३०	,,	३	,,	जागना, धर्मशास्त्रों के नियम व दैनिक जीवन का चिन्तन।
(७) ३	,,	४-३०	,,	—मन्त्रि-मण्डल की बैठक, व गुप्तचरों को अपने अपने काम के लिए भेजना।

(८) ४-३० ,, ६ ,, —पुरोहित, गुरु आदि से आशीर्वाद प्राप्त करना; वैद्यक, पाचक, ज्योतिषी आदि से मुलाकात; सवत्सा गौ की प्रदक्षिणा करके राजसभा में प्रवेश।

उपरोक्त वर्णन से भारत के प्राचीन राजा के कर्तव्यों व अधिकारों का सुन्दर चित्र खिंच जाता है। वह प्रजा व राष्ट्र का सेवक था, न कि स्वार्थ व निरङ्कुशता का आगार। हर प्रकार से प्रजा की उन्नति करके उसे सुख शान्ति पहुँचाना उसका एक-मात्र कर्तव्य था।

सप्ताङ्ग राज्य—प्राचीन काल में राज्य के बारे में यह मन्तव्य था कि वह एक सुसंगठित व सुव्यवस्थित संस्था है, जिसका उद्देश्य प्रजा का योगक्षेम है। राजा उस राज्य का प्रतीक-मात्र था। राज्य के सात अङ्ग माने गए थे, जिन पर उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता था। अर्थशास्त्र (६।१), मनुस्मृति (८।२८४-२८७), कामन्दकीय नीतिसार (४।१) आदि में राज के सात अङ्गों का अच्छा विवेचन किया है। ये सात अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) स्वामी—सर्वोपरि सत्ता-प्राप्त शासक, (२) अमात्य, मंत्री (३) जनपद, राज्य का भू-विस्तार तथा वहाँ की जनता, (४) दुर्ग अथवा किलेबन्दी, राज्य की रक्षा के उपाय व साधन, (५) कोष, अर्थात् विभिन्न करों द्वारा अर्थ-सञ्चय, (६) दण्ड सैनिक शक्ति, (७) मित्र अर्थात् मित्रराज्य, जिनकी सहायता से शत्रु को हराया जाता है। यदि इन सातों अङ्गों पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि एक विकसित व बड़े राज्य के लिए इन सब की यथावत् रक्षा व व्यवस्था की कितनी आवश्यकता है। आधुनिक राज्यों में भी ये ही सात मुख्य अङ्ग रहते हैं। राजा को अपने मंत्रि-मण्डल की मन्त्रणा द्वारा राजकाज चलाना पड़ता था, साथ ही अपने उत्तरदायित्व को निबाहने के योग्य बनना पड़ता था। उसे जनपद

अर्थात् राज्य के अन्तर्गत भूमि और वहाँ के निवासियों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता था। कदाचित् जनपद में पौर जानपद-सभा का भी समावेश हो जाता हो, क्योंकि सबकी सलाह के बिना राजा कुछ भी नहीं कर सकता था। प्राचीन काल में राज्य की सम्यक् रक्षा के लिए किलेबन्दी का भी बड़ा महत्त्व था। पहाड़ियों पर या नदी के किनारे राज्य की रक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों में बहुत से किले रहा करते थे। ऋग्वेद में भी इनका उल्लेख आता है। कोष, दण्ड व मित्र भी राज्य की उन्नति और उसके विकास के लिए अत्यन्त ही आवश्यक रहते हैं। बलिषड्-भाग व पण्यदश-भाग आदि के द्वारा कोष की वृद्धि होती थी। दण्ड में सेना का समावेश होता था, जिसमें साधारणतया रथ, हाथी, घोड़े, पैदल आदि रहते थे। प्रत्येक राजा को अन्य राज्यों की मैत्री भी सम्पादन करनी पड़ती थी, जैसा कि आजकल भी होता है। आधुनिक राजनीति-शास्त्र के विद्वानों ने राज्य के पाँच आवश्यक अङ्ग माने हैं, जैसे (१) जनता, (२) भू-विस्तार, (३) राजतन्त्र, (४) संगठन की एकता, (५) सर्वोपरि सत्ता। प्राचीन भारत के सात अङ्गों में और इन पाँच अङ्गों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

षाड्गुण्य—राज्य की वैदेशिक नीति का सञ्चालन षाड्गुण्य के सिद्धान्त द्वारा सुचारु रूप से किया जाता था। महाभारत (शान्ति, ६९।६६-६८), मनुस्मृति (७।१६०), माघ-कृत शिशुपाल-वध (२।२६) आदि में षाड्गुण्य का विवेचन किया गया है ; षाड्गुण्य में सन्धि, विग्रह, यान, स्थान, आसन, द्वैधीभाव और वैदेशिक नीति में सबसे पहले सन्धि को स्थान दिया गया था। प्रत्येक राष्ट्र को कुछ राष्ट्रों को मित्र बनाना आवश्यक है। शत्रु को पराजित करने के लिए तो इसकी अधिक आवश्यकता है। इसके पश्चात् अपने मित्र-राष्ट्रों की सहायता से शत्रु से युद्ध किया जाता था। युद्ध की घोषणा के पश्चात् शत्रु पर आक्रमण करना पड़ता था। शत्रु के राज्य के निकट पहुँचकर कुछ समय तक ठहरकर कूटनीति आदि द्वारा शत्रु-पक्ष में झगड़े उत्पन्न करने का

प्रयत्न किया जाता था, जिससे शत्रु का सहज ही में नाश हो सके।

त्रिवर्ग—प्राचीन विद्वानों ने राज्य का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करके उसके तीन तत्त्वों को समझकर त्रिवर्ग के सिद्धान्त को जन्म दिया। क्षत्र, स्थान व वृद्धि का त्रिवर्ग में समावेश होता है। 'क्षत्र' से राजसत्ता का तात्पर्य है। राजसत्ता बहुत-कुछ राजा के व्यक्तित्व पर रहती थी। 'स्थान' से राज-शक्ति का बोध होता है। इसके अन्तर्गत सेना, कोष, राज्य-विस्तार आदि का समावेश हो जाता है। राज्य की आर्थिक आय शक्ति आदि को बढ़ाना 'वृद्धि' में आ जाता है। किसी भी राज्य को सशक्त बनने के लिए इन तीन तत्त्वों का सम्यक् विनियोग करना अत्यन्त ही आवश्यक था।

तीर्थ—राज्य-शासन को संगठित व व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए शासन-सम्बन्धी कार्यों को विभिन्न विभागों में विभाजित किया गया था। इन विभागों को राजनीति-शास्त्र में 'तीर्थ' कहा गया है। प्राचीन साहित्य में साधारणतया अठारह तीर्थों का उल्लेख है। रामायण (२।१००। ३६), महाभारत (शान्ति० ६७।१७२) अर्थशास्त्र (१।१२।८) आदि में अष्टादश तीर्थों का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के टीकाकार नील-कण्ठ के मतानुसार अठारह तीर्थ इस प्रकार थे—मन्त्री, पुरोहित, चमूपति, द्वारपाल, अन्तर वेषिक, कारागाराधिकारी, द्रव्यसञ्चयकृत, 'कृत्याकृत्येष्वर्थानां विनियोजक; अर्थात् योग्य-अयोग्य कार्यों का विनियोग करने वाला-प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्य-निर्माण कृत, धर्माध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल व अटवीपाल। अर्थशास्त्र ने अठारह में से पन्द्रह तीर्थों के नाम गिनाये हैं, जैसे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तरवेषिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, दण्डपाल, दुर्गपाल अन्नपाल व आटविक। इन अधिकारियों में से कुछ का उल्लेख ब्राह्मणादि साहित्य में भी पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता व तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजन्य, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, संग्रहीता, भाग दुघ, अक्षावाप आदि का उल्लेख है।

पञ्चविंश ब्राह्मण में आठ 'वीर' उल्लिखित हैं, जिनमें पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, संग्रहीता आदि को सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार तीर्थों की प्राचीनता स्पष्टतया समझ में आ जायगी।

मन्त्रि-मण्डल—राजकाज को ठीक तरह से चलाने के लिए राजा को मन्त्रि-मण्डल भी रखना पड़ता था। राजनीति के लेखकों ने मन्त्रियों की आवश्यकता पर जोर देते हुए मन्त्रि-मण्डल का उल्लेख किया है। महाभारत (शान्ति ५।३७-३८), अर्थशास्त्र (१।३।१।३), मनु (८।५३), शुक्र (२।८१) आदि ने स्पष्टतया लिखा है कि "राजा को मन्त्रियों की सहायता अवश्य लेनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार मन्त्रियों के बिना शासन-कार्य भी नहीं चल सकता। मामूली काम ही अकेले के लिए दुष्कर हो जाता है तो शासन-कार्य की क्या कथा? एक व्यक्ति सब-कुछ नहीं कर सकता, विभिन्न मति वाले लोगों की सहायता आवश्यक है।" चाणक्य ने मन्त्रियों की योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है कि मन्त्री नाना प्रकार के गुणों से युक्त, कुलीन और प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व वाले होने चाहिएँ। मन्त्रियों के वर्ण के सम्बन्ध में महाभारत, मनु, शुक्र आदि का मत है कि वे साधारणतया ब्राह्मण रहें, किन्तु अन्य वर्णों के विद्वान् भी मन्त्री रह सकते हैं। यहाँ तक कि यदि शूद्र, म्लेच्छ, संकर-सम्भव आदि योग्य और विद्वान् हों तो मन्त्री बनाये जा सकते हैं।

मन्त्रि-मण्डल के सदस्य—मन्त्रि-मण्डल में साधारणतया ये मन्त्री सम्मिलित थे—(१) पुरोहित—वैदिक काल से ही राजा की सभा में पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। धार्मिक कृत्य, यज्ञ आदि के लिए उसकी परम आवश्यकता थी। हाथी, घोड़े आदि की पूजा के के लिए भी उसकी आवश्यकता होती थी। वैदिक काल में वह राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाता था। उसे धनुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता था। (२) प्रतिनिधि—मनु व चाणक्य ने मन्त्रियों में प्रतिनिधि का समावेश नहीं किया है। इसकी आवश्यकता हमेशा नहीं रहती

थी। जब कभी राजा बीमार रहता तब इसे उसके स्थान में काम करना पड़ता था। यह अक्सर राज-कुल का रहता था। (३) प्रधान—इसे सब राजकाज की देख-भाल करनी पड़ती थी। इसका पद अत्यन्त ही महत्त्व का था, जैसा कि आधुनिक प्रधान मन्त्री का रहता है। (४) सचिव—यह युद्ध-मन्त्री था। इसके लिए युद्ध-कला में प्रवीण होना आवश्यकीय था। इसका नाम सेनावित् भी था। काश्मीर में इसे कम्पन कहते थे। (५) मन्त्री—यह वैदेशिक मन्त्री था। इसके लिए नीति-कुशल होना आवश्यक था। इसे साम, दान, दण्ड, भेद आदि की उपयोगिता अनुपयोगिता का भी विचार करना पड़ता था। मनुस्मृति व महाभारत में इसे अमात्य कहा गया है,तथा सन्धि-विग्रह का उत्तरदायित्व भी इसी पर छोड़ा गया था। (६) प्राड्विवाक—यह मुख्य न्यायाधीश था। इस के लिए धर्मशास्त्र का विशेष ज्ञान तथा अन्य आवश्यक गुणों का प्राप्त करना अनिवार्य था। (७) पण्डित—यह धर्म-सम्बन्धी मन्त्री था। इसे प्रजा के धार्मिक जीवन का निरीक्षण करना पड़ता था। आवश्यकतानुसार धार्मिक नियमों के परिवर्तन आदि का उत्तरदायित्व भी इसी पर था। अशोक के धर्म महामात्र की तुलना इससे की जा सकती है। (८) सुमन्त्र—यह आय-व्यय का परिज्ञाता था। राज्य के आय-व्यय का निरीक्षण करना इसका विशेष कर्तव्य था। कोष में कितना धन है, और घास, अनाज आदि अन्य चीजें कितनी हैं, इन सबका हिसाब भी इसे ही रखना पड़ता था। (९) अमात्य—इसे ग्राम व नगरों की परिगणना करनी पड़ती थी, तथा कर निश्चित करना पड़ता था। बाद के शिलालेखों में प्रान्तीय शासक के लिए इस नाम का उपयोग किया गया है। (१०) दूत—इसका काम विभिन्न देशों में एलची भेजना व उन देशों की शक्ति का पता लगाना था। मन्त्रियों की इस सूची में शिक्षा आदि सार्वजनिक हित-सम्बन्धी मन्त्रियों का उल्लेख नहीं आता। ये काम समाज द्वारा किये जाते थे। ग्रामों में सर्वसाधारण के उपयोग के काम ग्रामीण लोग स्वतः ही कर लेते थे। चाणक्य ने कहा है कि केन्द्रीय सरकार को सार्व-

जनिक हित के कार्यों के लिए स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता पहुँचानी चाहिए। अर्थशास्त्र में लिखा है कि उन कार्यों की देख-भाल के लिए एक कर्मचारी भी नियुक्त किया जाना चाहिए।

मन्त्रि-मण्डल पर ऐतिहासिक दृष्टि—मन्त्रि-मण्डल पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह मण्डल केवल नीति-शास्त्रज्ञों के ग्रन्थों में ही नहीं था, किन्तु यथार्थ में भी उसका अस्तित्व था, जैसा कि कितने ही ऐतिहासिक उदाहरणों से प्रमाणित किया जा सकता है। वैदिक काल में जो 'रत्निन्' थे, वे ही तत्कालीन मन्त्रि-मण्डल के सदस्य थे। तैत्तिरीय संहिता (१।८।९) के अनुसार वे 'रत्निन्' इस प्रकार हैं—पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता, सेनानी, सूत, ग्रामीण, क्षत्ता, संग्रहीता, भागदुक्, अक्षावाप। ये सब राज को धार्मिक, सामाजिक, सार्वजनिक आदि कर्तव्यों में सहायता देते थे। इस प्रकार, वैदिक काल में भी बीजरूप से मन्त्रि-मण्डल वर्तमान था। वैदिक काल के पश्चात् भी इतिहास से इसका अस्तित्व प्रमाणित होता है। बौद्ध साहित्य से पता लगता है कि अजातशत्रु का मन्त्रि-मण्डल था। इसने बुद्ध के पास अपने दो मन्त्रियों को यह जानने के लिए भेजा था कि लिच्छवी जीते जा सकते हैं या नहीं। मौर्यों तथा शुङ्गों के भी मन्त्रि-मण्डल थे। प्राचीन लेखों में आन्ध्र, शकक्षत्रप, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, सिलाहर आदि राजवंशों के कितने ही मन्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख आता है। उन मन्त्रियों में से कुछ ये हैं—रायामच, भण्डाकारिक, अमच्च, मतिसचिव, कर्मसचिव, मन्त्रीन्द्र, महामन्त्री, महाबलाधिकृत्, महा प्रचण्ड दण्डनायक, महासन्धि-विग्राहक, श्रमणमहामात्र, विनयस्थिति स्थापक, धर्माङ्कुश, धर्म-प्रधान आदि। शिवाजी के अष्टप्रधान भी इसी प्राचीन मन्त्रि-मण्डल से सम्बन्धित हैं।

स्थानीय शासन—प्राचीन भारत में स्थानीय शासन का प्रारम्भ ग्राम से होता था, जैसा कि आजकल जिले से होता है। ग्राम के सञ्चालन में सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियों का

हाथ रहता था। गाँव में पटेल व पटवारी सरकार की ओर से रहते थे, और ग्राम-पञ्चायत जनता की ओर से रहती थी। कदाचित् उन दोनों सरकारी कर्मचारियों को भी पञ्चायत में रहना पड़ता था। वैदिक काल में गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। ऋग्वेद (१०।१०७।५) में उसकी तुलना साक्षात् राजा से की गई है। महावग्ग, कुलावक जातक, खरस्सर जातक, उभतोभट्ट जातक आदि में भी ग्रामणी का उल्लेख है, जहाँ बताया गया है कि वह कर वसूल करता था तथा चोर-बदमाश आदि को गिरफ्तार करता था। इसे ग्राम-सम्बन्धी सब देख-रेख रखनी पड़ती थी। मनु, शुक्र विष्णु आदि स्मृतियों में उसे 'ग्रामिक' कहकर उसके अधिकार व कर्तव्य बताये गए हैं। हाल-कृत सप्तशती में भी उसका उल्लेख आता है, जहाँ उसे सेनाधिनायक भी कहा गया है। मुस्लिम राज्य में व अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में भी उसका उल्लेख आता है। बहमनी राज्य में वह कर वसूल करने में तहसीलदार की सहायता करता था। मुर्शिदकुली ने कर-वसूली ने लिए बहुत से गाँव-पटेल नियुक्त किये थे।

ग्राम-पञ्चायत—भारत की ग्राम-पञ्चायत संस्था भी बहुत पुरानी है। वैदिक काल में उसका अस्तित्व था। अंग्रेजी राज्य के आने के पहले तक वह एक जीवित संस्था थी। ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उसके सदस्य रहते थे। ग्राम-सम्बन्धी सब बातें उसी में तय की जाती थीं। उसको न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था। वैदिक काल के पश्चात् भी उसके अस्तित्व के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में कितने ही स्थलों पर ग्राम-पञ्चायत का उल्लेख है। ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी के लेखों में भी इस संस्था का उल्लेख आता है। शिलालेखों में उसके सर्वोपरि कर्मचारी को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलिक आदि कहा गया है। जातक-साहित्य में उसे 'ग्राम-भोजक' नाम से उल्लिखित किया गया है, उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यों की एक छोटी उपसमिति रहती

थी, जिसे बड़ी पञ्चायत के सामने जवाबदेह होना पड़ता था। अधिकार के स्थान साधारणतया वंशक्रमागत रहते थे। कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितियाँ रहती थीं। उत्खल-लेखों से ऐसी चार या पाँच उपसमितियों का पता चलता है, जैसे (१) एक वर्ष के लिए चुने गए महाजन, (२) दान-धर्म के लिए चुने गए महाजन, (३) तालाब के लिए चुने गए महाजन, (४) बगीचों के लिए चुने गए महाजन, (५) प्रति वर्ष ग्राम के आन्तरिक जीवन की देख-रेख रखने के लिए चुने गए महाजन। ईसा की नवीं व दसवीं शताब्दी के चोल तथा उत्तरमल्लूर-लेखों से मालूम होता है कि राजा को भी ग्राम-पञ्चायत के अधिकार मान्य रहते थे। ग्राम की सब भूमि, शिक्षा आदि के प्रबन्ध में ग्राम-पञ्चायत पूर्ण स्वतन्त्र थी।

पञ्चायत की भावना—प्राचीन जीवन के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास में पञ्चायत-भावना का अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण स्थान था। दार्शनिकों की समष्टि व व्यष्टि की उलझनों को समाज-शास्त्रियों ने इसी भाव की सहायता से सुलझाया था। इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुखी था। पञ्चायत की भावना समाज में इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी के द्वारा सञ्चालित होता था। हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के सञ्चा-लन के लिए पञ्चायत-प्रथा थी। आजकल भी इस प्रथा का बिगड़ा हुआ स्वरूप जाति-पंचायतों के रूप में दिखाई देता है। ऊँचे-से-ऊँचे ब्राह्मण से लेकर नीच-से-नीच मेहतरों तक का सामाजिक जीवन जाति-पञ्चायतों द्वारा ही सञ्चालित होता है।

नागरिक जीवन—ग्रामों के अनुसार नगरों का जीवन भी ग्राम-पञ्चायत के समान संस्था द्वारा सञ्चालित किया जाता है। कुछ ऐति-हासिकों के मतानुसार वह संस्था आधुनिक म्युनिसिपल कमेटी के समान थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने पाटलीपुत्र की नगर-सभा का वर्णन किया है। उक्त नगर-सभा के तीस सदस्य

थे; जो पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में बँट गए थे, तथा नगर का पूर्णतया सञ्चालन करते थे। राजा द्वारा भी ऐसी संस्थाओं को सहायता मिलती थी।

श्रेणि, पूग, निगम आदि—समाज के आर्थिक जीवन का सञ्चालन श्रेणि, पूग निगम आदि संस्थाओं द्वारा होता था। उनसे भिन्न-भिन्न व्यापार व उद्योग-धन्धे करने वालों के संगठित जीवन का पता लगता है। ये संस्थाएँ भी बहुत प्राचीन थीं। बौद्ध साहित्य, रामायण, स्मृत्यादि से उनके अस्तित्व का पता लगता है। उन्हें बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। वे अपने सिक्के भी बना सकती थीं। इस सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि स्मृतियों से तथा नासिक, जुन्नार आदि के प्राचीन लेखों से बहुत-कुछ मालूम होता है। ये संस्थाएँ न केवल आर्थिक जीवन को संगठित करती थीं, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता का वातावरण निर्माण करके समाज को संस्कृति के मार्ग में अग्रसर भी करती थीं। इन सब संस्थाओं के अपने न्यायालय भी होते थे, जिनमें साधारणतया ज़मीन, ज़ायदाद आदि के दीवानी झगड़े तय होते थे। फौजदारी मामलो पर राजा के न्यायालयों का अधिकार रहता था, किन्तु बड़े-बड़े साम्राज्यों के काल में दीवानी मामलों पर भी राजा ने अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया था। परिणामस्वरूप, श्रेणि, पूग, ग्राम-पञ्चायत आदि के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य हुई होगी। मौर्य-साम्राज्य में पाँच दीवानी न्यायालय थे, जैसे प्रान्तीय, स्थानीय (८०० ग्राम), द्रोणमुख (४०० ग्राम), खार्वटिक (२०० ग्राम) गोप (२ से ५ ग्राम)। इनके अतिरिक्त कण्टक-शोधन (फौजदारी) न्यायालय भी थे। प्राचीन साहित्य में न्यायालय को 'सभा' कहा गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, नारद आदि स्मृतियों ने इन सभाओं का उल्लेख किया है।

बड़े-बड़े राज्यों की व्यवस्था—प्राचीन भारत ने बड़े-बड़े राज्यों की व्यवस्था की भी सुन्दर आयोजना विकसित की थी। मौर्य, गुप्त,

हर्ष आदि के साम्राज्यों के इतिहास से पता लगता है कि राज्य को भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बाँट दिया जाता था, जिनको 'भुक्ति' आदि नामों से सम्बन्धित किया जाता था। उनका ऊपरी अधिकारी राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। अशोक के धर्म-लेखों, दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों तथा यूएनच्वेङ् आदि चीनी यात्रियों के भारत-वर्णन में इन प्रान्तों व उनके अधिकारियों का स्पष्ट उल्लेख है। इन प्रान्तों को जनपद में व जनपद को किसी निश्चित संख्या के ग्रामों में विभाजित किया गया था। यह व्यवस्था बीज रूप से ऋग्वेद में भी पाई जाती है। वैदिक काल में इसी प्रकार की व्यवस्था थी, जिसने विश, जन, कुल, ग्राम आदि नामों से राज्य के मुख्य विभाग किये गए थे। महाभारत (शान्ति० ८७) में भी ऐसी ही व्यवस्था का उल्लेख है।

प्रजातन्त्र—प्राचीन भारत में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का भी पर्याप्त विकास हुआ था। वैदिक काल की समिति आदि से पता चलता है कि जनसाधारण में पर्याप्त राजनीतिक जागृति हो चुकी थी। लोगों ने अपने अधिकारों को समझना तथा उनकी रक्षा करना सीख लिया था। प्रजातन्त्र के विकास के लिए ऐसे ही वातावरण की आवश्यकता होती है। इसी से प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का जन्म हुआ। वैदिक काल में प्रजातन्त्र पूर्ण विकसित रूप में न हो, किन्तु तत्कालीन वातावरण प्रजातन्त्र के भावों से परिपूर्ण अवश्य रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्वराज्य शासन-विधान वर्तमान था, जहाँ के शासक को स्वराट् कहते थे। सम्भवतः वहाँ की शासन-पद्धति प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर अवलम्बित रही हो। प्रजातन्त्र का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि, बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में आता है, और यूनानी इतिहासकारों ने भी उसका वर्णन किया है। प्राचीन प्रजातन्त्र का पारिभाषिक नाम 'सङ्घ' था। ये सङ्घ दो प्रकार के रहते थे—गण, जिसमें जनता के प्रतिनिधि सदस्य रहते थे; कुल, जिसमें वंश-क्रमागत सदस्य रहते थे।

अष्टाध्यायी में सङ्घ—पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी (५।३।११४; ४।१।१६८; काशिका वृत्ति ४५५-४५६) में सङ्घों से सम्बन्धित शब्दों की व्युत्पत्ति के बारे में कितने ही नियम बताये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी के लगभग या उससे कुछ पूर्व) में सङ्घ वर्तमान थे तथा उन्हें महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। उन नियमों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से मालूम होता है कि किस प्रकार राज-शासन व सङ्घ-शासन की भिन्नता दरसाई गई है, तथा यह भी दरसाया गया है कि उन सङ्घों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सब सम्मिलित हो सकते थे। अष्टाध्यायी में ये सङ्घ उल्लिखित हैं—वृक, दामनी, त्रिवर्गषष्ठ, यौधेय, पार्श्व आदि। इन्हें 'आयुध-जीवी सङ्घ' कहा गया है। अर्थशास्त्र में इन्हें 'शास्त्रोपजीवी-संघ' कहा गया है। मद्र, वृजि, राजन्य, अन्धक-वृष्णि, महाराज, भर्ग आदि सङ्घों का भी उल्लेख अष्टाध्यायी में आता है। सिकन्दर के समकालीन यूनानियों ने शूद्रक व मालव का तथा पुराणों ने अन्धक-वृष्णि का उल्लेख विशेष-रूप से किया है। वृष्णि-सङ्घ का एक सिक्का (ई० पू० प्रथम शताब्दी) भी मिला है, जिस पर इस प्रकार लिखा है—"वृष्णि-राजन्मा गणस्य"। इन संघों के 'अङ्क' व 'लक्षण' भी रहते थे। इनमें से कुछ में राजकाज चलाने के लिए एक के बदले दो सभाएँ रहती थीं।

बौद्ध-साहित्य में संघ—बौद्ध-साहित्य में भी संघों का उल्लेख है, जहाँ उन्हें 'गण' कहा गया है। अवदान-शतक (२।१०३) में वर्णन आता है कि मध्य देश से कुछ वणिक् दक्षिण में गये और वहाँ के राजा से मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहाँ शासन कैसा होता है? इस पर उन्होंने कहा कि हे देव कुछ देश गणाधीन हैं व कुछ राजाधीन हैं। शाक्य, कोलिय, लिच्छवी, विदेह, मल्ल, मेरिय, बुलीय, भग्ग आदि संघ भी बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित हैं (जातक ३।१५७)। इन संघों की एक सभा रहती थी, जिसकी बैठक एक बड़े भवन में होती थी। इस भवन को 'संथागार' कहते थे। इसी में राजा

का चुनाव होता था। उसके हाथ में सब शासन-सूत्र रहते थे। वह राजा उक्त सभा का प्रधान रहता था, जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। 'राजा' शब्द पदवी-मात्र का सूचक था। बौद्ध-साहित्य में संघ के अन्य कर्मचारियों का भी उल्लेख आया है, जैसे उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक आदि। इन संघों की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप में सुरक्षित रखे जाते थे, जिसे 'पवेनीपत्थकम्' कहते थे। न्याय का काम करने के लिए 'विनिच्चय महामात्त', 'वोहारिक', 'सूत्र-धार', 'अट्ठकुलक' आदि न्यायाधीश थे।

अर्थशास्त्रादि में संघों का उल्लेख—कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी कितने ही संघों का उल्लेख है, जैसे लिच्छिविक, वृज्जिक, मल्लक, भद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल, काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि (अर्थशास्त्र, अध्याय ११ पृष्ठ ३७६-३७९, सामशास्त्री द्वारा सम्पादित)। बौद्ध-साहित्य से जो कुछ इन संघों के बारे में ज्ञात होता है, उसकी पुष्टि अर्थशास्त्र से होती है। सिकन्दर के समय में पश्चिम भारत में बहुत से संघ वर्तमान थे; जैसे कैथियन (कठ), एड्रेस्टी (अरिष्ट), योधेय, ऑक्सिड्रकॉय (क्षौद्रक), मल्लोई (मालव), सिबि, (शिवि), जेथोरॉय (क्षत्रिय), ओसेडिअॉय (वसाति, महाभारत में उल्लिखित), एग्सिनेइ (अग्रश्रेणी), सेम्बेस्टाइ (अम्बष्ठ), मुसीकेनी (मुचुकर्ण काशिका में वर्णित), ब्रेकमेनिग्राय (ब्राह्मणक जनपद, पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित), फेगेलस् (भगल, गणपाठ में उल्लिखित), ग्लौसिअॉय (अष्टाध्यायी, ४।३।९९ पर काशिका-वृत्ति में उल्लिखित ग्लौचुकायनक) इत्यादि। प्राचीन लेख, सिक्कों आदि से भी इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार-लेख, समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख, विजयगढ़-शिलालेख आदि में यौधेय, मालव, आर्जुनायन आदि गणराज्यों का स्पष्ट उल्लेख है। यौधेय, मालव, आर्जुनायन, शिबि आदि के बहुत से सिक्के भी मिले हैं। यौधेयों के सिक्के अधिकतर सतलज र जमुना नदी के कछारों में मिले हैं।

ये संघ बहुत समय तक शक्तिशाली रहे, तथा समाज का सांस्कृतिक विकास करते रहे। इनके कारण समाज में हर प्रकार की स्वतन्त्रता बनी रहती थी। कृष्ण, महावीर, गौतम आदि के समान विभूतियाँ, प्रवर्तक और समाज-सुधारक इसी वातावरण में उत्पन्न हुए थे। पञ्जाब के कठ-संघ की ऋग्वेद की काठक-संहिता व कठोपनिषद् से सब परिचित हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संघों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में पूरी सहायता दी थी। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, त्यों-त्यों साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बढ़ने लगा तथा संघो के अन्तिम दिवस निकट आने लगे। बिम्बिसार, अजातशत्रु, रुद्रदामा, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि शक्तिशाली राजाओं ने इनका अन्त कर दिया। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में संघ-शासन भारत से विदा हो गया।

उपसंहार—उपरोक्त वर्णन से प्राचीन भारत के राजनैतिक विकास का स्पष्ट पता लगता है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समझे जाते हैं, वे सब प्राचीन भारत में ज्ञात थे। हॉब्स, लॉक, रूसो आदि के विश्व-विख्यात सिद्धान्त महाभारत के शान्तिपर्व ने पहले ही से संसार के सम्मुख रख दिए थे। राजा का निर्वाचन, वैदिक काल की सभा व समिति, पौर जानपद, मन्त्रि-मण्डल, संघ-शासन आदि के बारे में जो कुछ प्राचीन साहित्य से उपलब्ध है, उससे आश्चर्यजनक राजनीतिक विकास का पता लगता है। राजनीति को शास्त्रीय पद्धति से विकसित किया गया था, उसे दण्डनीति कहते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजनीति-शास्त्र के कितने ही आचार्यों व उनके सिद्धान्तों का उल्लेख आता है। इस विषय का बहुत सा साहित्य आज भी उपलब्ध है।

१०

धर्म व दर्शन

धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त—प्राचीन भारत ने बहुत से धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया है। कदाचित् ही संसार में ऐसा कोई मान्य सिद्धान्त हो, जिसे भारत के ऋषि-मुनियों ने न सोचा-समझा हो। प्राचीन भारत ने एकेश्वरवाद, मायावाद या अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भक्ति आदि धार्मिक व दार्शनिक तत्वों को विकसित कर उन्हें जीवन से सम्बन्धित करने का सफल प्रयत्न किया था। भारत के धार्मिक व दार्शनिक जीवन का विकास वेदों व उपनिषदों से होता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि विभिन्न वाद या पन्थ एक ही वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ अथवा टहनियाँ हैं। इनको एक-दूसरे से भिन्न मानना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता।

धर्म व दर्शन शब्दों का विवेचन—प्राचीन भारतीयों ने धर्म को वैज्ञानिक ढंग पर समझने का प्रयत्न किया था। इसके विपरीत अन्य देशों ने पुराने रीति-रिवाजों व सभ्यता के सूर्योदय के पूर्व के असभ्य जीवन-क्रम को ही धर्म समझ लिया था। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद इस प्रकार धर्म की व्याख्या करते हैं—"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् "जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।" (वैशेषक १।१।२)। अभ्युदय से लौकिक व

निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति एवं कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक—दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्धित किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों तथा जीवन-प्रणाली को कह सकते हैं, जिससे मानव-जाति परमात्म-प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके; साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म-मरण के झंझटों में न पड़कर शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। धर्म की इससे अधिक उदार परिभाषा और हो ही नहीं सकती। धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी उसका महत्त्व समझ में आ जायगा। 'धर्म' शब्द 'धृ' (धारण करना) धातु में 'मप्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जिसका अर्थ 'धारण' करने वाला होता है। इस लिए धर्म उन शाश्वत् सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानव-समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर व उन्नतिशील बनकर अपने अस्तित्व को धारण करता है। 'सनातन धर्म' शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार 'दर्शन' शब्द भी अर्थपूर्ण है। इसमें आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार का भाव भरा है, और भारतीय दर्शनों का उद्देश्य भी यही है। जीव को माया के बन्धन से छुड़ाकर ब्रह्म के दर्शन कराना, जिससे उसे परम सुख व शान्ति प्राप्त हो, यही भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र है।

धर्म व दर्शन का सम्बन्ध – धर्म व दर्शन परस्पर बहुत ही सम्बन्धित हैं। अज्ञात को ज्ञात करना यही दोनों का उद्देश्य है। उनमें अन्तर केवल इतना है कि धर्म जनसाधारण को अज्ञात तक ले जाने के लिए एक जीवन-क्रम तैयार करता है, जिसके अनुसार लोगों को चलना पड़ता है। धर्म विद्वानों द्वारा बनाया हुआ इस लोक तथा उस लोक को जोड़ने वाला एक मार्ग है, जिस पर चलकर जनसाधारण परम शान्ति का अनुभव करते हैं। दर्शन ब्रह्म, जीवात्मा आदि के साक्षात्कार के प्रयत्नों का समूह है। इसका सम्बन्ध इने-गिने विचारशील एवं बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों से रहता है, किन्तु इसका भी प्रभाव जन-साधारण पर पड़े

बिना नहीं रहता। प्राचीन भारत ने धर्म व दर्शन को इसी प्रकार समझा था।

(१)
वैदिक काल

धार्मिक विकास—प्राचीन भारत का धार्मिक विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि वैदिक काल में धर्म अपनी बाल्यावस्था में ही था, जैसा कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं। उनके मतानुसार ऋग्वेद में प्रकृति-पूजा का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेदकालीन आर्य इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों की पूजा करते थे। यही धर्म की बाल्यावस्था समझी जाती है। जंगली व असभ्य जातियों में भी इसी प्रकार के धार्मिक विश्वास पाये जाते हैं। किन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में धर्म पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विभिन्न देवताओं की स्तुति भले ही हो, किन्तु उसमें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। वैदिक आर्य ईश्वर को निराकार व सर्वव्यापी मानते थे। वे समझते थे कि इस संसार में जो-कुछ है, वह सब उसी की लीला है। प्राकृतिक जगत् उसी की भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा सञ्चालित होता है। ऋग्वेद में उन्हीं शक्तियों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। प्रत्येक शक्ति को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी परमात्मा का स्वरूप मानकर उसकी स्तुति की गई है। उन्हें स्वतन्त्र ईश्वर नहीं माना है।

मैक्समुलर का मत—पाश्चात्य विद्वान् मैक्समुलर ने ऋग्वेद के धार्मिक विश्वासों के बारे में यह मत स्थापित किया है कि ऋग्वेद में किसी विशेष देवता को कुछ समय के लिए सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी

व सर्वोपरि माना है। तत्पश्चात् अन्य देवता को उसी प्रकार माना है। इस मत को 'हिनोथीइज़्म' या 'केनोथीइज़्म' कहा गया है। ऋग्वेद के मन्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि एक ही परमात्म-शक्ति को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद (१।१६४।४६) में 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि परमेश्वर तो एक ही है किन्तु विद्वान् लोग नाना प्रकार से उसके सम्बन्ध में कहते हैं, अर्थात् विभिन्न नामों से उसी एक परमात्मा का सम्बोधन करते हैं। इस प्रकार मैक्समुलर के सिद्धान्त की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है।

वैदिक काल में धार्मिक जीवन—वैदिक काल का धार्मिक जीवन उदात्त व नैतिकता के पाये पर अवलम्बित था, जैसा कि ऋग्वेद के वरुणसूक्तों को पढ़ने से मालूम होता है। वरुण से कितनी ही बार प्रार्थना की गई है कि "हे वरुणदेव, मानव-जीवन को उदात्त बनाइए।" आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के तापों या बन्धनों से मुक्त किये जाने के कितने ही मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की गई है। वरुण के 'ऋत' अर्थात् नैतिक जीवन-क्रम को अपनाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है (ऋ० १।२३।५; १।२५।१-२)। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों ऋत का महत्त्व बढ़ता गया, और जो-कुछ उसके विपरीत था वह बुरा एवं हेय समझा जाने लगा। अनृत व असत्य दोनों एक समान ही त्याज्य, तथा ऋत व सत्य दोनों एक समान ही ग्राह्य समझे जाने लगे।

ऋग्वेद में साधारणतया विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विन, वरुण, सविता, भग, प्रजापति, पूषा, विष्णु, आपः, विश्वेदेवाः, सरस्वती, इला, भारती, द्यावापृथिवी, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्न्यानी आदि। इन स्तुतियों पर यदि गूढ़ विचार किया जाय तो तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक विकास का स्पष्ट दिग्दर्शन हो जायगा। ईश्वर का

सर्वशक्तिमत्त्व तथा उसकी एकता तत्कालीन धार्मिक मन्तव्यों की आधार-शिला थी। इस प्रकार इतने प्राचीन काल में भारत में 'एकेश्वरवाद' का सिद्धान्त भली भाँति ज्ञात था। कुत्स आङ्गिरस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं—"पृथ्वी व आकाश तथा यह महान् मानव-जाति उसी इन्द्र के हैं। वरुण, सूर्य आदि उसी के व्रत में रहते हैं। घोड़े, गाय आदि का वही सञ्चालक है और सम्पूर्ण जगत् व प्राणियों का रक्षक है। उसी ने दस्युओं को हराया। उसे ही मैत्री के लिए हम बुलाते हैं। शूरों, भागते हुए भीरुओं तथा विजेताओं द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है, उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है, उसी की मैत्री हम प्राप्त करें।" गृत्समद ऋषि आदित्य की स्तुति करते हुए कहते हैं—"तुम वरुण हो, और जितने ही देव, असुर व मर्त्य हैं उन सबके राजा हो। हमें सौ वर्ष की आयु प्रदान करो।" हिरण्य-गर्भ प्राजापत्य ऋषि 'क' (प्रजापति ईश्वर) की स्तुति में कहते हैं—"हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम वर्तमान था, तथा जो-कुछ उत्पन्न हुआ था, उसका एकमात्र पति था। उसी ने पृथ्वी व आकाश को धारण किया है। उसी 'क' देवता को हम हविष् प्रदान करते हैं। वही आत्मा व बल का देने वाला है, विश्व उसी की उपासना करता है। मृत्यु व अमरत्व उसी के अधिकार में हैं। हिमालय, समुद्र और ये सब दिशाएँ आदि उसी की हैं। उसी ने विस्तृत आकाश व पृथ्वी को दृढ़ किया तथा स्वर्ग को स्तम्भित किया।" (ऋ० ३।४६।२; १।१०१।३-६; २।२७।१०)। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद-काल में "एकेश्वर-वाद' का विकास पूर्णतया हो गया था।

ऋग्वेद के देवता—ऋग्वेद में वर्णित देवताओं को विश्व के तीन विभाग—स्वर्ग, वायु व पृथ्वी के अनुसार विभाजित किया स सकता है। द्यौ, वरुण, मित्र, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषा, विष्णु, अश्विन्, उषा, रात्रि आदि स्वर्गीय देवता हैं। इन्द्र, रुद्र, मरुत्, वायु या वात, अपानपात्, पर्जन्य, आपः आदि वायवीय देवता हैं। पृथ्वी, अग्नि,

बृहस्पति, सोम आदि पार्थिव देवता हैं। इनमें कुछ नदियों को भी सम्मिलित किया गया है, जैसे सिन्धु, विपाश, असिक्नी, शुतुद्री, सरस्वती आदि। इन नदियों को साक्षात् देवी मानकर सम्बोधित किया गया है। धाता, त्वष्टा, प्रजापति, विश्वकर्मा, बृहस्पति आदि कभी-कभी किसी देवता के विशेषण के रूप में व कभी-कभी स्वतन्त्र रूप में वर्णित किये गए हैं। इसी श्रेणी में मन्यु, श्रद्धा, अदिति आदि को भी रखा जाता है। उनकी स्तुति में एक-एक दो-दो सूक्त ही हैं। ऋभु, वास्तोष्पति आदि साधारण देवता माने गए हैं। ऋग्वेद में देवियों का अधिक महत्त्व नहीं है। केवल उषा ही महत्त्वपूर्ण है। सरस्वती, वाक्, पृथ्वी, रात्रि, अरण्यानी आदि से सम्बन्धित एक-एक सूक्त ही है। इन्द्र, वरुण आदि की पत्नियों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कभी-कभी दो देवताओं की स्तुति एक-साथ की गई है। जैसे मित्रा-वरुणा, द्यावापृथिवी आदि। कुछ देवताओं का आह्वान सामूहिक रूप से किया गया है। देवताओं से लड़ने वाले राक्षसों का भी उल्लेख आता है। इन्द्र-वृत्र युद्ध तो ऋग्वेद में प्रसिद्ध है। बल, अर्बुद, पणि, विश्वरूप आदि इन्द्र से लड़ते हैं, स्वर्भानु सूर्य को निगलता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण देवताओं पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है—

इन्द्र—ऋग्वेद के लगभग एक चतुर्थांश सूक्तों में इन्द्र की स्तुति की गई है। त्वष्टा द्वारा बनाये हुए वज्र को धारण कर कभी-कभी धनुष-बाण लेकर इन्द्र असुरों का मर्दन करता है। उसका रथ सोने का बना हुआ है। उसे सोम बहुत ही प्रिय है। सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वह वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। परिणामतः वज्र द्वारा वृत्र के टुकड़े-टुकड़े होते हैं, और रुका हुआ पानी स्वतन्त्र की गई गायों के समान दौड़ निकलता है। इसलिए वह 'वृत्रघ्न' कहलाता है। वह जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि का सञ्चालन करता है। उसने अस्थिर

पर्वतों व मैदानों को स्थिर किया तथा द्यावापृथिवी का विस्तार किया। उसने एक ही क्षण में अव्यक्त को व्यक्त किया। वह स्तुति करने वालों का रक्षक, सहायक तथा मित्र है। वह उन्हें धन देता है, एवं इतना उदार है कि 'मघवन्' कहलाता है।

वरुण—बारह सूक्तों में वरुण का वर्णन किया गया है। वह नैतिक देव है। वह अपने प्रासाद में बैठकर मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनों लोकों का अवलोकन करते हैं। वह विश्व का सम्राट् है। उसकी शक्ति, माया व दिव्य साम्राज्य का उल्लेख कितनी ही बार आता है। उसने द्यावापृथिवी की स्थापना की। उसने आकाश में सूर्य को चमकाया। वायु उसी की श्वास है, व चन्द्र-तारे आदि उसी की आज्ञा मानते हैं। उसने नदियों को भी बहाया। उसके नैतिक नियमों को 'ऋत' कहा गया है, जिसका पालन देवताओं को भी करना पड़ता है। उसके तीन पाश हैं—उत्तर, मध्यम और अवर, जिन्हें ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। वह सर्वज्ञ है। पाप से उसे क्रोध आता है, जिसके लिए वह कड़ा दण्ड देता है। किन्तु वह दयालु भी है, पश्चात्ताप करने वालों को वह अपने व पूर्व-पितरों के पापों के लिए क्षमा भी कर देता है।

विष्णु—विष्णु की स्तुति केवल पाँच या छः सूक्तों में की गई है। वह एक विशालकाय युवक के रूप में वर्णित है, व उसके तीन पदों का उल्लेख है, जिनसे वह पृथ्वी व आकाश को नापता है। विष्णु के नाम से सूर्य के ही गुणों का गान किया गया है। वामन अवतार की कल्पना का प्रारम्भ भी विष्णु के तीन पदों से होता है। विष्णु के प्रिय धाम में धर्मात्मा व्यक्ति ही जा सकते हैं व आनन्द का उपभोग ले सकते हैं, जहाँ मधु का एक बड़ा स्रोत है।

सविता—सविता की स्तुति लगभग ग्यारह सूक्तों में की गई है। वह सुवर्ण के रथ में घूमता है। वह अपने सुवर्ण के हाथों से प्राणीमात्र को जागृत करता है, तथा उन्हें आशीर्वाद देता है। वह नीचे व

ऊपर सब प्राणियों का निरीक्षण करते हुए सुवर्ण-रथ में घूमता है। वह बुरे स्वप्न, पाप, राक्षस आदि को भगा देता है।

पूषा—लगभग आठ सूक्तों में पूषा की स्तुति की गई है। उसके पैर, दाहिना हाथ, डाढ़ी व जटा का उल्लेख आया है। वह सोने का भाला, चाबुक आदि रखता है व उसके रथ में बकरे जुते रहते हैं। वह सब प्राणियों का निरीक्षण करता है, और द्यावापृथिवी में दूर-दूर तक जाता है। वह मार्गों का रक्षक है व सब भयों को दूर करता है। वह मवेशियों की भी रक्षा करता है, तथा गुमे हुए ढोरों को घर वापिस ले आता है।

अश्विन्—अश्विन् से दो देवों का तात्पर्य है। उनकी स्तुति पचास या उससे अधिक सूक्तों में की गई है। उषःकाल व सूर्योदय के बीच के समय में वे दिखाई देते हैं। उषा उनको जागृत करती है। वे अन्धकार को दूर करते व दुष्ट राक्षसों को भगा देते हैं। वे दो हैं, व कभी पृथक् नहीं किये जा सकते। वे युवा होते हुए भी प्राचीन, सुन्दर एवं सुवर्णप्रकाश-युक्त हैं, तथा सुवर्ण मार्ग पर चलते हैं। मधु से उन्हें बहुत प्रेम है, जोकि वे खूब पीते हैं। वे बहुत बुद्धिशाली हैं व आपत्तियों से सब की रक्षा करते हैं। वे दिव्य वैद्य भी हैं, व बीमार पंगु आदि को ठीक कर देते हैं। वे पुनः युवावस्था व दृष्टि प्रदान करते हैं। उन्होंने भुज्ज्यु के जहाज़ को समुद्र में डूबने से बचाया था, व ऐसे और भी परोपकार के काम किये थे।

उषा—उषा उषःकाल की देवी है। लगभग बीस सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है। प्रकाशयुक्त वस्त्र धारण कर वह पूर्व दिशा में एक नर्तकी के समान दिखाई देती है। वह अन्धकार को भगाती है व रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी रहते हुए भी युवती है। वह बार-बार उत्पन्न होती है व मर्त्यों के जीवन को व्यतीत करती है। जब वह अपना आलोक फैलाती है, तब पक्षी अपने घोंसलों से बाहिर उड़ते हैं तथा मनुष्य पुष्टि को प्राप्त होते हैं। वह सूर्य से सम्बन्धित की जाती है, जोकि उसका प्रेमी है व उसके पीछे-पीछे जाता है, जैसे कोई युवक

किसी युवती का पीछा करता है। इस प्रकार वह बहुधा सूर्य की पत्नी बन जाती है; किन्तु सूर्य के पहले दिखाई देने मे कभी-कभी उसकी माता भी कही गई है, तथा देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित की गई है।

अग्नि—लगभग दो सौ सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। उसकी पीठ घृत की बनी है, बाल ज्वालाओं के हैं और दाँत सुवर्ण के। उसी की जिह्वा से देवता हविष् ग्रहण करते हैं। लकड़ी या घी उसका भोजन है। वह दिन में तीन बार भोजन करता है जब वह जंगलों पर आक्रमण करता है और दाढ़ी बनाने वाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है। वह चमकने वाले विद्युत्-रथ में बैठता है और यज्ञ में अपने साथ देवताओं को लाता है। वह बहुत बुद्धिशाली है तथा सब-कुछ जानता है। वह स्तुति करने वालों को हर प्रकार के वर देता है, जिससे वे लोग समृद्धि, सन्तान तथा आनन्दपूर्ण गृहस्थाश्रम का उपभोग करते हैं।

सोम—ऋग्वेद में यज्ञ की दृष्टि से सोम-यज्ञ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। लगभग एक सौ बीस सूक्त सोम की स्तुति में हैं। उसके पास तेज और भयानक शस्त्र रहते हैं, जिसे वह अपने हाथों से पकड़ता है। उसके पास धनुष-बाण भी रहते हैं। वह वायु व इन्द्र के समान दिव्य रथ में बैठकर घूमता है और यज्ञ में हविष् ग्रहण करने के लिए आता है। सोमरस को बहुधा मधु भी कहा गया है। किन्तु अधिकांश उसे 'इन्दु' शब्द से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवाँ मण्डल सोम से सम्बन्धित है। इस रस को दूध या पानी के साथ मिलाया जाता था, जिससे उसमें मीठापन आ जाय। सोमरस को अमृत भी कहा गया है; क्योंकि उसके पीने से अमरत्व प्राप्त होता है।

यज्ञ—यज्ञ वैदिक काल के धार्मिक जीवन का मुख्य अङ्ग था। अग्नि को प्रज्वलित कर उसमें सुगन्धित द्रव्य, घृत आदि डाले जाते थे जबकि विभिन्न देवताओं का आह्वान किया जाता था। यज्ञ से सम्ब-

न्धित कर्मकाण्ड का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता, ब्रह्मा आदि की सहायता से यज्ञ सम्यक् रूप से सम्पादित किया जाता था। वैदिक काल में राज-पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। वह राजा के लिए यज्ञादि की व्यवस्था करता था। ऋग्वेद (१।१।१) में अग्नि को यज्ञ का पुरोहित, देव व ऋत्विज् कहा गया है। इन शब्दों से यज्ञ का महत्त्व भली भाँति समझ में आ जाता है।

यज्ञ का विकास उत्तरोत्तर होता रहा। सम्पूर्ण यजुर्वेद यज्ञ से ही सम्बन्धित है। इसके पश्चात् ब्राह्मण-साहित्य में तो यज्ञ की चरम-सीमा के दर्शन होते हैं। एक प्रकार से जीवन यज्ञमय ही हो गया था। प्रत्येक गृहस्थ को दैनिक जीवन में पञ्च महायज्ञ करने पड़ते थे। अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशेष तिथियों पर अन्य विशेष कितने ही नैमित्तिक यज्ञ करने पड़ते थे। विभिन्न संस्कारों के अवसर पर या कोई शुभ कार्य करने के पूर्व यज्ञ करना अनिवार्य था। ये यज्ञ द्विज-मात्र के लिए थे। राजाओं के लिए कुछ विशेष यज्ञ भी थे, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध; सर्वजित् आदि। प्राचीन राजा भी इन यज्ञों को यथाविधि करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में कितने ही राजाओं द्वारा इन यज्ञों के किये जाने का उल्लेख है।

यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य—यज्ञ के महत्व के बढ़ने पर तत्सम्बन्धी साहित्य भी स्वतन्त्र-रूप से विकसित होने लगा। भिन्न-भिन्न यज्ञों को कराने के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाये गये थे। पुरोहित लोगों ने इन सब नियमों को अलग-अलग पुस्तकों के रूप में एकत्रित किया है। ये ही कल्पसूत्र हैं, जिनमें श्रौत, गृह्य, धर्म आदि सूत्रों का समावेश हो जाता है। किन्तु यज्ञों का स्पष्ट विवेचन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है।

यज्ञ और पशुबलि—कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक काल में यज्ञ में पशु-बलि होती थी। किन्तु वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें स्थान-स्थान पर अहिंसा के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया

गया है तथा स्थावर व जंगम जीवों को एक समान माना गया है। ऋग्वेद में गाय के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसे मारना नहीं चाहिए। वैदिक आर्य पशु-हिंसा को धार्मिक कृत्य नहीं मानते थे। वैदिक काल के पश्चात् एक समय ऐसा था जब यज्ञों के लिए पशु-हिंसा की जाती थी तथा परिणामतः महावीर और गौतम बुद्ध को उस हिंसा का विरोध करना पड़ा।

भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव—वैदिक काल के पश्चात् भारत के धार्मिक जीवन में भक्ति-मार्ग ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु. शिव, ब्रह्मा आदि भिन्न-भिन्न देवताओं को आराध्य और इष्ट-देव मानकर विभिन्न सम्प्रदायों ने भारतीय धार्मिक जीवन को संकलित व सञ्चालित किया। इसमें विष्णु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसके नाम से भागवत धर्म व वैष्णव धर्म सैकड़ों वर्ष तक जोरदार रहे। इसी भक्तिमार्ग के बीज वेदों में वर्तमान हैं। उषा, वाक् आदि से सम्बन्धित सूक्तों में भावी भक्ति के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं (ऋ० १।६२; १।११३; १०।७१)। ऋग्वेद के विष्णु में पुराणों का विष्णु बीज-रूप से दृष्टिगोचर होता है। विष्णु का तीन पदों में ही वामनावतार का भाव निहित है। इसी प्रकार वेदों से अन्य अवतारों के भाव के लिए भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत का धार्मिक जीवन वेदों से ही विकसित होता है।

दार्शनिक विकास—वैदिक काल से ही भारतीय दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ होता है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति ने जीवन-कलह को बिलकुल ही सरल बना दिया था। इसलिए भारतीयों ने जीवन की पहेलियों पर विचार कर उन्हें समझना ही जीवन का मुख्य कर्तव्य समझा। हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, क्यों आये हैं, कहाँ जायँगे आदि प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में उन्होंने अपने सब प्रयत्न लगा दिये (केनोपनिषद् १.)। जीव, ब्रह्म, संसार, जीवन, मरण आदि सम्बन्धी पहेलियों को सुलझाने में उन्होंने कोई बात उठा न रखी। ऋग्वेदादि

में इस मानसिक वृत्ति के दर्शन होते हैं, जिसका विस्तृत विकास उपनिषदों में किया गया है।

जीव व ब्रह्म—वैदिक आर्यों ने प्राकृतिक जगत् का अध्ययन करके यह अनुभव किया था कि जगत् का कर्ता कोई अवश्य है, जिसने प्राणियों में जीवन-शक्ति भर दी है जो 'जीव' या 'प्राण' कहलाती है। वेदों में उस परम शक्ति की स्तुति में कितने ही मन्त्र मिलते हैं। उनसे तत्कालीन आध्यात्मिक विकास का पता चलता है। वैदिक आर्यों ने जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को भी भली भाँति समझने का प्रयत्न किया था। जीव व ब्रह्म की एकता जैसी कि छान्दोग्योपनिषद् (६।८।७) के 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तू वही है' वाक्य में निहित है, वेदों में भी समझाई गई है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में, जिसे ईशोपनिषद् भी कहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह से समझाया गया है (यजु० ४०।७)।

सृष्टि की उत्पत्ति—वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धान्त मिलते हैं। सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह समझाने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद (१०।१९०।१-३) में बताया गया है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम तप द्वारा ऋत व सत्य को उत्पन्न किया; तत्पश्चात् दिन-रात, आकाश, पृथ्वी आदि बनाये गए। उसने सूर्य, चन्द्र आदि को पहले के समान बनाया। इस सम्बन्ध में जो 'यथापूर्व' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उससे सृष्टि-क्रम के अनादित्व का बोध होता है। वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा आदि को भी सृष्टि का कर्ता बताया गया है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) में कहा गया है कि हिरण्यगर्भ सृष्टि के प्रारम्भ में वर्तमान था। वही एकमात्र संसार का स्वामी है। वही आकाश,पृथ्वी आदि का निर्माता है। उसे ही हविष् प्रदान करना चाहिए, इत्यादि। पुरुष-सूक्त (ऋ० १०।९०) में आलङ्कारिक भाषा में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह विश्व परमात्मा रूपी पुरुष के

शरीर से बना है। सृष्टि की उत्पत्ति के कार्य को महान् यज्ञ माना गया है, जिसमें पुरुष को 'मेध्य' कहा गया है। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ तथा विराट् से पुनः पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पुरुष उत्पादक एवं उत्पादित दोनों है। वही परम आत्मा व अहंकारमय जीवात्मा दोनों ही है। यही शंकर के मायावाद का मौलिक स्वरूप है। इस सूक्त में वर्ण-व्यवस्था, चन्द्र, सूर्य, भेड़, बकरी आदि की उत्पत्ति भी वर्णित है। नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) में दार्शनिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमें सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व की अवस्था पर विचार किया गया है। उस समय न सत् था न असत्; सब अन्धकारमय था। तप द्वारा सत् व असत् का द्वैधीभाव हुआ तथा पश्चात् अन्य संसृष्टि हुई। इस सूक्त में काम को सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण बताया गया है। उसे 'मनसो रेतः' कहा गया है। इस सूक्त के 'सत्' व 'असत्' में सांख्य के पुरुष व प्रकृति के दर्शन होते हैं, तथा 'सत्' व 'असत्' के पूर्व की जो ऐक्यमयी स्थिति बताई गई है, उसी में वेदान्त का अद्वैतवाद या मायावाद बीज-रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नासदीय सूक्त से ही भारतीय दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ होता है।

कर्म-सिद्धान्त—वैदिक आर्यों ने कर्म-सिद्धान्त को भी अच्छी तरह समझ लिया था। कर्म-सिद्धान्त के द्वारा मृत्यु के रहस्य को भी समझने का प्रयत्न किया गया था। समाज में यह मन्तव्य प्रचलित था कि कर्मों के अनुसार जीव विभिन्न शरीरों को धारण करते हैं। अथर्ववेद (१९। ६७। ६८) में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आता है। स्वर्ग व नरक का भाव भी वैदिक काल में वर्तमान था। यह माना जाता था कि मृत्यु के पश्चात् यम के राज्य में आनन्दानुभव किया जाता है (ऋ० ९।९।१०, ९।४१।२; १०।८८।५)। स्वर्ग-लोक में बहुत-से सींगवाली गायें रहती हैं और वहाँ पर शहद का भण्डार है (ऋ०

१।१५४।५,६) इस विष्णुलोक का रसास्वादन करने के लिए वैदिक आर्य उत्सुक रहा करते थे ।

उपनिषदों का अध्यात्मवाद—उपनिषदों के अध्यात्मवाद का प्रारम्भ वेदों से होता है । ब्राह्मण-काल में यज्ञों को अत्यन्त ही अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण अध्यात्मवाद पिछड़ गया था । किन्तु उपनिषदों में वह पुनः शक्तिशाली हो गया । मन को बाह्य जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् पर लगाया जाने लगा । जीव व ब्रह्म के साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया जाने लगा । "ब्रह्मणः कोशोऽसि" अर्थात् 'तू ब्रह्म का कोश है" (बृहदा० १।४।१०; छान्दोग्य० ३।१४) आदि शब्दों द्वारा ब्रह्म व जीव का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा । संसार आत्मिक विकास की शृङ्खलामात्र है । यज्ञों द्वारा कभी भी आत्मा परम पद को प्राप्त नहीं हो सकता । संसार की अन्तरात्मा को समझ उससे तादात्म्य स्थापित करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है । यज्ञ भी इसी तथ्य के प्रतीक हैं (बृहदा० १।१।२; छान्दोग्य १।१।१०, १।१२) । सांसारिक बन्धनों के अन्धकार से मुक्ति प्राप्त कर उस परम तत्त्व को प्राप्त होने की इच्छा उपनिषदों में कितने ही स्थलों पर दर्शाई गई है । असत् से सत्, तमस् से ज्योति व मृत्यु से अमृत की ओर ले जाये जाने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की गई है (बृहदा० १।३।२७) । आत्मा के प्रश्न को भी सुलझाने का प्रयत्न किया गया है । आत्मा ही सुख-दुःख का पूर्णतया भोक्ता है; प्रकृति उससे बिलकुल भिन्न है, जिसका यथार्थ में अस्तित्व नहीं है (बृहदा० ८।६।१, ४।३।६; छान्दोग्य ३।१३।७,८।१।३) । जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीया अथवा वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय आदि चार अवस्थाएँ आत्मा की हैं । ब्रह्म को जगत् का संस्रष्टा मान उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है । तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में लिखा है कि जहाँ से ये जीवधारी उत्पन्न होते हैं अथवा उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं व मरने पर जाते हैं, वह ब्रह्म है । बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५।१९ में आता

है कि वही आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है। जीव, लोक, देव, प्राण आदि सबका समावेश इसी में हो जाता है। यही आनन्दमय ब्रह्म है व प्रत्येक जीवात्मा इसी में लीन होना चाहता है।

आत्मा व ब्रह्म—उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म की एकता भी अच्छी तरह से समझाई गई है। छान्दोग्योपनिषद् के 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया गया है। इसी वाक्य के भिन्न-भिन्न अर्थों पर वेदान्त के भिन्न-भिन्न वाद निहित है। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि मध्यकालीन दार्शनिक इसी वाक्य को अपने-अपने सिद्धान्तों का मूल बनाकर उपनिषदों से अपने मन्तव्य के लिए पुष्टि प्राप्त करते हैं। "तत्त्वमसि, के भाव को इस प्रकार समझाया जा सकता है—वैश्वानर (आत्मा) = विराट् (ब्रह्म), तैजस (आत्मा) = हिरण्यगर्भ (ब्रह्म), प्राज्ञ (आत्मा) = ईश्वर (ब्रह्म), तुरीय (आत्मा) = आनन्द (ब्रह्म)। उपनिषदों में जीव और प्रकृति को ब्रह्म का परिवर्तित रूप माना गया है। ब्रह्म ही इस जगत् का एक-मात्र निमित्तादि कारण है। उसी ब्रह्म में से इस जगत् का विकास प्रारम्भ होता है। भिन्न-भिन्न जीव इसी विकास के परिणाम हैं। इस विकास का प्रारम्भ प्रकृति से होता है, और अन्त आनन्द में होता है। इसे मकड़ी और उससे उत्पन्न जाले की उपमा दी जाती है। इस प्रकार समस्त विश्व की जड़ में ब्रह्म ही है। जगत् में दीखने वाली भिन्नता के पीछे इसी एकता का साम्राज्य है (बृहदारण्यक उप० १।२।१४; छान्दोग्य० ६।१०)।

उपनिषदों में बाह्य भिन्नता को समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। ब्रह्म के अंश के कम या अधिक रहने से ही यह भिन्नता बन गई है, लेकिन सब-कुछ उसी ब्रह्म का स्वरूप है (ऐतरेय उप० १-२; तैत्तिरीयोप० २।१)। ऐतरेयोपनिषद् में जीवों के चार प्रकार बताये गए हैं, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज व उद्भिज। इनके अतिरिक्त

पञ्च महाभूतों का भी उल्लेख है। प्राकृतिक विकास में इन महाभूतों का महत्त्व भी भली भाँति समझाया गया है। इन भूतों का विकास इस प्रकार बताया गया है—आकाश (शब्द—वायु (शब्द,स्पर्श), अग्नि (शब्द, स्पर्श, रूप), जल (शब्द, स्पर्श, रूप व रस)—भूमि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध)। इन पञ्च महाभूतों के साथ पञ्च तन्मात्राएँ भी उल्लिखित हैं। किन्तु यह सब उसी ब्रह्म का परिवर्तित स्वरूप है। बाह्य भिन्नता का यथार्थ में अस्तित्व नहीं है, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है (ऐतरेयोपनिषद् १-२; तैत्तिरीयोप० २।१)। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है कि वह उन कारणों को दूर करे, जिनके कारण जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है। इसी को मोक्ष कहा गया है। आत्म-तत्त्व को पहिचाने बिना यह मोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए 'अहंभाव' को एकदम हटा देना परम आवश्यक है, क्योंकि 'अहंकार' के कारण ही मनुष्य संसार-रूपी गर्त में पड़ता है। पाशविक मनोवृत्ति के निरोध से ही सब-कुछ साधा जा सकता है। इसलिए आत्मनिग्रह भी आवश्यक है। कुत्सित इच्छाओं का अन्त करने से सब प्रकार की साधना सरल हो जाती है। इस प्रकार तैयारी करके मोक्ष का अनुभव किया जा सकता है, जोकि एक आनन्दमय अवस्था है। जो जीव इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते उनके लिए कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पुनर्जन्म का बन्धन रहता है। मृत्यु के पश्चात् जीव स्थूल-शरीर को छोड़ देता है; किन्तु सूक्ष्म-शरीर से जिसे लिङ्ग-शरीर भी कहते हैं, जकड़ा ही रहता है। जो जीव अपने पुण्यों द्वारा आत्मतत्त्व को पहिचान पाता है वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक को जाता है, जहाँ से वापिस नहीं आना पड़ता। साधारण पुण्य वाले जीव पितृयान या धूम-मार्ग द्वारा चन्द्रलोक को जाते हैं, जहाँ से पुण्यफल के क्षीण होने पर उन्हें वापिस आना पड़ता है। जो जीव मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं, उन्हें किसी मार्ग का भी अनुसरण नहीं करना पड़ता। उपनिषदों के इसी अध्यात्मवाद ने जैन व बौद्ध

मन्तव्यों तथा षट् दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्त को जन्म दिया। इसी अध्यात्मवाद की भूमिका पर भारत का दार्शनिक भवन खड़ा किया गया है।

(२)

वैदिक काल के पश्चात्

(क) दार्शनिक विकास

बौद्ध व जैन काल में आध्यात्मिक उथल-पुथल—ईसा के पूर्व छठी शताब्दी ने भारत में ही क्या किन्तु विश्व-भर में आध्यात्मिक उथल-पुथल के दर्शन किये थे। कन्फ्यूशियस, जरथुस्त्र, बुद्ध, महावीर आदि इसी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध-साहित्य से मालूम होता है कि उस समय अनेकों आचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के नये-नये मार्ग समाज के सामने रखे (दीघनिकाय १ मज्झिमनिकाय १, बम्ह-जालभुत्त)। इन सिद्धान्तों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि (ई० पू० ६०० के लगभग) (२) भगवद्गीता व पश्चात् के उपनिषद् (ई० पू० ५०० के लगभग, व (३) षट् दर्शन (ई० पू० ३००—ई० पू० २००)। इस युग के सर्व-साधारण रूप से मान्य सिद्धान्त ये थे—पुनर्जन्म, संसार की क्षण-भङ्गुरता व तज्जन्य दुःख कर्म-सिद्धान्त, तपश्चर्या, वर्णाश्रम धर्म, नैतिकता के सिद्धान्त आदि।

चार्वाक या लोकायतिक सिद्धान्त—इस दार्शनिक उथल-पुथल के युग में कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो भौतिक अस्तित्व को ही सब-कुछ मानकर अज्ञात अध्यात्मवाद को ढकोसला समझते थे। ईश्वर, जीव आदि पर विचार करना तो अलग रहा, वे उनके अस्तित्व को भी नहीं मानते थे। उनके आदि आचार्य चार्वाक थे, जिनके सिद्धान्तों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिलता है। बार्हस्पत्य-सूत्र इनका आदि ग्रन्थ माना जाता था, जो अप्राप्य है। सर्व-दर्शन-संग्रह के प्रथम अध्याय में चार्वाक

मत के सिद्धान्तों का सारांश दिया हुआ है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के द्वितीय अङ्क में भी उसके सिद्धान्तों को 'लोकायत' कहकर उल्लिखित किया गया है। लोकायत मत के अनुसार लोकायत ही एक-मात्र सच्चा शास्त्र है, जिसका प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। इन्हीं चार तत्वों के सम्मिश्रण से चेतना-शक्ति और बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। द्रव्य-प्राप्ति, भोग आदि ही जीवन के सच्चे उद्देश्य हैं। दूसरा और कोई लोक नहीं है। मृत्यु के पश्चात् सब चीजों का अन्त हो जाता है। कोई ईश्वर नहीं है। इसलिए खूब आनन्द, मौज, ऐश-आराम आदि करने चाहिएँ। वेदों के बनाने वाले धूर्त, भाँड और निशाचर थे। शरीर के भस्म हो जाने पर वह पुनः कैसे आ सकता है ? प्राचीन भारत में लौकायतिक सिद्धान्त के मानने वाले कितने थे और समाज पर काफी उसका प्रभाव रहा या नहीं रहा, इस सम्बन्ध में सप्रमाण कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसके एक ग्रन्थ का भी न पाया जाना प्रमाणित करता है कि उसके मानने वाले इने-गिने ही रहे होंगे। समाज ने उसे कभी भी अपनाया न होगा।

जैन मत—वर्धमान महावीर जैन मत का संस्थापक तथा सुधारक था। उसकी कठिन तपस्या के परिणाम स्वरूप उसे 'जिन' की पदवी मिली, जिससे उसके अनुयायी जैन कहलाये। किन्तु जैन मत के मानने वालों का मौलिक नाम 'निग्गन्थ' मालूम होता है, जिसका उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आता है। यज्ञों में की जाने वाली हिंसा से घबराकर वर्धमान ने यज्ञों तथा उनका प्रतिपादन करने वाले वेदों का भी विरोध किया। यज्ञों का ऐसा विरोध तो उपनिषदों में भी मिलता है। वर्धमान जैनियों का चौबीसवाँ तीर्थंकर था। जैनियों का प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और तेईसवाँ पार्श्वनाथ था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन मत बहुत प्राचीन है। वर्धमान ने उसे अन्तिम स्वरूप दिया।

ज्ञान का सिद्धान्त—वर्धमान ने अध्यात्मवाद और नैतिक तप का

सिद्धान्त अपने पुरोगामियों से सीखा था, किन्तु ज्ञान का सिद्धान्त उसका स्वतः का था। उसने ज्ञान पाँच प्रकार का माना है, जैसे—(१) मति (साधारण ज्ञान), (२) श्रुति (शब्दों द्वारा प्राप्त), (३) अवधि (किसी माध्यम के बिना प्राप्त ज्ञान), (४) मनः पर्याय (दूसरों के विचारों का जान जाना), (५) केवल (पूर्ण ज्ञान)। प्रथम दो प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष और बाकी का परोक्ष कहलाता है। ज्ञान के दो प्रकार और माने गए हैं जैसे प्रमाण अर्थात् किसी वस्तु का उसी के दृष्टि-बिन्दु से प्राप्त ज्ञान, व नय अर्थात् अन्य दृष्टि-बिन्दु से प्राप्त ज्ञान। 'नय' के सात प्रकार कहे गए हैं जैसे (१) नैगमनय—किसी वस्तु को साधारण एवं विशेष गुणों से युक्त देखना तथा उन दो प्रकार के गुणों के भेद को समझ न पाना; (२) संग्रहनय—इसमें साधारण गुणों पर जोर दिया जाता है; (३) व्यवहारनय—बाह्य ज्ञान पर आश्रित लौकिक दृष्टिकोण; (४) ऋजुसूत्रनय—विशिष्ट समय पर किसी वस्तु की अवस्था का ज्ञान; (५) शब्दनय—किसी नाम के लेने पर मन में उससे बोधित वस्तु-विशेष की स्मृति लाने वाला ज्ञान; (६) समाभिरूढ़नय—किसी वस्तु के लौकिक अर्थ वाले नाम से उसके विभिन्न पहलुओं व स्वरूपों में से किसी एक की कल्पना से उत्पन्न ज्ञान; (७) नयाभास—भ्रमपूर्ण दृष्टि-कोण से उत्पन्न ज्ञान। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु या उसके गुण धर्म को दरसाने के सात प्रकार हैं, जिसे स्याद्वाद या सप्तभङ्गीनय कहते हैं, जैसे—(१) स्यादस्ति, (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद-स्तिनास्ति, (४) स्यादवक्तव्य, (५) स्यादस्ति अवक्तव्य, (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य और (७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। सप्तभङ्गीनय का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सत्य कहीं भी नहीं है; सब वस्तुएँ सद्-सदात्मक हैं। जब सब-कुछ परिवर्तनशील है, तब कहा ही नहीं जा सकता कि कोई भी वस्तु कभी भी सातत्य प्राप्त कर सकती है। यही जैन मत का अनेकान्तवाद है।

नवतत्त्व—संसार की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होती है।

उसमें द्रव्य और गुण का प्राधान्य है, जिनका समवाय-समवायी-सम्बन्ध है। संसार की सब वस्तुओं के और दो विभाग किये गए हैं, जैसे जीव (भोक्ता) और अजीव (भुक्ता) । यह संसार-चक्र धर्म (गति-शीलता) और अधर्म (अगतिशीलता) आदि शक्तियों से चलता है। इस संसार में नौ तत्त्व मुख्य हैं, जिनको जाने व समझे बिना जीवन सार्थक नहीं हो सकता। वे तत्त्व इस प्रकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आश्रव, (६) संवर, (७) बन्ध, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष। इन तत्त्वों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में कर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कर्मों के ही कारण जीव संसार-बन्धन में पड़ता है। सम्यक् ज्ञान द्वारा कर्म के बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। प्रत्येक मुमुक्षु को तीन रत्न अवश्य अपनाने चाहिएँ, जैसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि को भी अपनाना आवश्यकीय था।

साधु और श्रावक—जैनियों को मुख्य दो विभागों में विभक्त किया गया है, जैसे साधु व श्रावक। इन दोनों को भिन्न-भिन्न नियम पालने पड़ते थे। साधु को दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् दतौन, स्नान आदि का अधिकार प्राप्त नहीं था। उसे प्रतिदिन भिक्षा माँगनी पड़ती थी और अपने अपराधों को स्वीकार करना पड़ता था। इसके पश्चात् अध्ययन करने का समय आता था। स्त्रियों को भी दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त था। प्रत्येक साधु को पाँच व्रत धारण करने पड़ते थे; जैसे अहिंसा, असत्य-त्याग, अस्तेयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और अपरिग्रहव्रत। उसे रात्रि-भोजन भी त्यागना पड़ता था। श्रावक को अपना जीवन धार्मिक बनाना पड़ता था। उसे पञ्च अतिचार छोड़ने पड़ते थे, जिसके लिए ये व्रत धारण करने पड़ते थे—प्राणातिपतविरमणव्रत, मृषावाद-विरमणव्रत, मैथुन विरमणव्रत, अदत्तादान विरमणव्रत और परिग्रह-विरमणव्रत। इन्हें अनु-व्रत कहा गया है। जो इन अनुव्रतों का पालन

करता था तथा मदिरा, मांस, मधु आदि से दूर रहता था वह सच्चा श्रावक कहलाता था। इसके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी श्रावक को धारण करने पड़ते थे। उसे साधु, उपाध्याय, आचार्य, तीर्थंकर या अरिहन्त तथा सिद्ध आदि का आदर करना पड़ता था। श्रावकों को बहुत से देवी-देवताओं की पूजा करनी पड़ती है। इन देवताओं का निवास नरक, पाताल, स्वर्ग आदि में रहता है।

समय के प्रभाव से जैनियों के दो भेद हो गए हैं, जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन भेदों के होने के बारे में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद हैं। दोनों के माननीय ग्रन्थ अलग-अलग रहते हैं। दोनों के मन्दिर रहते हैं, किन्तु श्वेताम्बर जैनियों के देवता वस्त्र धारण करते हैं और दिगम्बर जैनियों के देवता नग्न रहते हैं।

बौद्ध दर्शन—जैन दर्शन के समान बौद्ध दर्शन ने भी कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म आदि बहुत-सी बातें उपनिषदों से ली हैं, किन्तु फिर भी उसका विकास स्वतन्त्र ही मालूम होता है। बौद्धों के मुख्य सिद्धान्त दो हैं—(१) चार आर्य सत्य और (२) बारह प्रकार का प्रतीत्य-समुत्पाद। चार आर्य सत्य ये हैं—दुःख, समुदय, निरोध और प्रतिपद् या मार्ग। बारह प्रकार का प्रतीत्य समुत्पाद इस प्रकार वर्णित है - अविद्या, संस्कार, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण, शोक—'परिदेवनदुःखदौर्मनस्योपयासाः' आदि। बौद्ध मत का मुख्य मन्तव्य है कि यह संसार दुःखमय है, जिससे मुक्त होना प्रत्येक जीवधारी का कर्तव्य है। इच्छा दुःख का कारण है। सांसारिक वस्तुओं के क्षणिक रहने से अज्ञान द्वारा उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती। यह जीवन परिवर्तनों की एक शृङ्खला-मात्र है। इसमें सत्यांश कुछ भी नहीं। इसकी चार अवस्थाएँ हैं, जैसे उत्पाद, स्थिति, जरा और निरोध। यही सिद्धान्त आगे चलकर क्षणिक वाद में परिणित हो जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में गौतम बुद्ध ने मौन धारण करना ही उचित समझा था। उसके मतानुसार मनुष्य का

व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। उसका अन्तर पञ्चस्कन्धों का समुदाय है जिसे 'पुग्गल' या 'पुद्गल' कहते हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान यह पञ्चस्कन्ध हैं। इनका विकास उपनिषदों के नामरूप से हुआ है। नाम के अन्तर्गत चित्त, विज्ञान आदि का समावेश हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे रूपिणी, जिसके अन्तर्गत चार तत्त्व व उनसे बने हुए पदार्थ हैं, व 'अरूपिणी' जिनका कोई रूप नहीं है। इनमें चेतना की भिन्न अवस्थाओं का समावेश हो जाता है, अर्थात् पञ्चस्कन्धों का। ये अरूपी व रूपी उपनिषदों के नाम रूप से सम्बन्धित हैं।

कर्म-बन्धन—पञ्चस्कन्धों को एकत्रित करने में कारण-रूप कर्म ही है। इसी को पुनर्जन्म या संसार कहते हैं। नामरूप का ही पुनर्जन्म होता है। कर्म के बन्धन से छूटने में ही सच्ची मुक्ति है। आठ प्रकार के मार्ग पर चलने से ही कर्म-बन्धन तोड़ा जा सकता है। वह मार्ग इस प्रकार है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् वृत्ति आदि। इस मार्ग में सफल होने के लिए आवश्यक है कि सब कर्म शुद्ध हों, आश्रव से अशुद्ध न किये गए हों। इन चार आर्य सत्यों का भी हमेशा ध्यान करना चाहिए, जिससे मनुष्य सन्मार्ग से कभी भी विमुख न हो सके। प्रत्येक मनुष्य को ध्यान, शील, दान, प्रज्ञा, विज्ञान आदि से युक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। निर्वाण-प्राप्ति के लिए जो तप, ध्यान, धारणा आदि किये जाते हैं, उनमें ब्रह्म-विहार की प्राप्ति होती है जोकि चार हैं; जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा।

सुवर्ण मध्य—गौतम बुद्ध ने महावीर के समान तप की पराकाष्ठा करना उचित नहीं समझा। उसने सुवर्ण मध्य को ही स्वीकार किया। भिक्षुओं के लिए अच्छे-अच्छे वस्त्र, नियमित भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था की गई थी। बुद्ध को यह बात भली भाँति ज्ञात थी कि शारीरिक कष्ट मानसिक व आत्मिक विकास के लिए हानिकारक है।

त्रिरत्न—जैनियों के अनुसार बौद्धों के भी तीन रत्न थे, जैसे बुद्ध, सङ्घ व धर्म। बौद्ध सङ्घ बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर विकसित किया गया था। सङ्घ के सदस्य हुए बिना निर्वाण-प्राप्ति सम्भव नहीं है। उपासक व भिक्षु ऐसे दो प्रकार के सङ्घ के सदस्य थे। इन दोनों के लिए दैनिक जीवन के भिन्न-भिन्न नियम थे।

हीनयान व महायान—समय के प्रभाव से बौद्ध धर्म में भी दो शाखाएँ हो गईं, जैसे हीनयान व महायान। हीनयान में आध्यात्मिक व नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक जोर दिया गया है। निर्माण के लिए तप,आत्मनिग्रह आदि आवश्यक माने गए थे। सम्पूर्ण संसार क्षणिक है; बहुत से छोटे-बड़े धर्म मिलकर आत्मा का भास कराते हैं। निर्वाण-प्राप्ति के लिए आर्य सत्यों का ध्यान व उनकी धारणा आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को परिष्कृत बनाने से मनुष्य अर्हत् बनता है, जब उसे संसार से बाँधने के लिए कोई भी कर्म नहीं रहता। हीनयान के मन्तव्यानुसार निर्वाण की प्राप्ति एकान्तवर्तिनी गुफाओं को अन्धकार में ध्यानावस्थित होने से हो सकती है। किन्तु प्रारम्भिक बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार जीवन-कलह में भाग लेना आवश्यक था। हीनयान के अनुयायी कितने ही देवी, देवताओं को भी मानते थे। वे देवता न तो सर्वान्तर्यामी थे और न सर्वव्यापी। बुद्धि को 'देवातिदेव' कहा जाता था। पहले बुद्ध को देवता माना गया, तत्पश्चात् बुद्ध बनने के मार्ग में प्रवृत्त मुनियों को; फिर ब्राह्मण देवताओं को भी इनमें सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार हीनयान एक विचित्र मत बन गया, जो सैद्धान्तिक रूप से ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता; किन्तु बुद्ध की पूजा करना उचित समझता है। स्वर्ग-नरक की भावना भी अपनाई गई थी। हीनयान के सब ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। हीनयान को उत्तरीय बौद्ध मत भी कहते हैं।

महायान—यदि बौद्ध मत के प्रादुर्भाव से अशोक के पूर्व तक के सिद्धान्तों को प्रारम्भिक बौद्धमत कहा जाय, तो अशोक के समय के

सिद्धान्तों को हीनयान मत से सम्बन्धित किया जा सकता है। अशोक के पश्चात् से कनिष्क के समय तक जो दार्शनिक और धार्मिक वृत्तियाँ बौद्ध जगत् में रहीं उन्हें महायान से सम्बन्धित किया जा सकता है। जब बौद्ध मत समस्त भारत और विदेशों में फैलने लगा, तब उसे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए कितने ही परिवर्तनों को अपनाना पड़ा। यही महायान की विशेषता है। महायान के मतानुसार पञ्चस्कन्ध सत्य नहीं है। संसार भी पूर्णतया मिथ्या है। भूततथता या धर्मकाय ही जीवन का सार है। उसी के द्वारा निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है। भूततथता की तुलना उपनिषदों के ब्रह्म से की जा सकती है। सब जीव उसी के स्वरूप हैं। अविद्या के कारण ही संसार-चक्र चलता है। अश्वघोष के मत में अविद्या और चेतना एक ही हैं।

महायान के धार्मिक सिद्धान्तों में विचार स्वातन्त्र्य को पूरा स्थान दिया गया है। आदि बुद्ध को तो परम पूज्य माना ही गया है, किन्तु प्राचीन वैदिक देवताओं को भी बौद्ध बाना पहनाकर अपना लिया गया है। इन देवताओं की स्तुति, भक्ति आदि जनसाधारण के लिए आवश्यक मानी गई है। भक्ति द्वारा ही निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार महायान के भक्ति-मार्ग को भगवद्गीता के सिद्धान्तों से भिन्न प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। सब पदार्थों में धर्मकाय का अस्तित्व है। उसके ऊपर सम्भोगकाय है, जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं का भोग किया जाता है। उसके पश्चात् निर्माणकाय है, जिससे मन विकारपूर्ण बनता है। महायान का आदर्श बोधिसत्त्व है। इस आदर्श तक पहुँचने के लिए दस प्रकार की भूमि को प्राप्त करना आवश्यक है, जैसे प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, तथागतता (धर्ममेघ)। प्रत्येक को दान, वीर्य, क्षान्ति, ध्यान, प्रज्ञा आदि के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए। महायान का निर्वाण अन्धकारमय नहीं है।

बौद्ध दर्शन—ब्राह्मण दार्शनिकों के मतानुसार चार बौद्ध दर्शन हैं,

दो हीनयान के और दो महायान के। वैभाषिक व सौत्रान्तिक हीनयान के हैं। ये सर्वास्तिवादी कहलाते हैं; क्योंकि वे संसार के अस्तित्व को सत्य मानते हैं। योगाचार और माध्यमिक महायान के हैं। वैभाषिक के अनुयायी अन्य दर्शनों की भाषा को 'विरुद्ध भाषा' कहते थे, या वे अभिधर्म की टीका विभाषा को सर्वोपरि मानते थे, इसलिए कदाचित् उनके दर्शन का नाम वैभाषिक पड़ा हो। वे सूत्रों को नहीं मानते, केवल अभिधर्म को ही मानते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु को अनुभव से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रकृति और मन के अस्तित्व को पृथक् मानते हैं। सत्य ज्ञान की प्राप्ति केवल ऐन्द्रिक और काल्पनिक ज्ञान से हो सकती है। उनके मत में गौतम बुद्ध साधारण व्यक्ति था, जिसने बुद्धत्व-विशिष्ट निर्वाण प्राप्त करके मृत्यु से अन्तिम निर्वाण प्राप्त किया और अपने अस्तित्व का भी नाश किया। किसी की सहायता के बिना सत्य-ज्ञान की प्राप्ति में ही गौतम बुद्ध का दिव्यत्व था।

सौत्रान्तिक सिद्धान्तों के अनुसार वैकारिक जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है। वैभाषिक के अनुसार इस दर्शन में भी क्षण-वाद को अपनाया गया है। इसके सिद्धान्तानुसार विचार में स्वतः विचार करने की शक्ति है। इस प्रकार चेतना-शक्ति प्राप्त होती है।

योगाचार (विज्ञानवाद) दर्शन का सूत्रपात आर्य सङ्ग (असङ्ग) और उसके छोटे भाई वसुबन्धु (दिङ्नाग का गुरु) ने किया। अश्व-घोष भी इसी दर्शन का मानने वाला था। इसके अनुसार परम सत्य या बोधि केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो कि योगाभ्यास करते हैं। प्रकृति एक विचार-मात्र है। चेतना में कार्यशक्ति स्वयंसिद्ध है। इसीलिए इसे निरालम्बवाद भी कहते हैं। आन्तरिक द्रष्टा और बाह्य दृश्य के द्वैत के कारण 'आलय' एक छोटा सा जगत् ही बन जाता है। 'आलय' चेतना की परिवर्तनशील धारा ही है। आलय और अविद्या के योग से अहं भाव उत्पन्न होता है तथा उससे बाह्य जगत् अस्तित्व में आता है।

माध्यमिक दर्शन के अनुसार सुवर्ण-मध्य को अपनाना प्रत्येक का कर्तव्य है। नागार्जुन इसी दर्शन का अनुयायी था। इस दर्शन के मन्तव्यानुसार वैकारिक जगत् सत्य नहीं है। सम्पूर्ण सत्य कहीं भी नहीं है। इस जगत् में सब-कुछ कार्य-कारण की शृङ्खला पर ही निर्भर है। संसार के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है तथा ईश्वर के अतिरिक्त कोई संसार नहीं है। दोनों ही आभास-मात्र हैं। कुछ भी सत्य नहीं है। जगत् में 'शून्य' का प्राधान्य है। इस शून्य से कुछ लोग पूर्ण अभाव का अर्थ लेते हैं, जो कि वैकारिक जगत् के बारे में ठीक हो सकता है, और कुछ लोग उस परम सत्य का अर्थ लेते हैं, जो इन परिवर्तनों में छिपा हुआ है। उसको आध्यात्मिक सत्य से सम्बन्धित किया जा सकता है।

षट्दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि आस्तिक षट्दर्शनों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। उनमें से कुछ का उल्लेख जैन साहित्य में भी आता है। किन्तु व्यवस्थित रूप प्राप्त करने में कुछ समय लगा होगा। ऐतिहासिकों का मत है कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० पहली शताब्दी तक इन दर्शनों ने व्यवस्थित रूप धारण कर लिया था। ये दर्शन आस्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेद-प्रामाण्य इन्हें मान्य है। आस्तिकता और नास्तिकता का ईश्वर के अस्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनमें कितने ही सिद्धान्त सर्वसाधारण रूप से पाए जाते हैं; जैसे पुनर्जन्म, वर्णाश्रम, चित्तशुद्धि, मुक्ति, माया, अविद्या, प्रमाण आदि। प्रत्येक दर्शन अपने-अपने ढङ्ग पर मनुष्य को जीवन-मरण के बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष दिलवाने का दावा करता है।

न्याय—इस दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि माने जाते हैं, जिन्होंने अपने न्याय सूत्रों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसमें बुद्धि को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा सब-कुछ जाना जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार सोलह तत्त्व हैं,

जिनको अच्छी तरह से जानने से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। ये सोलह तत्त्व इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रहस्थान। प्रमाण, जो कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं, चार प्रकार के हैं, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शाब्दिक। इन्द्रिय व उसके अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् व सामान्यतो दृष्ट। 'पूर्ववत्' में कारण-कार्य भाव रहता है। कार्य से कारण का अनुमान 'शेषवत्' कहाता है। दो वस्तुओं में गत्यादि सामान्य रूप से रहने के कारण जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहा जा सकता है। उपमान में प्रसिद्ध वस्तु-साधर्म्य से अप्रसिद्ध की साधना होती है, जैसे यथा गौस्तथा गवयः। आप्तोपदेश को शब्द-प्रमाण कहते हैं। इसमें वेदादि आगमों द्वारा प्राप्त ज्ञान का समावेश हो जाता है।

प्रमाण-ग्राह्य अर्थ प्रमेय है, जिसके अन्तर्गत आत्मा, देह, बुद्धि, इन्द्रिय-सुख आदि हैं। किसी वस्तु-विशेष के सम्यक् ज्ञान के प्रति जो शंका होती है वह संशय है। किसी फल की इच्छा से जो कार्यारम्भ होता है वह प्रयोजन है। दृष्टान्त वह है जिसमें विवाद का कोई विषय ही न रहे। सिद्धान्त चार प्रकार के हैं, जैसे सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण व अभ्युपगम। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगम आदि पाँच अवयव हैं। संशय का उपरम तर्क कहाता है। सन्देह व तर्क के पश्चात् जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते हैं। पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रह से गुरु-शिष्य के जो प्रश्नोत्तर होते हैं उसे वाद कहते हैं। वादी-प्रतिवादी की विजिगीषा से प्रेरित बातचीत में छल-जात्यादि दूषण का आ जाना जल्प कहाता है। प्रतिपक्ष-साधन-विहीन बातचीत को वितण्डावाद कहते हैं। हेत्वाभास, जिसमें हेतु का आभास-मात्र ही रहता है, पाँच प्रकार का होता है; जैसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट व प्रकरणसम। छल उसे कहते हैं, जिससे बोलने वाले के अर्थ को तोड़-

मरोड़कर दूसरा ही अर्थ लगाया जाय। इसके तीन प्रकार हैं—वाक् छल, सामान्य छल व उपचार छल। जाति में अदूषण का दूषण के समान आभास होता है। इसके चौबीस प्रकार हैं। निग्रहस्थान उसे कहते हैं जहाँ विपक्ष का निग्रह होता है। प्रतिज्ञा, हानि, संन्यास, विरोध आदि इसके विभेद हैं।

न्याय के अनुसार, आत्मा व प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न हैं। ज्ञान जीवात्मा का गुण है। इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि भी उससे सम्बन्धित हैं। प्रकृति पूर्णतया जड़ है। मन व आत्मा के संयोग से चेतना-शक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा व शरीर दोनों ही बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा शरीर के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। वह जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाना ही सर्वोत्तम समझता है। वह मन की सहायता से एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। शरीर छोड़ते समय वह दिखाई नहीं देता; क्योंकि वह अणु-मात्र ही है। चर्मचक्षुओं से उसे देखना असम्भव ही है। विभिन्न शरीरों में रहने वाली आत्मा को जीव भी कहते हैं। ऐसे कितने ही जीव हैं। दृष्ट जगत्, जो कि जीवात्मा व प्रकृति से बना है, ईश्वर की कृति है। जीवात्मा के विभिन्न अनुभवों के लिए वह इस सृष्टि की रचना करता है। उसी की उपासना से कैवल्य प्राप्त होता है।

वैशेषिक—कणाद मुनि इस दर्शन के प्रणेता थे। नैयायिक व वैशेषिक देवताओं के विषय में कोई भेद नहीं है, भेद केवल तत्त्वों के सम्बन्ध में है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि तत्त्व हैं। द्रव्य नौ हैं, जैसे भू, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा आत्मा व मन। गुण चौबीस हैं, जैसे स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिणाम, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दुःखेच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व व वेग। कर्म के पाँच भेद हैं, जैसे उत्क्षेप, अवक्षेप, अवकुञ्चनक, प्रसारण व गमन। सामान्य के दो प्रकार हैं, पर, अपर। विशेष के द्वारा वस्तुओं

की भिन्नता का ज्ञान होता है। आधार-आधेयभूत अयुतसिद्धों का जो सम्बन्ध रहता है उसे समन्वय कहते हैं, जैसे पट में तन्तु। पश्चात् के आचार्यों ने अभाव को सातवाँ तत्त्व माना है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, आर्षज्ञान आदि चार प्रमाण मान्य हैं। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न आदि से विपरीत ज्ञान प्राप्त होता है।

परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीविक आदि द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया। परमाणु जगत् के उपादान कारण माने जाते हैं। परमाणु एकत्रित व पृथक् होते रहते हैं। यह कार्य अनन्त काल से चला आता है। अग्नि व पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा ईश्वर के ध्यान-मात्र से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है। इसमें ईश्वर जगत् व ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार और सृष्टि भी होती है। ब्रह्मा परम ज्ञान व परम शक्ति द्वारा मानस-पुत्र, प्रजापति, मनु, देवता, पितर, ऋषि, चार वर्ण व अन्य जीवों को उत्पन्न करता है। सृष्टि व प्रलय अनन्त काल तक होते रहते हैं। अहिंसा ही परम धर्म है व हिंसा अधर्म है। संसार से घृणा करना ही हिंसा है। धर्म से हर प्रकार की उन्नति होती है। इसलिए दुष्ट मनोवृत्तियों का निरोध करना चाहिए। आत्मा का अदृष्ट से सम्बन्धित होकर शरीर धारण करना ही संसार है। उससे पृथक् होना मोक्ष है। नैयायिकों के समान वैशेषिक सिद्धान्त के अनुयायी भी एक जगन्नियन्ता ईश्वर को मानते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से न्याय व वैशेषिक में बहुत कम अन्तर है। दोनों में आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त एक-सा है। यही हाल उनके परमाणुवाद का भी है।

सांख्य—इस दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि थे। इस दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गए हैं, जिनमें पुरुष व प्रकृति मुख्य हैं। उन दोनों का सम्बन्ध अन्धे व लँगड़े के सम्बन्ध के समान है। प्रकृति अन्धी है। व पुरुष लँगड़ा है। जब तक पुरुष प्रकृति से अपना पृथक्त्व नहीं समझ

लेता, तब तक संसार का नाटक चला करता है। पुरुष को कैवल्य-ज्ञान होते ही यह सब बन्द हो जाता है। अविवेक ही पुरुष व प्रकृति का सम्बन्ध कराता है। यह संसार प्रकृति से ही विकसित हुआ है। प्रकृति के सत्व, रज, तम आदि तीन गुण हैं। जब तक तीनों गुण साम्य की अवस्था में रहते हैं तब तक प्राकृतिक विकास नहीं होता। किन्तु गुण-क्षोभ होते ही प्रकृति का विकास प्रारम्भ हो जाता है, व पुरुष भी अविद्या के कारण इसमें फँस जाता है। यह विकास इस प्रकार होता है—प्रकृति (प्रधान, अव्यक्त) (१) महत् (२) बुद्धि (३) अहंकार (सात्विक, राजस, तामस)—सात्विक अहंकार (४) मन (५-१४) दस इन्द्रिय, तामस अहंकार (१५-१९) पञ्चतन्मात्रा (२०-२४) पञ्चमहा-भूत। इस प्रकार प्रकृति के चौबीस तत्त्व विकसित होते हैं व पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है। ये सब मिलकर सांख्य के पच्चीस तत्त्व होते हैं।

सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है। पुरुष अनेक हैं। वे चुपचाप प्रकृति-नटी का नाटक देखते हैं। सांख्य दर्शन में पुरुष को अमूर्त, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण सूक्ष्म इत्यादि माना गया है। जब पुरुष शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से बँध जाता है, तब जीव कहाता है। प्रत्येक जीव का स्थूल शरीर रहता है, जो मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है। उसका एक सूक्ष्म शरीर भी रहता है, जिसे लिंग शरीर भी कहते हैं। इसी शरीर के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है। सांख्य दर्शन में ज्ञान पाँच प्रकार का माना गया है, जैसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। यह संसार दुःखमय है। यहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तीन प्रकार के दुःख रहते हैं। सत्य ज्ञान या विवेक द्वारा इन दुःखों से छुटकारा होता है। मिथ्या ज्ञान से उनकी वृद्धि होती है। निःस्वार्थ वृत्ति द्वारा सद्गुणों को प्राप्त करने से सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग, वैराग्य, ध्यान आदि भी आवश्यकीय हैं। रजो गुण व तमो गुण को घटाकर सत्व

की वृद्धि करनी चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर को स्थान नहीं है। सांख्य के प्राचीन आचार्यों ने यह तो स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है, किन्तु इस बात का उल्लेख किया है कि ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह जगत् प्रकृति से ही विकसित होता है। किन्तु आगे चलकर सांख्य के आचार्यों को अपने दर्शन की एक त्रुटि का अनुभव होने लगा। जब कि पुरुष तटस्थ व दृष्टा-मात्र है व अन्धी प्रकृति स्वतः कुछ भी नहीं कर सकती, तब प्राकृतिक विकास का प्रारम्भ कैसे होता है? वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, नागेश प्रभृति को एक व्यवस्थापक ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत हुई व उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को मान लिया। वही ईश्वर प्रकृति के विकास को व्यवस्थित करता है।

योग—इस दर्शन के प्रणेता पतञ्जलि मुनि माने जाते हैं, जो कदाचित् महाभाष्यकार भी थे। योग व सांख्य में इतनी सैद्धान्तिक समानता है कि कपिल के निरीश्वर सांख्य से इसकी भिन्नता बताने के लिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं। इसके सिद्धान्तों के अनुसार सांसारिक जीवन का उद्भव इच्छाओं के कारण होता है। इसलिए चित्त-वृत्तियों का निरोध परम आवश्यकीय है। यही सच्चा योग है। इन इच्छाओं को रोकने का अभ्यास करने से चित्त को अधीन किया जा सकता है। चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए अष्टाङ्ग योग की साधना आवश्यकीय है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि योग के आठ अङ्ग हैं। अष्टाङ्ग योग के साधन से शरीर व मन की अच्छी पुष्टि होती है, जिससे मन पर कुवासनाओं का कोई प्रभुत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है योग दर्शन में इस बात को भी मान लिया गया है कि सब लोग कैवल्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। उनके लिए क्रियायोग ही पर्याप्त है, जिसके अन्तर्गत तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान है। योग का ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है; किन्तु प्राकृतिक विकास का प्रथम दर्शक

है, व जीवों को प्रकृति से पृथक् उन्हें कैवल्य प्राप्त कराने में भी सहायक होता है।

पूर्व मीमांसा—इसके प्रणेता जैमिनि मुनि थे। इसे कर्म मीमांसा भी कहते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। इसके मन्तव्यानुसार नित्त, नैमित्तिक यज्ञादि के करने से ही सच्ची मुक्ति प्राप्त हो सकती है। सब कर्मों का प्रारम्भ वेदों से होता है। इस मीमांसा के अनुसार चोदना लक्षण वाला अर्थ ही धर्म है, (मीमांसा-सूत्र १।१।२) व उसी धर्म का परीक्षण करना पूर्व मीमांसा का मुख्य उद्देश्य है। इसमें यज्ञों का ही प्राबल्य है; दार्शनिक सिद्धान्त तो गौण रूप से हैं। वेद सर्वोपरि है व कर्म का ज्ञान पर प्रभुत्व है। पूर्व मीमांसा में तीन प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। पश्चात् के आचार्यों ने तीन प्रमाण और माने हैं—उपमान, अर्थापत्ति व अभाव। इन प्रमाणों से सिद्ध ज्ञान ही उपादेय है। ज्ञान-प्राप्ति के चार अङ्ग हैं—ज्ञाता,, ज्ञेय, ज्ञान कारण व ज्ञातता। पूर्व मीमांसाकार ने आत्मा के अस्तित्व के लिए विस्तृत रूप से कोई प्रमाण नहीं दिए। इस सम्बन्ध में वेदान्त के मन्तव्य को ही मान लिया गया है। प्राकृतिक जगत् का अस्तित्व यथार्थतापूर्ण है, तथा वह मन से पृथक् है, जो कि उसका साक्षात्कार करता है। प्रभाकर के मतानुसार, आठ तत्त्व हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य व संख्या। गुणों के अधिष्ठान को द्रव्य कहते हैं, जो कि नौ हैं—भू, जल, वायु, अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल व स्थान। द्रव्य तथा गुण के सम्बन्ध के बारे में पूर्व मीमांसा ने वैशेषिक दर्शन से लिया है। इस मीमांसा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के माने गए हैं—नित्य, नैमित्तिक व काम्य। तीनों वर्ण इन कर्मों के करने के अधिकारी हैं। कर्म व परिणाम का सञ्चालन 'अपूर्व' द्वारा होता है। पूर्व मीमांसा में कितने ही देवताओं का उल्लेख है जो यज्ञ में हविष् प्राप्त करते हैं। मीमांसकों को इन देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य सर्वोपरि देवता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उनके

सिद्धान्तानुसार कर्म ही परम सत्य है और ईश्वर-धर्म है।

वेदान्त—इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। इसके प्रणेता बादरायण या व्यास मुनि माने जाते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रमाण दो हैं—श्रुति (प्रत्यक्ष), व स्मृति (अनुमान)। इस जगत् में ब्रह्म ही सत्य है। पुरुष व प्रकृति उसी के परिवर्तित स्वरूप हैं। पुरुष में जो ब्रह्म है, उस पर पुरुष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दिनों का भेद मुक्ति के पश्चात् भी रहता है। यह संसार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम है। यह उसकी लीला है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीवात्मा को अच्छे-अच्छे गुण प्राप्त करने चाहिएँ, जिससे आत्म-शुद्धि हो सके व जीवन पवित्र बन जाय।

शंकर का मायावाद—शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य लिखकर एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे शांकर वेदान्त या मायावाद कहते हैं। वेदान्त सूत्रों में शंकर के सिद्धान्त के लिए सामग्री अवश्य है, किन्तु उसका स्वरूप व्यवस्थित नहीं है। उसे शंकर ने व्यवस्थित किया। मायावाद का मुख्य सिद्धान्त है कि जो-कुछ दिखाई देता है वह सत्य नहीं है, वह केवल आभास-मात्र है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में ब्रह्म इस जगत् के रूप में दिखाई देता है। ब्रह्म का इस प्रकार दिखाई देना उसके मायान्वित होने के कारण भी है। जीव को मायान्वित ब्रह्म भी कह सकते हैं। इस प्रकार अनेकत्व केवल आभास है व एकत्व एक-मात्र सत्य है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है), "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (यह सब-कुछ ब्रह्म है), "तत्त्वमसि" (तू वही है) आदि उपनिषदों के वाक्यों से शंकर मत की पुष्टि की जाती है। जब जीवात्मा सच्चे ज्ञान के प्रकाश में अविद्या-न्धकार को दूर करके माया के फन्दे को तोड़ देता है, तब उसे एकत्व का भास होने लगता है, और वह अनुभव करने लगता है कि "अहं ब्रह्मा अस्मि" (मैं ही ब्रह्म हूँ)। इसी को मुक्ति कहते हैं।

अन्य आचार्यों के मत—रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि मध्यकालीन आचार्यों ने भी वेदान्त-सूत्र पर अपने-अपने भाष्य लिखकर भिन्न-भिन्न मन्तव्य प्रतिपादित किये, जो विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि नामों से जाने जाते हैं। जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध को समझाने में जो भेद है उसी के कारण उनके मन्तव्यों में भी भिन्नता आ गई है, अन्यथा अन्य सब सिद्धान्त एक से हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन पर विस्तृत रूप से विचार नहीं किया जा सकता।

(ख) धार्मिक विकास

त्रिदेव—वैदिक काल के पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों धार्मिक जीवन में भी बहुत-से परिवर्तन होते गए और उसका विकास होने लगा। समय की गति से वह विकास उस अवस्था को पहुँचा जो 'हिन्दू-धर्म' के नाम से जाना जाता है। यों तो आज जो धार्मिक मन्तव्य इस नाम से जाने जाते हैं, उनका आरम्भ वेदों से ही होता है; किन्तु इस धर्म में विकास की अवस्था में बहुत-सी ऐसी बातें समा गईं, जो उसकी मौलिक अवस्था में नहीं थीं। वैदिक काल के इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि ने ले लिया। उन्हीं की स्तुति, उपासना आदि की जाने लगी। त्रिदेव की भावना पुराणों में अधिक विकसित हुई। इस भावना का यह मतलब कदापि नहीं हो सकता कि वेदकालीन एकेश्वरवाद का स्थान अनेकेश्वरवाद ने ले लिया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश परमेश्वर के ही तीन स्वरूप उसकी विभिन्न शक्तियों के द्योतक माने गए। ब्रह्मा का काम सृजन करना, विष्णु का काम रक्षण करना और शिव का काम नाश करना था। संसार में तीनों प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। वे परमेश्वर द्वारा ही प्रेरित होती हैं। इस प्रकार त्रिदेव की कल्पना में एक ही परमात्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। उसमें अनेक देवताओं का भाव निहित नहीं हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया,

त्यों-त्यों लोग गूढ़, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त समझने में असमर्थ होने लगे। परिणामतः मुक्ति प्राप्त करने का या ईश्वर को समझने का एक और मार्ग ढूँढ़ा गया। इसका नाम 'भक्ति-मार्ग' है।

भक्ति-मार्ग—भक्ति-मार्ग का उद्देश्य इष्ट देवता की उपासना, भक्ति, उसके गुण-गान, भजन, संकीर्तन आदि द्वारा मुक्ति प्राप्त करना है। पहले-पहल ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही साधारणतया इष्टदेव माने जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे इन तीन देवों के अतिरिक्त कितने ही इष्टदेव हो गए और प्रत्येक की भक्ति, पूजा आदि की विधि में भी अन्तर हो गया। इस प्रकार वैष्णव, शैव आदि कितने ही सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। धर्म के इस परिवर्तित स्वरूप का सुन्दर और स्पष्ट चित्र पुराणों में मिलता है। एक पुराण से अठारह महापुराण और अठारह उपपुराणों का बनना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भक्ति की गङ्गा भिन्न-भिन्न स्रोतों में बहने लगी थी और उसने समस्त भारतवर्ष को अपने जल से परि-प्लावित कर दिया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति-मार्ग पर विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि कदाचित् बौद्ध-धर्म के महायान के प्रभाव से भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। बोधिसत्त्वादि की पूजा उसके गुण-गान, भजन, संकीर्तन आदि करना महायान का मुख्य मन्तव्य था। इससे जनसाधारण का आकर्षण उसकी ओर बढ़ने लगा। हिन्दू-धर्म ने महायान की इस विशेषता को अपनाकर बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए वेग को रोक दिया। बोधिसत्त्व के स्थान में विष्णु, शिव आदि की भक्ति की जाने लगी। इस मन्तव्य को पूर्णतया पुष्टि नहीं दी जा सकती। भक्ति-मार्ग के विकास पर बौद्धधर्म का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। किन्तु यह तो सम्भव नहीं है कि उसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म से हुआ हो, क्योंकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भक्ति-मार्ग की जड़ें तो ऋग्वेद में पाई जाती हैं।

भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय—ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध

होता है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी में भागवत सम्प्रदाय का प्राबल्य था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के यूनानी राजा एण्टियाल्किडास का राजदूत हिलीयोडोरो मध्यभारत के बेसनगर (आधुनिक भेलसा के निकट) के राजा के पास भेजा गया था। वहाँ जाकर हिलीयोडोरो विष्णु का परम भक्त हो गया, यहाँ तक कि उसने विष्णु का मन्दिर बनवाया और एक विष्णु-ध्वज-स्तम्भ खड़ा करवाया, जिस पर एक लेख खुदवाया। उक्त लेख में 'परम भागवतो हिलीयोडोरो' शब्द भी आते हैं। इससे पहले के भी भक्ति-मार्ग के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने कृष्ण और शिव की भक्ति के प्राबल्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) में कंस-वध और बाली-वध नाटकों के अभिनय के उल्लेख से भी पता चलता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में भी भक्ति-मार्ग का प्राबल्य था। भक्ति-मार्ग का प्राबल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गुप्त सम्राटों के लेखों से मालूम होता है कि वे अपने नाम को 'परम भागवत' पदवी से अलंकृत करते थे। इस प्रकार भागवत सम्प्रदाय का इतिहास बहुत ही प्राचीन तथा विस्तृत है।

शैव सम्प्रदाय—भागवत सम्प्रदाय के साथ-साथ शैव सम्प्रदाय का भी विकास हुआ था। प्राचीन काल में इसका विशेष प्राबल्य पश्चिमी भारत में था। महाभारत और पुराण में जो शाकद्वीपों का वर्णन आता है, उसमें बताया गया है कि वहाँ शैवों का प्राबल्य था। ईसा की द्वितीय शताब्दी में कुछ कुशानवंशी राजा भी शैव बन गए थे। ईसा की छठवीं शताब्दी में हूणों ने भी इस मत को अपनाया, जैसा कि तोरमाण, मिहिरगुल आदि हूण राजाओं के सिक्कों से मालूम होता है। धीरे-धीरे यह सम्प्रदाय भारत भर में फैल गया। कितने ही वर्षों तक दक्षिण भारत में इस सम्प्रदाय का प्रभुत्व रहा। वैष्णव और शैव दोनों ही सम्प्रदाय बराबरी से उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगे। कभी-कभी

उनके अनुयायियों में कुछ मुठभेड़ भी हो जाती थी, किन्तु साधारण-तया भारत के धार्मिक वातावरण में सहिष्णुता का साम्राज्य रहता था।

पुराण—पुराणों के विकास और सम्प्रदायों के विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है। प्राचीन काल से ही इतिहास-पुराण का साहित्य जनसाधारण को प्रिय लगता था। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग भी उनका प्रिय मार्ग था। इसलिए पुराण और भक्ति-मार्ग का सम्बन्धित हो जाना स्वाभाविक ही था। पुराणों ने सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों का काम दिया। इष्टदेवता की भक्ति, पूजा आदि अत्यन्त ही विस्तार से वर्णन करना पुराणों का मुख्य उद्देश्य बन गया। शिव, मार्कण्डेय, विष्णु, मत्स्य, गरुड़, भागवत आदि पुराणों का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

भक्ति-मार्ग का उत्तरोत्तर विकास—ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों भक्ति-मार्ग विकसित होता ही गया। मध्यकाल में इस विकास की पराकाष्ठा हो गई, जब कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में कितने ही सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने हिन्दी, गुजराती, मराठी, बङ्गला, कन्नड़, तामिल, तेलुगू आदि भारत की विभिन्न भाषाओं में मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। कबीर, रामानन्द, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, नरसिंह मेहता, मीराबाई, तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों ने मध्यकाल में भक्ति की गंगा को समस्त भारत में बहाया था। आज भी भारत के जनसाधारण के हृदय-सिंहासन पर वे ही सन्त वर्तमान हैं। उन्हीं के वचन भारतीयों के जीवन को नियन्त्रित और सञ्चालित करते हैं। इनमें से कितनों ने ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय करने का प्रयत्न भी किया है। भक्ति-काव्य ने भारत के हृदय पर अपना अच्छा प्रभुत्व जमा लिया है।

भक्ति-मार्ग की बुराइयाँ—भक्ति-मार्ग के विकास की चरम सीमा होने के पश्चात् उसमें कितनी बुराइयाँ भी आने लगीं। ईश्वर की भक्ति के नाम पर कितना ही अनाचार किया जाने लगा। विभिन्न

सम्प्रदायों के आचार्यों में से विद्वत्ता का लोप होने से आडम्बर, इन्द्रिय-लोलुपता आदि का साम्राज्य बढ़ने लगा। आचार्य और उनके अनुयायी अपने आदर्शों से विचलित होने लगे। परिणामतः इन सम्प्रदायों के व्यावहारिक जीवन के प्रति शिक्षित समुदाय में घृणा का भाव पैदा होने लगा, व समाज में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न हो गई, जिसका दौर-दौरा अभी भी चला जाता है। इस प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास में भक्ति-मार्ग का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

११

साहित्यिक विकास

(१)
वैदिक वाङ्मय

वेद्—'वेद' शब्द 'जानना' अर्थ वाली 'विद्' धातु में 'अच्' या 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है, व उसका अर्थ ज्ञान होता है। उसकी प्राचीनता व पवित्रता के कारण उसे ईश्वरीय ज्ञान भी कहते हैं। धर्म-निष्ट भारतीय उसे अपौरुषेय मानते हैं, अर्थात् ईश्वर को उसका कर्ता मानते हैं। विभिन्न मन्त्रों के ऋषि मन्त्रद्रष्टा-मात्र माने जाते हैं। वेद या वैदिक साहित्य से साधारणतया तीन प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों का बोध होता है, जिनमें से कुछ आज तक सुरक्षित हैं, व कई का पता नहीं है। प्राप्य साहित्य का ब्यौरा इस प्रकार है—*(१) संहिता*—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व आदि चार संहिताएँ हैं; *(२) ब्राह्मण*—इस साहित्य में गद्य के रूप में यज्ञादि-विषयक बहुत सी बातें हैं। प्रत्येक संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण हैं, जैसे ऐतरेय, कौशीतकी या शाङ्खायन (ऋग्वेद), तैत्तिरीय, शतपथ (यजुर्वेद); पञ्चविंश, षड्विंश, अद्भुत, छान्दोग्य (सामवेद); गोपथ (अथर्व वेद; आरण्यक व *(३) आरण्यक व उपनिषद्*—ब्राह्मण साहित्य का अन्तिम भाग आरण्यक कहलाता है, उसमें यज्ञों को दार्शनिक ढंग पर समझाया गया है। आरण्यक के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहते हैं, जिसमें दार्शनिक ढङ्ग पर ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि

का विवेचन किया गया है। विभिन्न वेदों से सम्बन्धित उपनिषद् इस प्रकार हैं—ऐतरेय, कौशीतकी (ऋग्वेद); तैत्तिरीय महानारायण, कठ मैत्रायणीय, बृहदारण्यक (यजुर्वेद), छान्दोग्य, केन (सामवेद)।

वेद-काल—उपरिनिर्दिष्ट साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से संहिताएँ सर्व प्रथम हैं, तत्पश्चात् ब्राह्मण व उपनिषद् माने जाते हैं। संहिताओं में भी ऋग्वेद संहिता प्राचीनतम है। अतएव वेद-काल-निर्णय में ऋग्वेद-काल-निर्णय ही मुख्य प्रश्न है। ऋग्वेद का काल-निर्णय करना एक जटिल समस्या है। भाषा की कठिनता व प्राचीनता के कारण वैदिक मन्त्रों के सच्चे अर्थ को समझना भी मुश्किल हो गया है। इसलिए इस सम्बन्ध में कोई भी मत स्थिर करना सरल नहीं है। इस दिशा में मैक्समूलर का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है। उसने प्राचीन उपनिषदों में बौद्ध सिद्धान्तों की भूमिका देखकर तय किया कि उपनिषद् बौद्ध काल के कुछ ही पहले के होने चाहिएँ। उनका समय ई० पू० छठी शताब्दी रखा गया। उसने ब्राह्मण-साहित्य के लिए ई० पू० ८०० वर्ष यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि के लिए ई० पू० १००० वर्ष, ऋग्वेद के लिए ई० पू० १५००-१२०० के मध्य का काल निश्चित किया। ज्योतिष शास्त्र की सहायता से तिलक व जेकोबी ऋग्वेद को ई० पू० ४५०० वर्ष तक ले जाते हैं। विण्टरनीज़ भारत के बाहर पाये गए वैदिक संस्कृति के चिह्नों के आधार पर ऋग्वेद को ई० पू० ३००० वर्ष का सिद्ध करते हैं। ब्हूलर मैक्समूलर के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेद ई० पू० १२०० वर्ष के बहुत पहले का होना चाहिए। इन सब सिद्धान्तों के विपरीत अविनाशचन्द्रदास भूगर्भ-शास्त्र की सहायता से ऋग्वेद को लाखों वर्ष पूर्व का सिद्ध करते हैं।

वेदोत्पत्ति व पुराण—वेद कब व कैसे बने इन प्रश्नों को पुराणों की सहायता से हल किया जा सकता है। वायु, विष्णु आदि पुराणों में जहाँ राज-वंशावलियाँ दी हैं, वहाँ वेद-मन्त्रों के द्रष्टा, ऋषियों के सम्बन्ध में भी कुछ-कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है। वैदिक

संहिताओं व अनुक्रमणिकाओं में मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का वर्णन आता है। इन मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में से कुछ के नाम पुराणों में भी आते हैं तथा वहाँ उनके बारे में जो-कुछ कहा गया है, उसकी पुष्टि वैदिक संहिताओं से होती है। वेद-मन्त्रों को उनके ऋषियों के क्रम के अनुसार व्यवस्थित करके उनकी भाषा आदि का आलोचनात्मक अध्ययन करके पुराणों की सहायता से उन वेद-मन्त्रों की बनावट व उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में बहुत-कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है पुराणों की सहायता से वेद-सम्बन्धी कितने ही भ्रम दूर किये जा सकते हैं। यदु, द्रुह्यु आदि को आधुनिक विद्वानों ने वेदकालीन जातियों के नाम माना है, जिन्हें पञ्जाब से सम्बन्धित किया गया है व जिनका सम्बन्ध उस कपोल-कल्पित 'दाशराज्ञ-युद्ध' से जोड़ा जाता है (ऋ० ८।८३)। किन्तु पुराणों से यथार्थ स्थिति का बोध होता है व कहा जा सकता है कि यदु, द्रुह्यु आदि चन्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्र थे, व भारत के विभिन्न भागों में राज्य करते थे; यदु के वंशज आज भी भारत में 'यादव' नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार पुराणों की सहायता से वेदों के मन्त्रों को उनके सच्चे स्वरूप में समझा जा सकता है व तिथि-क्रम के अनुसार व्यवस्थित किया जा सकता है।

ऋग्वेद—ऋग्वेद संहिता को ऐतिहासिक लोग प्राचीनतम मानते हैं। उसमें दस मण्डल हैं और सब १०२८ सूक्त हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद को आठ अष्टकों में भी विभाजित किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में कितने ही वर्ग हैं, जिनमें साधरणतया पाँच मन्त्र रहते हैं। मण्डलों के द्रष्टा ऋषि-विशेष हैं। उन ऋषियों के नाम ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा वैदिक अनुक्रमणिकाओं में पाये जाते हैं; जैसे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ। ये ऋषि व उनके वंशज दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक मन्त्र-द्रष्टा माने जाते हैं। अनुक्रमणिकाओं में पहले, नवें और दसवें मण्डल के सब ऋषियों के नाम भी दिये गए हैं। उनमें कुछ स्त्रियाँ भी हैं, जैसे वागाम्भृणी

(ऋ० १०।१२५), घोषा काक्षीवती (ऋ० १०।३९;१०।४०), अपाला आत्रेयी (ऋ० ८।९२)। ऋग्वेद पूर्णतया धार्मिक ग्रन्थ है। उसमें विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है। उसके धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन धर्म और दर्शन' के अध्याय में किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिनकी सहायता से तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास का पता चलता है। इस प्रकार उसमें धर्म और दर्शन के अतिरिक्त राजनीति, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, गणितादि विद्या, ज्योतिष-शास्त्र, काव्य, अलंकार आदि विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख है, जिनका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

सामवेद—सामवेद ऋग्वेद से अधिक सम्बन्धित है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ७५ मन्त्रों के सिवाय सब ही मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं, जो कि सोम-सम्बन्धी हैं। इस वेद का संग्रह यज्ञ की दृष्टि से हुआ है। इसके सब मन्त्र सोम-यज्ञों के समय उच्चारित किये जाते हैं। इन मन्त्रों को गाया जाता है। सामवेद में १५४९ मन्त्र हैं और समस्त ग्रन्थ को दो अर्चिकाओं में बाँटा गया है। पहली अर्चिका में ६ प्रपाठक हैं, जिनमें अग्नि, सोम और इन्द्र की स्तुति की गई है। दूसरी अर्चिका में ९ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद विशेष रूप से यज्ञ से सम्बन्धित है। विभिन्न यज्ञों के समय उच्चारित किये जाने वाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसमें भी ऋग्वेद के मन्त्र लिये गए हैं। ब्राह्मण-रहित यजुर्वेद को शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं, जिसमें ४० अध्याय हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें सर्वप्रथम १८ अध्याय थे; बाकी के अध्याय बाद में मिलाये गए। इन अध्यायों में विभिन्न यज्ञों का वर्णन है। किन्तु इस वेद में यत्र-तत्र सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति के चित्र के लिए भी सामग्री मिलती है, तथा रेखागणित, अङ्कगणित-सम्बन्धी भी बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। ऐतिहासिकों के मतानुसार यजुर्वेद ऋग्वेद से विभिन्न भौगो-

लिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता है। उसमें पञ्जाब की सिन्धु आदि नदियों का उल्लेख नहीं है; उसमें उत्तर भारत के उस प्रदेश का निर्देश है, जहाँ कुरु और पाञ्चाल बसे थे। कुरु का प्रदेश कुरुक्षेत्र अत्यन्त पवित्र माना गया है, जो सतलज और यमुना के मध्य में स्थित था। उसके पूर्व में गंगा और यमुना का मध्यवर्ती भू-भाग पाञ्चालों का प्रदेश कहाता था। ये दोनों प्रदेश भारत के सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साधारणतया विद्वानों का ऐसा मत है कि ब्राह्मणधर्म, संस्कृति आदि ने अपना स्वरूप नहीं धारण किया। धार्मिक दृष्टि से यजुर्वेद और ऋग्वेद में विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों में लगभग एक-से ही देवता हैं। ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में अधिक महत्त्वशाली है। ऋग्वेद का रुद्र यहाँ शिव के रूप में उपस्थित होता है; और शंकर, महादेव आदि नामों से उल्लिखित है। इसी प्रकार विष्णु ने महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है। देव और असुर को क्रमशः अच्छाई और बुराई से सम्बन्धित करके उनके पारस्परिक झगड़ों का भी उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद में बहुत-सी अप्सराओं का भी उल्लेख है।

यजुर्वेद में सर्वप्रथम उपनिषद् के ब्रह्म के दर्शन होते हैं। यद्यपि धार्मिक जीवन में विभिन्न देवताओं को स्थान प्राप्त था, तो भी यज्ञ अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। यज्ञ की विधि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक बातों का विस्तारशः वर्णन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के पहले अध्याय से दसवें अध्याय तक अमावस्या-सम्बन्धी तथा ग्यारहवें से अठारहवें तक पूर्णिमा-सम्बन्धी यज्ञों का विस्तृत वर्णन है, जिन पर शतपथ ब्राह्मण (१-५।६-९) ने अच्छा प्रकाश डाला है। इस प्रकार इस समय यज्ञ का महत्त्व बढ़ गया था और यज्ञ से अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति मानी जाती थी। समाज में वर्ण-व्यवस्था का भी महत्त्व बढ़ गया था।

अथर्ववेद—अथर्ववेद संहिता २० काण्डों में विभाजित है, जिनमें ७३० सूक्त और ६००० मन्त्र हैं। लगभग १२०० मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। बहुत-से विद्वान् इस संहिता को अन्ध-विश्वास और जादू-टोने का भण्डार मानते हैं। किन्तु इसमें राजनीति, समाज-शास्त्र, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त भरे पड़े हैं (अथर्व० ३।४।२;७।१२।१-२; २।३१-३३)। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें जन-साधारण के धार्मिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। इस वेद में ईश्वर को 'व्रात्य' कहकर उसका गुण-गान बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। वरुणादि से सम्बन्धित सूक्तों में उच्चतम नैतिकता के दर्शन होते हैं। काल-सम्बन्धी मन्त्रों में काल की महिमा का वर्णन करते हुए संसार की क्षणभंगुरता का बोध कराया गया है। इसी प्रकार सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त की सामाजिक उपादेयता तथा राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सभा और समिति को प्रजापति की विदुषी दुहिताएँ बताया गया है।

अथर्ववेद में आयुर्वेद-सम्बन्धी सामग्री भी पर्याप्त रूप में मिलती है। यदि सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति और विभिन्न कृमियों के विस्तृत वर्णन पर वैज्ञानिक ढङ्ग से विचार किया जाय तो कीटाणु-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञात होगा। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस वेद में बुखार, कोढ़, पीलिया, खाँसी, गंजापन, नपुंसकता, सर्प-दंश, विष प्रभाव आदि को दूर करने के लिए जादू-टोने से सम्बन्धित कितने ही मन्त्र हैं, जिनके उच्चारण-मात्र से रोग भाग जाते थे, ऐसी मान्यता प्रसरित थी। ज्योतिष-सम्बन्धी मन्त्रों में नक्षत्रों का उल्लेख है। इसमें भूगोल-सम्बन्धी वर्णन अधिक नहीं है। गान्धार, मूजवत, महावृष, बाह्लीक, मगध, अङ्ग आदि भू-भागों के नाम उल्लिखित हैं।

ब्राह्मण-साहित्य—संहिताओं के पश्चात् यज्ञ-सम्बन्धी गद्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। इसके विकास का समय ई० पू० ८००-

५०० वर्ष माना जाता है। यज्ञ के क्रिया-कलाप में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कैसा होना चाहिए, इस पर इस साहित्य में प्रकाश डाला गया है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे वेद-मन्त्रों का भाष्य भी मानते हैं। इसमें वर्णित विषयों को तीन विभागों में विभाजित किया जाता है, जैसे (१) विधि—इसमें यज्ञ करने की विधि, यज्ञवेदी बनाने का ढङ्ग और यज्ञ के लिए आवश्यक अन्य बातों का विधान किया गया है; (२) अर्थवाद—इसमें अच्छे-अच्छे उदाहरण देकर यज्ञ के महत्त्व और फल को समझाया गया है, इसके अन्तर्गत प्राचीन काल के कितने ही यज्ञ करने वाले राजाओं का वर्णन आता है, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक जीवन आदि का अच्छा दिग्दर्शन होता है; (३) उपनिषद्—इसमें यज्ञ और तत्सम्बन्धी कितनी ही बातों पर दार्शनिक ढङ्ग से विचार किया गया है। यज्ञ के कर्मकाण्ड को दार्शनिक विचार-सरणी की सहायता से प्रतीक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

तिथि-क्रम की दृष्टि से यजुर्वेद के गद्यांशों के पश्चात् पञ्चविंश व तैत्तिरीय ब्राह्मण को रखा जा सकता है। जैमिनीय, कौशीतकी व ऐतरेय ब्राह्मण उनके बहुत पश्चात् के हैं, व शतपथ ब्राह्मण तो उनके भी बहुत बाद का है। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण व सामवेद के छोटे-छोटे ब्राह्मण इन सबके पीछे के हैं। इन ब्राह्मणों के अन्त में आरण्यक जोड़ दिये गए हैं जिन्हें केवल संसार को त्यागकर वन में बसने वाले पुण्यात्मा ही पढ़ सकते थे। आरण्यकों के अन्तिम भाग में उपनिषदों का समावेश हो जाता है।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें चालीस अध्याय हैं, जिन्हें आठ पञ्चिकाओं में विभाजित किया गया है व प्रत्येक पञ्चिका में पाँच-पाँच अध्याय आते हैं। इस ब्राह्मण में एक दिन में समाप्त होने वाले अग्निष्टोम, एक वर्ष में समाप्त होने वाले गवामयन तथा बारह दिन में समाप्त होने वाले द्वादशाह आदि सोम-यागों का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् अग्निहोत्र, राज्याभिषेक आदि

का विशद विवेचन किया गया है। कौशीतकी या शाङ्खायन ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें वर्णित विषय भी ऐतरेय ब्राह्मण के विषयों से बहुत मिलते-जुलते हैं; केवल उनका रूप अधिक विस्तृत है। प्रारम्भ में अग्न्याधान, प्रातः-सायं अग्निहोत्र, व दार्श, पौर्णमास, चातुर्मास आदि यज्ञों का विवेचन किया गया है। सोमयाग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इन ब्राह्मणों में कुछ भौगोलिक सामग्री भी प्राप्त होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में बहुत-सी जातियों तथा कुरुपाञ्चाल देश का उल्लेख आता है। कौशीतकी ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता था, और वहाँ के विद्वानों को भाषा-सम्बन्धी समस्याओं में प्रमाणभूत माना जाता था। इनमें वर्णित दन्तकथाओं और कथानकों का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ कम नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में वर्णित शुनःशेपाख्यान से कितनी ही महत्त्व-पूर्ण बातें मालूम होती हैं।

अन्य वेदों के ब्राह्मणों में शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे शतपथ इसलिए कहा जाता है कि इनमें १०० अध्याय हैं। इसमें यज्ञवेदी आदि बनाने का विधान तथा विभिन्न यागों का विवेचन किया गया है। इसमें गान्धार, शाल्व, केकय, कुरुपाञ्चाल, कोशल, विदेह, सृञ्जय आदि देशों का उल्लेख भी आता है। इसमें वर्णित भौगोलिक सामग्री के सहारे कहा जा सकता है कि कुरुपाञ्चाल प्रदेश आर्य-संस्कृति का केन्द्र था। इसमें कुरुराज जनमेजय तथा पाञ्चालदेशीय विद्वान् आचार्य का उल्लेख भी आता है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य का कितनी ही बार उल्लेख आया है। अर्हन्, श्रमण, प्रतिबुद्ध आदि शब्दों तथा गौतम गोत्र के व्यक्तियों का उल्लेख बौद्ध धर्म की याद दिलाए बिना न रहेगा। सांख्य-दर्शन के आचार्य आसुरि का नाम भी उल्लिखित है। इसमें पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-गाथा का विशद और सुन्दर वर्णन है। भरत, दुष्यन्त

और शकुन्तला का भी उल्लेख आता है। इस ब्राह्मण में महा प्रलय की कथा का भी वर्णन है; जिसका उल्लेख अथर्ववेद, अवेस्ता तथा यहूदी ईसाई, मुसलमान आदि के धर्म-ग्रन्थों में भी आता है।

उपनिषदों का साहित्य—उपनिषदों में दार्शनिक विचार-सरणी को अपनाकर जीव, ब्रह्म, प्रकृति, जीवन, मरण आदि सम्बन्धी पहेलियों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। उनके समय के बारे में कहा जाता है कि सबसे प्राचीन उपनिषद् ई० पू० ६०० वर्ष के पहले के नहीं हो सकते; क्योंकि उनमें वर्णित सिद्धान्तों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में पहले ही से वर्तमान है। तिथि-क्रम के अनुसार उनके चार वर्ग किये जाते हैं। बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा कौशीतकी उपनिषद् गद्य में लिखे गए हैं तथा उनकी शैली ब्राह्मणों की शैली के समान क्लिष्ट है। अतएव उन्हें प्राचीनतम वर्ग में रखा जाता है। केनोपनिषद् पहले तथा दूसरे वर्ग के मध्य का माना जाता है; क्योंकि उसमें गद्य तथा पद्य दोनों प्रयुक्त किये गए हैं। काठक, ईशा, श्वेताश्वतर, मुण्डक तथा महा-नारायण उपनिषद् पद्यात्मक हैं तथा उनमें दार्शनिक सिद्धान्त विकास की अवस्था को पार करके स्थिर हो गए हैं तथा साहित्यिक दृष्टि से अधिक रोचक हैं। ये सब उपनिषद् दूसरे वर्ग में रखे जाते हैं। तीसरे वर्ग में प्रश्न, मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य उपनिषद् आते हैं। ये उपनिषद् गद्य में हैं, किन्तु यह गद्य साहित्यिक गद्य से बहुत-कुछ मिलता है। अथर्व-वेद के उपनिषदों का समावेश चौथे वर्ग में होता है।

ऐतरेय तथा कौशीतकी—ऐतरेय सबसे छोटा उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय हैं। जगत् आत्मा अथवा ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इस सिद्धान्त को ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर समझाया गया है। कौशीतकी उपनिषद् लम्बे-लम्बे चार अध्यायों का बना है। पहले में मृत्यु के पश्चात् जीव जिन दो मार्गों का अनुसरण करते हैं, उनका वर्णन है। दूसरे में प्राण को आत्मा का प्रतीक मानकर उसकी व्याख्या की गई है। अन्तिम दो अध्यायों में ब्रह्म का विवेचन करते हुए तन्मात्रा,

ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छी तरह से समझाया गया है। ये दोनों ऋग्वेद से सम्बन्धित हैं।

छान्दोग्य तथा केन—जिस प्रकार ऋग्वेद के उपनिषद् अपने सिद्धान्तों को 'उक्थ' के विवेचन से प्रारम्भ करते हैं, उसी प्रकार सामवेद के उपनिषदों में सर्वप्रथम सामन् की विवेचना की गई है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेद का महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें प्रत्येक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है। पहले दो अध्यायों में सामन्, उद्गीथ आदि का विवेचन किया गया है; ओ३म् तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि तीन आश्रमों का भी वर्णन है। तीसरे अध्याय में ब्रह्म को जगत् का सूर्य कहकर तथा जीव से उसकी एकता का निरूपण करके मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का सुन्दर विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में वायु, प्राण आदि को ब्रह्म से सम्बन्धित करके यह बताया गया है कि मृत्यु के पश्चात् जीव ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त होता है। पाँचवें अध्याय में पुनर्जन्म का विवेचन है, और अनेकत्वपूर्ण जगत् के मिथ्यात्व को समझाया गया है। शेष अध्यायों में आत्मा तथा ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध तथा दोनों का तादात्म्य स्थापित करने के साधन आदि का विशद विवेचन किया गया है, साथ ही 'तत्त्वमसि' के गूढ़ रहस्य को भी समझाया गया है। सामवेद का एक और उपनिषद् है, जिसे तलवकार या केन कहते हैं। इसका प्रारम्भ 'केन' (किसके द्वारा) शब्द से होता है। इसलिए इसे केन कहते हैं। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में पद्य में सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का विवेचन किया गया है। द्वितीय में गद्य रूप में वैदिक देवताओं तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इसका प्रथम भाग बाद की मिलावट प्रतीत होता है।

मैत्रायणीय, काठक, श्वेताश्वतर—कृष्ण यजुर्वेद के विभिन्न उपनिषद् बाद के मालूम होते हैं। मैत्रायणीय गद्यात्मक उपनिषद् है, जिसमें बीच-बीच में पद्यांश भी है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसमें

उपनिषदों के सिद्धान्तों तथा सांख्य तथा बौद्ध सिद्धान्तों की मिलावट को सारांश रूप से उपस्थित किया गया है। काठक तथा श्वेताश्वतर भी कृष्ण यजुर्वेद के ही उपनिषद् हैं। पहले में १२० तथा दूसरे में ११० श्लोक हैं। काठक में नचिकेता की कथा आती है तथा योग के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर में योग तथा वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

बृहदारण्यक, ईशा—बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है। यह सबसे बड़ा तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे तीन भागों में विभाजित किया गया है, और प्रत्येक भाग में दो-दो अध्याय हैं। पहले भाग में अश्वमेध यज्ञ को जगत् का प्रतीक मानकर समझाने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् आत्मा तथा ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है तथा समझाया गया है कि परमात्मा ही सर्वोपरि तथा सबका आधारभूत है। आत्मा के पुरुष, प्राण आदि रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में जिज्ञासुओं के साथ याज्ञवल्क्य का दार्शनिक वाद-विवाद वर्णित है। याज्ञवल्क्य तथा जनक की बातचीत द्वारा ब्रह्म, प्राण, मन, आत्मा आदि के पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह से समझाया गया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य तथा उनकी पत्नी मैत्रेयी की दार्शनिक बातचीत भी बहुत रोचक है। सबसे छोटा उपनिषद् ईशोपनिषद् भी शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है, तथा यही वाजसनेयी संहिता का अन्तिम अध्याय भी है। इसमें ईश की सत्ता तथा आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का सुन्दर निरूपण किया गया है।

अथर्ववेद के उपनिषद्—अथर्ववेद से कितने ही उपनिषद् सम्बन्धित किये जाते हैं; किन्तु साधारणतया उनकी संख्या सत्ताईस मानी जाती है। इनमें अधिकांश बहुत बाद के हैं, यहाँ तक कि अल्लो-पनिषद् तो मुस्लिम काल का है। ये उपनिषद् वेदों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं हैं; इनमें साम्प्रदायिकता की बू है व विभिन्न सिद्धान्तों

का समन्वय है। इन्हें वर्णित विषय के अनुसार चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। पहली श्रेणी के उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप को निरूपित किया गया है। दूसरी व तीसरी श्रेणी के उपनिषदों में योग व संन्यास का वर्णन है। अन्तिम श्रेणी के उपनिषद् पूर्णतया साम्प्रदायिक हैं। उनमें शिव, ईशान, महेश्वर, महादेव, विष्णु, नारायण, नृसिंह आदि देवताओं को आत्मा से सम्बन्धित किया गया है। उनमें मुण्डक, प्रश्न व माण्डूक्य प्राचीनतम हैं।

सूत्र साहित्य—ज्यों-ज्यों समय बीतता गया; त्यों-त्यों वैदिक साहित्य की जटिलता बढ़ती गई व उसको समझना कठिन हो गया। इसलिए धार्मिक सिद्धान्तों, विशेषकर यज्ञादि से सम्बन्धित सिद्धान्तों को नया साहित्यिक रूप दिया गया। 'गागर में सागर' के सिद्धान्तानुसार कम-से-कम शब्दों में अधिक अर्थ भर देने के विचार से सूत्र साहित्य का निर्माण किया गया। इसे 'कल्प' कहकर वेदाङ्ग साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। धर्म व कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूत्र साहित्य को तीन विभागों में विभाजित किया जाता है; जैसे श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र व धर्म सूत्र। श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्म काण्ड का वर्णन है, गृह्य सूत्रों में गृहस्थ के दैनिक यज्ञ आदि तथा धर्म सूत्रों में सामाजिक नियमों आदि का विवेचन किया गया है।

श्रौत सूत्र—ये सूत्र प्राचीनम प्रारम्भिक बौद्ध काल के हो सकते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र हैं—शाङ्खायन और आश्वलायन। पहला उत्तर गुजरात और दूसरा गोदावरी तथा कृष्णा के मध्यवर्ती प्रदेश से सम्बन्धित है। इन दोनों में आश्वलायन अधिक पुराना मालूम होता होता है। सामवेद के तीन श्रौत सूत्र प्राप्य हैं—मशक या आर्षेय कल्प, लाटायन तथा द्राह्यायण। शुक्ल यजुर्वेद से कात्यायन श्रौत सूत्र सम्बन्धित है। कृष्ण यजुर्वेद के छः श्रौत सूत्र प्राप्त हैं, जैसे आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव तथा वैखानस। इनमें पहले चार तैत्तिरीय शाखा के हैं और पाँचवाँ मैत्रायणीय संहिता का है। वैतान सूत्र अथर्व-

वेद से सम्बन्धित किये गए हैं। इन सूत्रों में श्रौत कर्मों का विधान है। श्रौत कर्मों की संख्या चौदह है—सात हविष्यज्ञ और सात सोम यज्ञ। हविष्यज्ञ में प्रातः-सायं अग्निहोत्र, दार्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य आदि यज्ञों का समावेश होता है। अग्निष्टोम, सत्र आदि सोम यज्ञ हैं। अग्नि-चयन कर्म भी सोम यज्ञ से सम्बन्धित है, जिसे समाप्त होने में एक वर्ष लग जाता था।

गृह्य सूत्र—ये सूत्र श्रौत सूत्र के पश्चात् के प्रतीत होते हैं। शाङ्खायन, शाम्बव्य, आश्वलायन आदि ऋग्वेद के गृह्य सूत्र हैं। गोभिल और खादिर सामवेद से सम्बन्धित हैं। गोभिल प्राचीनतम गृह्य सूत्र है। पारस्कर (कातीय या वाजसनेय) शुक्ल यजुर्वेद का गृह्य सूत्र है। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, मानव, काठक, वैखानस आदि कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद का कौशिक गृह्य सूत्र है। गृह्य सूत्रों में जन्म से मरण तक किये जाने वाले पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कर्मों का विधान है, जो कि आवसथ्य या वैवाहिक अग्नि में सम्पादित किये जाते थे। इनमें चालीस संस्कारों का वर्णन है, जो मानव जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जाते थे। इनमें पञ्च महायज्ञ, पाकयज्ञ, श्राद्ध आदि का भी समावेश हो जाता है।

धर्म सूत्र—धर्म सूत्रों में सामयाचारिक धर्मों का विवरण है। इनमें सामाजिक रुढ़ि, रीति-रिवाज आदि के आधार पर सामाजिक जीवन के सञ्चालन के लिए नियमों का विवेचन किया गया है। वेदशाखा से सम्बन्धित धर्म सूत्रों में केवल तीन ही प्राप्त हैं जैसे आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन। अन्य प्राप्त तथा अन्यत्र उल्लिखित धर्म सूत्र भी कदाचित् किसी-न-किसी वेद-शाखा से सम्बन्धित रहे होंगे। बूल्हर के मतानुसार आपस्तम्ब धर्म सूत्र का समय ई० पू० ४०० वर्ष के लगभग निश्चित किया जा सकता है। इसमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि के कर्तव्य निषिद्ध भोजन, शुद्धि, तप, विवाह, दाय आदि का वर्णन है। इसमें उत्तर भारत के कुछ रिवाजों की जो टिप्पणी की गई है, उससे मालूम

होता है कि इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से था। हिरण्यकेशी धर्म सूत्र का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा जाता है कि हिरण्यकेशी आपस्तम्बियों की एक शाखा थी जो कोंकण में पहुँची थी। हिरण्यकेशी धर्म सूत्र ई० स० ४०० के पहले का होना चाहिए; क्योंकि उस समय के एक शिलालेख में एक हिरण्यकेशी ब्राह्मण का उल्लेख है। बौधायन धर्म-सूत्र भी दक्षिण भारत से सम्बन्धित मालूम होता है, व आपस्तम्ब धर्म सूत्र से पहले का है। इसमें वर्णाश्रम धर्म, वर्णसंकर, विभिन्न यज्ञ, तप, शुभ संस्कार, राजा के कर्तव्य, न्यायालयादि के व्यवहार, स्त्रियों के स्थान आदि का वर्णन आता है। गौतम धर्मशास्त्र भी सूत्र-ग्रन्थ ही माना जाना चाहिए, क्योंकि इसमें सूत्र भाषा ही प्रयुक्त की गई है। यह ई० पू० ४०० वर्ष के लगभग का माना जाता है। इसी प्रकार वशिष्ठ-धर्म-शास्त्र भी एक सूत्र-ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें भी सूत्र ही हैं और कहीं-कहीं त्रिष्टुप् छन्द भी हैं। यह मनुस्मृति से भी सम्बन्धित है। मनुस्मृति में इसका एक श्लोक भी आता है। यह गौतम के पश्चात और मनु के पहले रखा जाता है। वशिष्ठ धर्मशास्त्र में मानव धर्म सूत्र भी उल्लिखित है। ईसा की तीसरी शताब्दी का वैखानस सूत्र भी इन सबकी श्रेणी में रखा जाता है।

वेदाङ्ग साहित्य—बहुत समय के पश्चात् जब वैदिक साहित्य की भाषा जटिल होने लगी तब उसको समझने में सहायता देने के लिए नया सूत्र-साहित्य तैयार किया गया, जिसे वेदाङ्ग कहा गया। वेदाङ्ग छः हैं, जैसे शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष। प्रथम चार वेदाङ्ग वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और शुद्ध अर्थ को समझने के लिए, व अन्तिम दो वेदाङ्ग कर्मकाण्ड व धार्मिक कृत्य तथा एतदर्थ उपयुक्त समय सूचित करने के लिए बनाये गए थे।

शिक्षा—इसका सम्बन्ध शब्द-शास्त्र से है। इसमें वर्ण और उनके उच्चारण आदि सम्बन्धी नियम दिये गए हैं। आज 'शिक्षा' नाम से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु वे बाद के हैं। इस सम्बन्ध का सर्व-

प्रथम प्रयास वेद के संहिता-पाठ में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ कि सन्धि के नियमों का उपयोग किया गया है। इस वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य साहित्य को दिया जा सकता है जिसका संहिता और पद-पाठ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह साहित्य पाणिनि के बाद का मालूम होता है, किन्तु उसने भी कदाचित् इसके प्राचीन रूप से लाभ उठाया हो। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी और तैत्तिरीय संहिता के प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं।

छन्द—ब्राह्मण-साहित्य में यत्र-तत्र छन्द-शास्त्र को उल्लिखित किया गया है; किन्तु शाङ्खायन श्रौत सूत्र (७।२७), ऋग्वेद प्रातिशाख्य (अन्तिम तीन पटल) तथा सामवेद से सम्बन्धित निदान-सूत्र में इस शास्त्र का स्पष्ट और व्यवस्थित वर्णन किया गया है। पिङ्गल के छन्द सूत्रों के एक भाग में भी वैदिक छन्दों का वर्णन आता है। पिङ्गल का सूत्र-ग्रन्थ वेदाङ्ग कहाने का दावा करता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग वेदों के पश्चात् के छन्दों से सम्बन्धित है।

व्याकरण—वैदिक पद-पाठ के आलोचनात्मक अध्ययन से व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान के विकास का पता लगता है। उच्चारण और सन्धि के नियम, नाम, सर्वनाम, आख्यान, उपसर्ग, निपात आदि सम्बन्धी ज्ञान से तत्कालीन व्याकरण शास्त्र के स्वरूप का बोध होता है। ब्राह्मण साहित्य में भी 'वर्ण', 'वृषन्', 'वचन', 'विभक्ति' आदि व्याकरण के पारिभाषिक नामों का उल्लेख आता है। आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदि में ऐसे कितने ही शब्द पाये जाते हैं। व्याकरणों में पाणिनि का स्थान सबसे ऊँचा और महत्त्व का है। उसकी अष्टाध्यायी में 'वैदिकी प्रक्रिया' का अध्याय भी सम्मिलित किया गया है। यों तो पाणिनि को संस्कृत का सर्वप्रथम और सबसे बड़ा व्याकरण माना जाता है, किन्तु उसके पहले भी कितने ही बड़े-बड़े व्याकरण थे, जिन्हें यास्क के निरुक्त और अष्टाध्यायी में उल्लिखित किया गया है। उनमें

से कुछ के नाम ये हैं—शाकटायन, गार्ग्य, शाकल्य, तथा स्फोटायन आदि।

निरुक्त—यास्क-कृत निरुक्त यथार्थ में वेदों का भाष्य है। उसका आधार वैदिक शब्दकोष निघण्टु है। यास्क ने अपने बारह अध्याय के निरुक्त में निघण्टु के वैदिक शब्दों को अच्छी तरह से समझाया है, व वेद-मन्त्रों को उदाहरण रूप से उल्लिखित करके उनके अर्थ को निरुक्त की दृष्टि से समझाया है।

ज्योतिष—लगध-कृत छोटे-से ज्योतिष-ग्रन्थ को ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी वेदाङ्ग का श्रेय दिया जाता है। यह ग्रन्थ ज्योतिष की प्रारम्भिक अविकसित अवस्था का सूचक है। किन्तु वैदिक काल में एवं उसके पश्चात् भी ज्योतिष का विकास किया गया था। यज्ञ के समय के लिए उसकी उपयोगिता थी।

कल्प—इसके बारे में पहले ही लिख दिया गया है। श्रौतादि सूत्रों को ही कल्प कहते हैं।

वेदानुक्रमणी—वेदों से सम्बन्धित एक और साहित्य है,' जिसे 'अनुक्रमणी' कहते हैं। इन अनुक्रमणियों में वेद-मन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता आदि की सूचियाँ दी हैं। शौनक-कृत सात अनुक्रमणियाँ ऋग्वेद से सम्बन्धित हैं, जो कि श्लोक और त्रिष्टुप् में बनाई गई हैं। आर्षानुक्रमणी में ३०० श्लोकों में ऋग्वेद के ऋषियों की सूची दी है। छन्दोनुक्रमणी में ३०० श्लोकों में ऋग्वेद के छन्दों की सूची दी गई है। अनुवाकानुक्रमणी में ४० श्लोकों में ऋग्वेद के ८५ अनुवाकों में प्रत्येक के प्रारम्भिक शब्दों और प्रत्येक अनुवाक के सूक्तों की संख्या का ब्यौरा आता है। इसमें यह भी बताया गया है कि ऋग्वेद में १०१७ सूक्त, १०५८० $\frac{१}{२}$ मन्त्र और १५३८२६ शब्द हैं। पादानुक्रमणी में मन्त्रों के पाद का ब्यौरा है। सूक्तानुक्रमणी और देवतानुक्रमणी के अन्य स्थानों पर उल्लिखित किये जाने से उनके भी अस्तित्व का पता लगता है। १२०० श्लोक वाले बृहद्देवता ग्रन्थ में ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के देवता

का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उसमें कितनी ही दन्तकथाएँ और कथानक एकत्रित किये गए हैं। इन सब अनुक्रमणियों को कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी में सारांश रूप से वर्णित किया गया है। सामवेद की 'आर्ष' और 'दैवत' नामी दो अनुक्रमणियाँ हैं, जिनमें नैगेय शाखा के सामवेद के ऋषि और देवताओं का ब्यौरा है। कृष्ण यजुर्वेद की दो और शुक्ल यजुर्वेद की एक अनुक्रमणी प्राप्य है।

(२)

रामायण तथा महाभारत आदि

रामायण—भारत के साहित्यिक इतिहास का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे संस्कृत का 'आदि काव्य' और इसके लेखक वाल्मीकि को 'आदि कवि' कहा गया है। पश्चात् के संस्कृत कवियों ने इसी ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त करके कितनी ही काव्यमय रचनाएँ कीं। धार्मिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। यह ग्रन्थ नौ काण्डों में विभाजित है, तथा इसमें २४००० श्लोक हैं। प्रो० जेकोबी का कहना है कि इसका मौलिक रूप केवल पाँच काण्डों (२-६) का ही था; क्योंकि प्रथम काण्ड में कही गई कितनी बातों का खण्डन पश्चात् के काण्डों में है। इसके अतिरिक्त दो विषय-सूचियाँ हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि इस ग्रन्थ में बाद में मिलावट की गई है। इसमें वर्णित घटना-चक्र कोसल के इक्ष्वाकु-वंश से सम्बन्धित है।

रामायण के रचना-काल के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मत उपस्थित किये हैं। किन्तु इस बात में सबका प्रायः एकमत ही है कि इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० पू० छठी शताब्दी के अधिक पहले का नहीं हो सकता। प्रो० बेबर महाभारत व यूनान देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचना-काल मानते हैं। प्रो० जेकोबी ई० पू० छठी शताब्दी में रामायण की रचना मानते हैं। मेकडॉनेल के मतानुसार रामायण का मौलिक रूप ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग बना और बाद की मिलावट ई० पू० २०० वर्ष के पश्चात् हुई। डॉ० भाण्डारकर रामायण की रचना

पाणिनि के बाद मानते हैं। श्री चिन्तामणि वैद्य वर्तमान रामायण का रचना-काल भारत और महाभारत दोनों के बाद ई० पू० २०० वर्ष के पूर्व मानते हैं। कीथ रामायण का रचना-काल ई० पू० चौथी शताब्दी मानते हैं। रामायण का कथानक बौद्ध साहित्य के दशरथ-जातक में वर्णित है। रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक ही बार आया है, और वह भी ऐसे प्रकरण में जो कि बाद में मिलाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण का रचना-काल बौद्ध-काल के पहले होना चाहिए। रामायण में यवनों का उल्लेख दो बार आया है, जो कि प्रो० जेकोबी के मत में बाद की मिलावट है। इस प्रकार प्रो० बेबर का मन्तव्य कि रामायण के कथानक पर यूनान का प्रभाव है, निराधार सिद्ध हो जाता है। रामायण में राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है, उससे भी रचना-काल-निर्णय में सहायता मिलती है। रामायण में पाटलीपुत्र का कोई उल्लेख नहीं है, जो कि ई० पू० चौथी शताब्दी में बसाया गया था और उस शताब्दी के अन्त में मौर्य साम्राज्य की राजधानी था। बालकाण्ड के पैंतीसवें अध्याय में राम का उसी स्थान से जाना वर्णित है, जहाँ पर यह नगर बसा था। इस अवसर पर पूर्वी भारत के कितने ही नगरों का उल्लेख किया गया है। यदि पाटलीपुत्र का अस्तित्व होता, तो उसका उल्लेख भी अवश्य किया जाता। मूल रामायण में अयोध्या को कोसल देश की राजधानी बताया गया है; किन्तु बौद्ध, जैनी, यूनानी, पतञ्जलि आदि साकेत को कोसल की राजधानी बताते हैं। रामायण के अन्तिम काण्ड में कहा गया है कि लव ने श्रावस्ती में अपनी राजधानी रखी, जिसका उल्लेख रामायण के प्राचीन भाग में नहीं है और बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि गौतम बुद्ध का समकालीन कोसल-नरेश श्रावस्ती में राज्य करता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल रामायण का रचना-काल तब हो सकता है, जब कि अयोध्या कोसल का मुख्य नगर था तथा श्रावस्ती कोसल की राजधानी नहीं बनी थी। बालकाण्ड में मिथिला और विशाला विभिन्न

राजाओं द्वारा शासित अलग-अलग नगर के रूप में उल्लिखित किये गए हैं; किन्तु गौतम बुद्ध के समय में वैशाली के रूप में दोनों नगर एक हो गए थे।

काव्य की दृष्टि से भी रामायण एक उत्तम ग्रन्थ है। उसमें कितने ही स्थलों पर लेखक की कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इसमें कितने ही अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में उपमा व रूपक विशेष उल्लेखनीय हैं। रामायण की वर्णन-शैली भी काव्यमय है। वाल्मीकि ने विभिन्न रसों के सुन्दर उपयोग में अच्छा कौशल दिखाया है। रामायण में ही महाकाव्य-शैली के दर्शन होते हैं। रामायण के मुख्य कथानक से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। दशरथ, राम, भरत तथा सीता आदि क्रमशः पुत्र-प्रेम, पितृ प्रेम, भ्रातृ-प्रेम व पति-प्रेम के आदर्श माने जाते हैं। इस मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में दन्तकथाएँ भी हैं, जैसे रावण की ब्रह्मा से वर-प्राप्ति, विष्णु का राम के रूप में अवतार, गङ्गावतरण, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध, श्लोक की उत्पत्ति-सम्बन्धी कथा आदि। इन कथाओं के कारण भी रामायण की लोकप्रियता बढ़ गई है।

महाभारत—महाभारत का मुख्य उद्देश्य भरत-वंशजों के आपसी युद्ध का वर्णन करना है। कौरवों व पाण्डवों के अठारह दिन के युद्ध का वर्णन लगभग २०,००० श्लोकों में किया गया है। इस वर्णन के बीच में देवता, राजा, ऋषि आदि-सम्बन्धी कथाएँ तथा सृष्टयुत्पत्ति, दर्शन, धर्म, वर्णाश्रम आदि का वर्णन भी जोड़ दिया गया है; कहीं-कहीं भगवद्गीता के समान स्वतन्त्र रचनाएँ भी जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार महाभारत को धर्मशास्त्र, स्मृति, कार्ष्णवेद आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इतनी सब मिलावट होने पर भी उसकी मौलिक कथा की ऐतिहासिकता पर किसी को शङ्का नहीं हो सकती। महाभारत का ऐतिहासिक घटना-चक्र कम-से-कम ई० पू० १० वीं शताब्दी का या उसके पहले का होना चाहिए। महाभारत के रचना-

काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु वर्णित विषय के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे मेकडॉनेल प्रभृति विद्वानों ने यह मत स्थिर किया है कि महाभारत का मौलिक रूप ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग का होना चाहिए। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भारत व महाभारत का उल्लेख आता है। इससे भी ई० पू० पाँचवीं शताब्दी का समय निश्चित होता है। यह महाभारत के विकास की पहली अवस्था थी। विकास की दूसरी अवस्था में महाभारत में लगभग २०,००० श्लोक हो गए, जब कि शिव व विष्णु का माहात्म्य बहुत बढ़ गया था। मेगास्थनीज के भारत-वर्णन से मालूम होता है कि ई० पू० ३०० वर्ष के लगभग उत्तर भारत में शिव और विष्णु की भक्ति का बहुत जोर था। इसके अतिरिक्त यवन, शक, पमाव आदि जातियों का उल्लेख भी महाभारत में आता है। उसमें मन्दिर बौद्ध स्तूप आदि का भी उल्लेख है। इस प्रकार ई० पू० ३०० वर्ष के पश्चात् व ईस्वी सन् के आरम्भ में महाभारत का स्वरूप बढ़ा होगा। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के ताम्र-पत्रों के सहारे यह कहा जा सकता है कि उस समय महाभारत ने स्मृति या धर्म-शास्त्र का स्वरूप धारण कर लिया था। ई० स० ३५० तक महाभारत को यह रूप मिल गया होगा। प्रो० हॉल्जमेन के मतानुसार ईसा की नवीं शताब्दी के पश्चात् महाभारत ने यह रूप धारण किया। ईस्वी सन् ६००-११०० वर्ष के संस्कृत-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महाभारत ने उस समय अपना आधुनिक रूप धारण कर लिया था; उसमें हरिवंश गीता आदि का समावेश हो चुका था। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने महाभारत को भारत-मञ्जरी नाम से सारांश रूप में प्रकट किया। इसी प्रकार ईसा की ग्यारहवीं सदी में महाभारत का जावा की भाषा में किया गया अनुवाद प्राप्त है।

महाभारत की मुख्य कथा का उद्देश्य कौरव व पाण्डवों के अठारह

दिन के युद्ध का वर्णन करना है। परीक्षित राजा के सर्प-दंश से मर जाने पर उसका पुत्र सर्पों के लिए एक बड़ा यज्ञ करवाता है। उस अवसर पर वैशम्पायन यह कथा सुनाते हैं। वैशम्पायन ने यह कथा व्यास जी से सुनी थी। उन्हीं व्यास ने वेदों तथा पुराणों को व्यवस्थित किया था। महाभारत में मुख्य कथा के अतिरिक्त कितने ही आख्यान जोड़ दिये गए हैं, जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं—शकुन्तलाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गङ्गावतरण, ऋष्य-शृङ्गकथा, राजा शिवि व उसके पुत्र उशीनर वृषदर्भ आदि की कथा, काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा द्रौपदी के भगाये जाने की कथा, अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा, सावित्री की कथा, नलोपाख्यान इत्यादि। इसके अतिरिक्त महाभारत में १६००० श्लोकों में कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र भी जोड़ दिया गया है, जिसे हरिवंश कहते हैं। इस प्रकार महाभारत लगभग विश्व-कोष ही बन गया है।

पुराण—पौराणिक साहित्य भी बहुत प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद में पुराण, पुराणविद् आदि शब्दों का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण व छान्दोग्योपनिषद् आदि में भी पुराण शब्द उल्लिखित है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में पुराण एक ही था; धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उसकी लोकप्रियता बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसमें अन्य विषय भी जोड़े गए। इस प्रकार पौराणिक साहित्य ने आधुनिक बृहत् रूप धारण क लिया। वर्तमान पुराणों के आलोचनात्मक परीक्षण से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस साहित्य के विकास की चार अवस्थाएँ थीं। पहली अवस्था को 'वंश-आख्यान अवस्था' कह सकते हैं। प्राचीन राजाओं की वंशावलियाँ व उनके आख्यान समाज में अत्यन्त ही प्राचीन काल से प्रचलित थे। अथर्ववेद आदि में उल्लिखित 'पुराण' शब्द से इन्हीं आख्यानों का तात्पर्य होगा। कुछ काल पश्चात् आख्यानों को व्यवस्थित स्वरूप दिया गया व उन्हें 'इतिहास-पुराण' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा, जिसका उल्लेख ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में मिलता

है। इस साहित्य के विकास की यही दूसरी अवस्था है। भारत-युद्ध का समय इसी में आ जाता है, व 'भविष्य'-वर्णन का प्रारम्भ भी इसी से होता है। व्यास ने भारत-युद्ध के पश्चात् भारतीय संस्कृति की रक्षार्थ सब प्राप्य साहित्य को अन्तिम रूप दिया। वे पुराणों के भी कर्ता माने जाते हैं। इसीलिए महाभारत के पश्चात् की घटनाएँ व्यास के नाम से भविष्य काल के उपयोग की सहायता से पुराणों में मिला दी गईं। समय की गति से यह 'भविष्य घटना-चक्र' इतना बढ़ गया कि उसे 'भविष्यत् पुराण' के रूप में अलग करना पड़ा, जिसका सर्व प्रथम उल्लेख आपस्तम्ब धर्म सूत्र में आता है। इस प्रकार एक के दो पुराण हुए। इसी समय पौराणिक साहित्य के विकास की तीसरी अवस्था का भी प्रारम्भ होता है, जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवतोत्पत्ति, धर्मशास्त्र आदि सम्बन्धी बातें भी मिला दी गईं व 'पञ्च लक्षण' का सिद्धान्त विकसित किया गया। इसके अनुसार पुराण में सर्ग, प्रति-सर्ग, वंश, मन्वन्तर व वंशानुचरित का वर्णन आवश्यकीय हो गया। गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र, अर्थशास्त्र, महाभारत आदि में पुराण का जो उल्लेख आता है, उससे इसी अवस्था का बोध होता है। इस अवस्था को पंचलक्षण अवस्था कहा जा सकता है। इसके पश्चात् साम्प्रदायिक अवस्था का प्रारम्भ होता है, जब कि पुराणों में बहुत सी साम्प्रदायिक सामग्री मिलाई जाने लगी, व पुराणों की संख्या भी बढ़ते-बढ़ते अठारह तक पहुँची।

पुराणों के रचना-काल का निर्णय करना भी एक विवादास्पद विषय है; क्योंकि उनमें विभिन्न ऐतिहासिक कालों की सामग्री मिश्रित है। विल्सन आदि महानुभावों ने पुराणों के ऊपरी साम्प्रदायिक पुट को देखकर कह दिया कि पुराण ईसा के हजार-बारह सौ वर्ष बाद के होने चाहिएँ। पार्जिटर के समान विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे वायु पुराण को प्राचीनतम मानकर उसे ई० पू० तीसरी शताब्दी का बताया है। मत्स्यपुराण ई० स० २०० के लगभग

का माना जाता है, तथा विष्णु, मार्कण्डेय आदि पुराण गुप्त काल के माने जाते हैं। भागवत पुराण को ईसा की सातवीं शताब्दी का बताया जाता है। किन्तु अभी भी इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। लगभग सब पुराणों में अलग-अलग समय में कितनी हो मिलावट की गई है यहाँ तक कि अध्याय के बीच में भी बहुत सी बातें जोड़ दी गई हैं। ऐसी अवस्था में विभिन्न पुराणों का रचना-काल निश्चित करना असम्भव है। किन्तु पौराणिक साहित्य के विकास की चार अवस्थाओं के काल-निर्णय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ कहा जा सकता है। उन चार अवस्थाओं का तिथि क्रम इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है—(१) वंशाख्यान (ई० पू० १२००—ई० पू० १०००)—इसमें राजाओं तथा ऋषियों की वंशावलियाँ, राजाओं के आख्यान आदि का समावेश होता है; (२) इतिहास, पुराण या द्वैधीकरण (ई० पू० १०००-ई० पू० ६००)—इसके अन्तर्गत महा पुराणों के 'भविष्य-वर्णन' का समावेश हो सकता है, तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि काल में इसी अवस्था का पौराणिक साहित्य वर्तमान था; (३) पञ्च लक्षण (ई० पू० ६०० ई० स० १००)—सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध, दार्शनिक सिद्धान्त आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है; (४) साम्प्रदायिक (ई० स० १०० ई० स० ७००)—शिव, विष्णु आदि की भक्ति, तीर्थ-माहात्म्य आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है।

वर्तमान पुराणों की संख्या अठारह है। इन्हें 'महा पुराण' कहा जाता है व तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है; जैसे ब्राह्म, वैष्णव और शैव। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन तथा ब्रह्म ब्राह्म हैं। विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म, तथा वराह वैष्णव हैं। मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, वायु, स्कन्द तथा अग्नि शैव हैं। सारांश में, इन अठारह पुराणों में वर्णित विषयों का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) ब्रह्म पुराण—इसके प्रारम्भिक अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक के सूर्य व चन्द्र-वंश का वर्णन है। इसके पश्चात्

सारांश रूप में विश्व का वर्णन आता है। इसमें उड़ीसा तथा वहाँ के पवित्र मन्दिरों का वर्णन भी किया गया है। इसके पश्चात् कृष्ण का जीवन चरित है, जो शब्दशः विष्णु पुराण से लिया गया है। अन्त में योग का वर्णन है।

(२) पद्म पुराण—स्कन्द के अतिरिक्त यह सबसे बड़ा पुराण है। इसके पाँच खण्ड हैं—सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल व उत्तर। सृष्टि-खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ऋषियों और राजाओं की वंशावलियाँ हैं; अजमेर के पुष्कर सरोवर के पावित्र्य का वर्णन भी आता है। भूमि-खण्ड में तीर्थ-स्थान व उनके पावित्र्य से सम्बन्धित कथाएँ वर्णित हैं और भूमि का वर्णन भी आता है। स्वर्ग-खण्ड में विष्णु के निवास वैकुण्ठ तथा वर्णाश्रम धर्म का वर्णन है। पाताल-खण्ड में नागलोक वर्णित है। शेषनाग राम तथा कृष्ण की कथा कहता है। उत्तर-खण्ड में विष्णु-भक्ति, अवतार आदि का वर्णन है।

(३) विष्णु पुराण—इसके छः खण्ड हैं। पहले में विष्णु और लक्ष्मी की उत्पत्ति है, और ध्रुव, प्रह्लाद आदि की कथाएँ हैं। दूसरे में भूमि, उसके सात द्वीप व सात समुद्रों का वर्णन है। इसमें भारतवर्ष, ग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि का वर्णन भी आता है। तीसरे खण्ड में चार वेद, अठारह पुराण, वर्णाश्रम-धर्म, संस्कार, श्राद्ध आदि का वर्णन है; बौद्धों तथा जैनियों पर भी टीका की गई है। चौथे खण्ड में सूर्य और चन्द्र वंश के राजाओं का वर्णन है। पाँचवें खण्ड में कृष्ण का जीवन-चरित है। छठे खण्ड में विष्णु-भक्ति योग, मोक्ष आदि का वर्णन है।

(४) वायु पुराण—इसे 'शिव' या 'शैव' भी कहा गया है। इसके चार खण्ड हैं, जिन्हें 'पाद' कहा गया है। पहले में सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन है। दूसरे में विभिन्न कल्प, ऋषि-वंशावली, विश्व, मन्वन्तर, शिव-स्तुति आदि वर्णित हैं। चन्द्र आदि वंशों का वर्णन है। चौथे में योग का फल और शिव का गुण-गान है।

(५) भागवत पुराण—इसमें बारह स्कन्ध हैं। पहले दो स्कन्धों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है और यह बताया गया है कि वासुदेव सृष्टि-रचना किस प्रकार करते हैं; यह जगत् निरी माया है, वासुदेव की भक्ति सब वर्णों के लोग यहाँ तक कि म्लेच्छ भी कर सकते हैं। तीसरे स्कन्ध में ब्रह्मा की उत्पत्ति, वराह अवतार आदि का वर्णन है तथा विष्णु द्वारा सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल का अवतार धारण किए जाने का वर्णन है। चौथे और पाँचवें स्कन्ध में ध्रुव, वेन, पृथु, भरत आदि के आख्यानों का वर्णन है। छठे स्कन्ध में विष्णु-भक्ति का माहात्म्य समझाने वाली कितनी ही कथाएँ वर्णित हैं। सातवें स्कन्ध में प्रह्लाद की कथा वर्णित है। आठवें स्कन्ध में ऐसी और भी कथाएँ वर्णित हैं। नवम स्कन्ध में सूर्य और चन्द्र-वंश का वर्णन है। दशम में केवल कृष्ण-चरित ही वर्णित है। ग्यारहवें स्कन्ध में यादवों का नाश तथा कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है। बारहवें स्कन्ध में बाद के राजाओं का वर्णन है।

(६) नारद पुराण—इसमें विष्णु-भक्ति तथा हरि-भक्ति का उपदेश देने वाले आख्यानों का वर्णन है।

(७) मार्कण्डेय पुराण—इसमें बहुत सी दन्तकथाएँ वर्णित हैं, जैसे वृत्र-वध, बलदेव का तप, हरिश्चन्द्र का आख्यान, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र का युद्ध इत्यादि। इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति और मन्वन्तरों का वर्णन है। आगामी मन्वन्तर के वर्णन में दुर्गा की स्तुति भी वर्णित है, जिसको 'चण्डी-पाठ' कहते हैं।

(८) अग्नि पुराण—प्रारम्भ में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके पश्चात् धार्मिक कृत्यों तथा शिव-भक्ति आदि का वर्णन है। इसी के बीच में पृथ्वी और विश्व का वर्णन भी आता है। इसके पश्चात् राज-धर्म युद्ध-नीति, वेद-पुराण आदि वर्णित हैं। राज-वंशों का वर्णन बहुत कम है। अन्त में आयुर्वेद, अलङ्कार शास्त्र, छन्द शास्त्र, व्याकरण आदि का विवेचन किया गया है।

(६) भविष्य पुराण—इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म और यज्ञादि का वर्णन है। इसके पश्चात् कृष्ण, साम्ब, वशिष्ठ, नारद, व्यास आदि की बातचीत द्वारा सूर्य की शक्ति और प्रभुत्व का वर्णन किया गया है।

(१०) ब्रह्म वैवर्त पुराण—इसके चार विभाग हैं, जिनमें क्रमशः ब्रह्मा, देवी, गणेश और कृष्ण के चरित चित्रित हैं। कृष्ण-भक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। वृन्दावन, कृष्ण-स्तुति, तथा राधा और गोपियों की प्रेम-क्रीड़ा आदि का खूब वर्णन किया गया है।

(११) लिङ्ग पुराण—प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है और शिव को जगत् का कर्ता माना गया है। सृष्ट्युत्पत्तिके समय महान् अग्निमय लिङ्ग प्रकट होता है, जिसमे ब्रह्मा और विष्णु के गर्व का भङ्ग हो जाता है। इसी लिङ्ग से वेदादि का प्रादुर्भाव होता है। इसके पश्चात् शिव के २८ अवतारों का वर्णन है, तथा विश्व का और कृष्ण के समय तक के राजवंशों का भी वर्णन है। इसमें कथा, धार्मिक कृत्य, शिव-स्तुति आदि भी वर्णित हैं।

(१२) वराह पुराण—इसमें विष्णु की भक्ति, प्रार्थना आदि का विस्तृत वर्णन है, बीच-बीच में आख्यानों को भी मिला दिया गया है। इसके पश्चात् तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-स्थान आदि का विशद वर्णन है।

(१३) स्कन्द पुराण—यह सबसे बड़ा पुराण है। काशी-खण्ड में बनारस के शिव मन्दिरों का विस्तृत वर्णन है, जिसके अन्तर्गत शिव-पूजा-विधि, आख्यान आदि भी आ जाते हैं। उत्कल-खण्ड में उड़ीसा और जगन्नाथ के पावित्र्य का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में कितनी ही संहिताएँ और कितने ही माहात्म्य हैं।

(१४) वामन पुराण—इसमें विष्णु के वामन-अवतार का वर्णन है। लिङ्ग-पूजा, तीर्थ-माहात्म्य आदि का भी वर्णन है। इसमें दक्ष का यज्ञ, कामदेव का भस्मीकरण, शिव और उमा का विवाह, कार्तिकेय का जन्म आदि भी वर्णित हैं।

(१५) कूर्म पुराण—यद्यपि इसका नाम विष्णु के कूर्मावतार पर से रखा गया है, फिर भी इसका अधिकांश भाग शिव और दुर्गा की भक्ति से सम्बन्धित है। पहले खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य और चन्द्रवंश, सृष्टि, मन्वन्तर आदि का वर्णन है। इसके साथ-साथ शिव-भक्ति का प्रतिपादन करने वाली कहानियाँ भी वर्णित हैं। दूसरे खण्ड में ध्यान, वैदिक कर्मकाण्ड आदि द्वारा शिव-प्राप्ति का वर्णन है।

(१६) मत्स्य पुराण—विष्णु के मत्स्यावतार से इसका प्रारम्भ होता है। महा-प्रलय के समय मत्स्यरूप में विष्णु मनु की रक्षा करता है और उसके प्रश्नों का उत्तर देता है। इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति, राजवंश, वर्णाश्रम धर्म आदि का वर्णन आता है। फिर शिव-उमा-विवाह, कार्तिकेय-जन्म तथा विष्णु-सम्बन्धी कथाएँ वर्णित हैं। नर्मदादि का माहात्म्य, धर्म और नीति, मूर्ति-निर्माण-कला, भविष्य के राजा, दान आदि का वर्णन है।

(१७) गरुड़ पुराण—इसमें सृष्ट्युत्पत्ति का सारांश में वर्णन है। व्रत, पर्व, तान्त्रिक स्तुति, फलित ज्योतिष, सामुद्रिक, आयुर्वेद आदि मुख्यतः वर्णित हैं। अन्तिम भाग में दाह-संस्कार, श्राद्ध आदि का वर्णन है।

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण—इसे वायु पुराण का ही थोड़ा परिवर्तित रूप माना जाता है। इसमें सृष्टि-उत्पत्ति तथा राजवंश आदि का वर्णन है। यों तो यह शैव पुराण है; किन्तु इसमें परशुराम आदि सम्बन्धी कितने ही आख्यान हैं, जो वायु पुराण में नहीं पाये जाते।

धर्म-शास्त्र—धर्म-शास्त्र के साहित्य को विकास और तिथि-क्रम की दृष्टि से तीन विभागों में बाँटा जा सकता है, जैसे धर्म-सूत्र, श्लोकबद्ध स्मृतियाँ, निबन्धकारों का साहित्य।

धर्मसूत्रों के विषय में सूत्र-साहित्य के प्रकरण में लिख दिया गया है, फिर भी यहाँ थोड़ा उल्लेख अनुचित नहीं होगा। इन सूत्रों को धर्म-

शास्त्र कहा गया है। गौतमीय धर्म-शास्त्र सबसे प्राचीन धर्म-सूत्रों में से है और सामवेद की राणायनीय शाखा का मालूम होता है। इसमें बाद की मिलावट भी है। तीस अध्यायों का हारीतष् धर्मशास्त्र भी प्राचीन धर्म-सूत्रों में से है। वशिष्ठ धर्म-शास्त्र में ये दोनों उल्लिखित हैं। इसमें भी मिलावट की गई है। मनु, यम, प्रजापति आदि का प्रमाण रूप से उल्लेख है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार यह ऋग्वेद की लुप्त वाशिष्ठ शाखा से सम्बन्धित है। बौधायन धर्म-शास्त्र और आपस्तम्बीय धर्म-सूत्र कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के सूत्रों से सम्बन्धित हैं। पहले में मिलावट है, दूसरे में नहीं है। इन धर्मसूत्रों का समय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक का बताया जाता है। वैष्णव धर्मशास्त्र में बहुत-सी मिलावट की गई है; क्योंकि इसमें विष्णु और पृथ्वी की बातचीत के रूप में सब वर्णन किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा के धर्म सूत्र से इसको सम्बन्धित किया जाता है, जिस प्रकार कि गद्य और श्लोकबद्ध हारीत धर्मशास्त्र को मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित किया जाता है। वैष्णव धर्म-शास्त्र में यूनानी ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख आता है। इसलिए यह ईसा की तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। वैखानस धर्म-शास्त्र तीन अध्यायों में वर्णाश्रम धर्म का वर्णन करता है, विशेषकर वानप्रस्थ का। कोई-कोई विद्वान् इसे बहुत बाद का मानते हैं। इसके अतिरिक्त पैठीनसी (अथर्ववेद), शाङ्ख-लिखित (शुक्ल यजुर्वेद), उशनस, काश्यप, बृहस्पति आदि धर्मसूत्र भी हैं, जिनकी प्राचीनता के बारे में शङ्का की जाती है।

स्मृतियों में धर्मशास्त्र साहित्य अधिक विकसित रूप में मिलता है। स्मृतियों की भाषा श्लोकबद्ध है और उनका क्षेत्र भी अधिक विकसित है। इनमें वर्णित नियमों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से है। राजधर्म, जो कि धर्मसूत्रों में नहीं पाया जाता, अधिक विस्तार के साथ वर्णित है; साथ ही दीवानी और फौजदारी कानून भी समाविष्ट हैं।

महाभारत की भाषा आदि से प्रभावित होकर स्मृतिकारों ने श्लोकों को अपनाया और समाज की प्रचलित रूढ़ियां, रीति-रिवाज आदि को अपने ग्रन्थों में स्थान देकर उन्हें धर्म-प्रामाण्य में सम्मिलित किया। इन लेखकों ने अपने ग्रन्थों को प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बन्धित किया, जिससे उनकी प्रामाणिकता और पवित्रता पर शङ्का न की जा सके।

मनुस्मृति सबसे प्राचीन मानी जाती है। मनु का उल्लेख तो वेद, ब्राह्मण, गृह्यादि सूत्र, महाभारत आदि में आता है। तैत्तिरीय संहिता (२।२।१०।२) में लिखा है कि जो-कुछ मनु ने कहा है वह भेषज है। शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।७) में महापूर के उल्लेख में मनु का वर्णन आता है। यास्क (३।४) ने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मनु को उद्धृत किया गया है, किन्तु यह उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति में से नहीं है। महाभारत के परीक्षण से मालूम होता है कि उसमें लगभग २६० श्लोक मनुस्मृति से मिलते-जुलते हैं। उसमें कहीं-कहीं मनु और मनुस्मृति का उल्लेख भी आता है। इस प्रकार मनुस्मृति के निर्माण-काल के बारे में कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का आधार कदाचित् कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बन्धित मानव धर्म-सूत्र हो। वर्तमान मनुस्मृति और मानव गृह्य-सूत्र में कुछ समानता है। महाभारत की समानता से तथा यवन, शक, काम्बोज, पह्लव आदि विदेशियों के उल्लेख के कारण यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति ई० पू० २०० वर्ष पहले की नहीं हो सकती और अन्य स्मृतियों से अधिक प्राचीन होने के कारण ई० स० २०० के बाद की भी नहीं हो सकती। इसलिए इसका निर्माण-काल, जैसा कि बूह्लर का मत है, ई० पू० २००—ई० स० २०० वर्ष के बीच में कहीं होना चाहिए।

मनुस्मृति में लिखा है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने उसकी रचना की और उसने यह स्मृति मनु को सुनाई। मनु ने भृगु को सुनाई और भृगु ने इस स्मृति को मानव समाज के सम्मुख रखा। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में वेदान्त, सांख्य आदि के सिद्धान्तों के सहारे पौरा-

णिक ढङ्ग पर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है; सांख्य के ती
गुणों पर विशेष जोर दिया गया है। दूसरे अध्याय में धर्म-प्रामाण
और ब्रह्मचारी के धर्मों का निरूपण है। तीसरे, चौथे और पाँचवें
गृहस्थ-धर्म वर्णित है, जैसे विवाह, दैनिक कर्मकाण्ड, श्राद्ध, वृत्ति, सद
चार, भक्ष्यवर्ज्य-भोजन, अशौच, स्त्री-धर्म आदि। छठे अध्याय
वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों का वर्णन है; सातवें में राज-धर्म है
आठवें और नवें अध्याय में व्यवहार, साक्षी आदि का विवेचन है तथ
ऋण और उसका परिशोध, दान, चोरी, व्यभिचार, क्रय-विक्रय आर्
का विवेचन है। नवें में राज धर्म, वैश्यों तथा शूद्रों के कर्तव्यों का भ
विवेचन है। दसवें अध्याय में वर्णसंकर, वर्णधर्म, आपद्धर्म आदि क
वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में दान, यज्ञ, तप तथा बारहवें अध्या
में पुनर्जन्म, मोक्ष आदि का वर्णन है। मनुस्मृति का प्रचार इतना ब
गया था कि ब्रह्म देश, स्याम, जावा आदि तक में इसे प्रमाणभूत मान
जाता था।

नारद स्मृति में लिखा है कि उसमें मनुस्मृति से भी अधि
प्राचीन विचारों का समावेश है, किन्तु इसमें वर्णित विषय के परीक्षण
से यह दावा झूठा साबित हो जाता है। दीनार के उल्लेख के कारण
यह स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी के पहले की नहीं हो सकती। ईस
की सातवीं शताब्दी में बाण ने इसका उल्लेख किया है, व आठवं
शताब्दी में असाय ने इस पर टीका लिखी है। बृहस्पति स्मृति खंडश:
प्राप्त है। यह मनुस्मृति के वार्तिक के समान है। इसका रचना-काल
ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी बताया जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति नारद, बृहस्पति आदि से अधिक महत्त्वपूर
है। इसे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित किया जाता है। पारस्कर गृह्य सूत्र
व मानव गृह्य सूत्र से इसकी कुछ समानता भी है। इसमें बृहदारण्यक
का उल्लेख है। इसमें यूनानी ज्योतिष शास्त्र का उल्लेख है, तथ
सिक्के के सोने को 'नाणक' कहा गया है। इस पर से यह ई० स

३०० के पहले की नहीं हो सकती। इसमें वर्णित विषय की व्यवस्था मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक अच्छी है; आचार, व्यवहार आदि के अलग-अलग अध्याय हैं। इसमें वेदान्त, योग, सांख्य, गर्भ-शास्त्र आदि का वर्णन भी है। इस स्मृति पर बहुत-सी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं। इसकी सर्वोत्तम टीका मिताक्षरा है, जो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण के विज्ञानभिक्षु ने लिखी है। मिताक्षरा हिन्दू कानून के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण भारत, उत्तर भारत, बनारस आदि में इसे प्रमाण माना जाता था। विज्ञानेश्वर ने विश्व रूप की टीका का उपयोग किया था। अपरार्थ ने ईसा की बारहवीं शताब्दी में एक टीका लिखी। बालम्भट्ट वैद्यनाथ व उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी ने भी मिताक्षरा पर टीका लिखी, जिसमें स्त्री धन पर विशेष जोर दिया गया है। इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य स्मृतियाँ भी हैं। एक सूची में लगभग १५२ स्मृतियों का उल्लेख है। इनमे पराशर स्मृति विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार अत्रि, उशनस् , आपस्तम्ब दक्ष, शङ्ख, लिखित, सम्वर्त आदि स्मृतियाँ भी अपना-अपना स्थान रखती हैं।

स्मृतियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जाने के कारण ईसा की बारहवीं शताब्दी के पश्चात् राजाज्ञा द्वारा स्मृतियों के सारांश को 'धर्म निबन्ध' के रूप में तैयार करवाया गया। स्मृति-कल्पतरु-प्राचीन तम धर्म निबन्ध है। इसका कर्ता लक्ष्मीधर है, जो कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र (ई० स० ११०५-४३) का वैदेशिक मन्त्री था। बङ्गाल के लक्ष्मणसेन के लिए हलायुध ने ब्राह्मण सर्वस्व बनाया। इसमें केवल ब्राह्मण-धर्म का ही निरूपण किया गया है। दक्षिण भारत के देवणभट्ट की स्मृति चन्द्रिका (ई० स० १२००) व हेमाद्रि-कृत चतुर्वर्गचिन्तामणि यादव राजाओं (ई० स० १२६०-१३०६) के लिए बनाये गए थे। राजा मदनपाल (ई० स० १३६०-७०) के लिए विश्वेश्वर ने मदन पारिजात लिखा। राजा हरिसिंहदेव (ई० स०

१३२४) के मन्त्री चण्डेश्वर ने स्मृति रत्नाकर व मिथिला के हरिनारायण (ई० स० १५१०) के लिए वाचस्पति ने विवाद चिन्तामणि लिखा। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले जीमूतवाहन ने धर्मरत्न लिखा, जिसमें सुप्रसिद्ध 'दाय भाग' समाविष्ट है। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में रघुनन्दन ने अपने 'अट्ठाईस तत्वों' का निरूपण किया। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर ने 'निर्णय सिन्धु' लिखा, जो महाराष्ट्र में प्रमाण माना जाता है। इसी शताब्दी में नीलकण्ठ ने भगवन्त भास्कर व मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय को जन्म दिया ।

(३)

काव्य

गद्य—काव्य के साधारणतया दो भेद माने गए हैं—गद्य व पद्य। किन्तु उसका गद्य-पद्यात्मक एक तीसरा भेद भी माना गया है, जिसे चम्पू कहते हैं। प्राचीन भारतीयों को गद्य से अधिक प्रेम न था। उनका अधिकांश साहित्य, यहाँ तक कि व्याकरण ज्योतिष आदि का साहित्य भी पद्यमय है। फिर भी गद्य को अपनाया गया है प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्यांशों से प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसके विकास का स्पष्ट पता लगता है। सब ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गए हैं। इनके आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ब्राह्मण काल में गद्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का विकास हो गया था। किन्तु यह गद्य आलङ्कारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है। उपनिषद् निरुक्त, अर्थशास्त्र, पातञ्जल महाभाष्य आदि में भी इसी प्रकार के गद्य के नमूने मिलते हैं। काव्यात्मक गद्य के सर्व प्रथम दर्शन संस्कृत शिलालेखों में होते हैं। रुद्रदामन् के गिरनार लेख (ई० स० १५०) में इसका प्राचीनतम दृष्टान्त है। इस लेख के गद्यांश में आलङ्कारिक भाषा में सुदर्शन तड़ाग के बाँध को पुनः बँधवाये जाने का सुन्दर वर्णन है। बड़े-बड़े समास, यमक, अनुप्रास, उपमा आदि के प्रयोग व

अलङ्कारों के नामों के स्पष्ट उल्लेख आदि से मालूम होता है कि परिमार्जित व सुन्दर गद्यकाव्य लिखने की प्रणाली प्रारम्भ हो चुकी थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख (ईसा की चौथी शताब्दी) में उत्कृष्ट गद्यकाव्य प्रयुक्त किया गया है। गद्यकाव्य के जो ग्रन्थ आज वर्तमान है, उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

दशकुमार चरित—इसका लेखक दण्डी है, जिसने काव्यादर्श नामी अलङ्कार-ग्रन्थ भी लिखा है। दण्डी का समय ईसा की छठी शताब्दी बताया जाता है। इस ग्रन्थ में दस राजकुमार यात्रा के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं, व लौटने पर प्रत्येक अपने-अपने अनुभव रोचक ढङ्ग से सुनाता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

वासवदत्ता—इसका लेखक सुबन्धु है, जो ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ है। इसमें उज्जैन की राजकुमारी वासवदत्ता व वत्सराज उदयन के प्रेम की कहानी है। इस पर भास आदि नाटककारों ने भी सुन्दर नाटक रचे हैं

कादम्बरी—इसका लेखक बाणभट्ट है, जो कि हर्षवर्धन (ई० स० ६०६-६४७) का समकालीन था। इसमें कादम्बरी नाम की एक काल्पनिक नायिका का चरित्र-चित्रण है। चन्द्रापीड़ महाश्वेता आदि पात्रों का वर्णन भी अत्यन्त ही रोचक व काव्यमय है। इसमें प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही सुन्दर है। अच्छोद सरोवर के किनारे महाश्वेता व पुण्डरीक का प्रथम मिलन तथा परस्पर प्रेम-पाश में बँध जाना व प्रेम के आवेश में पागल हो जाना अत्यन्त ही रोचक तथा काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है इसमें पात्रों का काम दो-दो तीन-तीन जन्म तक चलता है।

हर्षचरित—यह भी बाणभट्ट-कृत है। इसमें कन्नौज के हर्ष का चरित चित्रित किया गया है। इसमें भी कवि ने अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इसमें उसका हाथ इतना मँजा हुआ नहीं है,

जितना कादम्बरी में है फिर भी कहीं-कहीं वर्णन बहुत सुन्दर है, जैसे बौद्ध आचार्य के आश्रम का वर्णन है, जहाँ पशु-पक्षियों ने भी अहिंसा-व्रत धारण किया था।

इन गद्यकाव्यों में कवित्व-शक्ति का परिचय तो मिलता है, किन्तु कहीं-कहीं कृत्रिमता का बाहुल्य दिखाई देता है, विशेषकर दशकुमार-चरित व वासवदत्ता में। बड़े-बड़े समास, श्लेष आदि अर्थालङ्कारों का जाल, शब्दालङ्कारों का बाहुल्य आदि कालिदास के समान कवि के उत्कृष्ट काव्य का रसास्वादन करने वाले को बहुत ही फीका मालूम पड़ता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य-कसौटी पर ये गद्यकाव्य कदाचित् 'अधम काव्य' उतरें, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है।

लघु कथा—(ई० स० ४००-११००)—संस्कृत गद्य का दूसरा अङ्ग लघु कथा साहित्य है। प्राचीन काल से ही समाज में छोटी-छोटी उपदेश-पूर्ण कहानियाँ प्रचलित थीं। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि ने इन कहानियों को साहित्यिक रूप देकर अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रसार के लिए उनका उपयोग किया था। संस्कृत भाषा में तो इसे गद्यात्मक साहित्य का एक अङ्ग ही बना दिया गया। ये लघु कथाएँ इतनी रोचक व लोक-प्रिय बन गईं कि इनमें से कितनी ही विदेशों तक फैल गईं। इन रोचक व शिक्षाप्रद कहानियों के संग्रह इस प्रकार हैं—

पञ्चतन्त्र—इसके पाँच विभाग हैं। पहला विभाग मित्र-भेद कहाता है। इसमें एक बैल और सिंह दो सियारों द्वारा मिलाये जाने पर पक्के मित्र बन जाते हैं। धीरे-धीरे एक सियार को इस मैत्री के प्रति ईर्ष्या होने लगती है, और वह षड्यन्त्र रचता है। परिणामस्वरूप सिंह और बैल का झगड़ा होता है, जिसमें बैल मारा जाता है। दूसरा विभाग मित्र-लाभ कहलाता है। इसमें एक कछुए, मृग, कौए तथा चूहे आदि की कठिनाइयों से भरी यात्रा का वर्णन है, जिसमें सब हिल-मिलकर रहते हैं और आपत्ति में सच्चे मित्र के समान एक-दूसरे को सहायता

पहुँचाते हैं। तीसरे विभाग में 'कौओं और उल्लुओं का युद्ध' वर्णित है। इसमें भूतपूर्व शत्रुओं की मैत्री के क्या दुष्परिणाम होते हैं, उनका वर्णन है। चौथे विभाग का विषय प्राप्त वस्तु की हानि है। इसमें बन्दर और मगर की रोचक कहानी है, जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार मूर्खों के पास से उनकी चीजें खुशामद द्वारा छीनी जा सकती हैं। पाँचवें विभाग में बिना विचार किये हुए काम का वर्णन है। इसमें कितनी ही कहानियाँ हैं, जिनमें एक नाई के दुःखद अनुभवों का वर्णन है, जो कि परिस्थितियों को अच्छी तरह न समझने के कारण दुःख और आपत्तियों का शिकार बनता है।

पञ्चतन्त्र के लेखक के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके प्रारम्भ में ही दक्षिण के महिलारोप्य नगर के राजा अमरशक्ति की कहानी है। उसे किसी योग्य शिक्षक की आवश्यकता थी, जो कि उसके तीन मूर्ख और आलसी पुत्रों को छः माह में नीति-शास्त्र इस तरह पढ़ा दे कि वे अन्य राजकुमारों से बढ़ जायँ। इस उद्देश्य की सिद्धि पञ्चतन्त्र द्वारा की गई है। इसके समय के बारे में इतना कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी में इसकी कहानियाँ इतनी लोकप्रिय हो गई थीं कि ईरान के सेसेनियन राजा खुसरू अनुसीरवाँ (ई० स० ५५१-५७६) ने ई० स० ५७० के लगभग पहेल्वी-भाषा में इसका अनुवाद करवाया, व पहेल्वी से सिरिक भाषा में अनुवाद हुआ। पञ्चतन्त्र की रचना कदाचित् ई० स० ३००-५०० वर्ष के काल में कभी हुई हो, अथवा इससे भी पहले हुई हो।

हितोपदेश—इसका बहुत-सा भाग पञ्चतन्त्र से लिया गया है। इसकी ४३ कहानियों में से पच्चीस पञ्चतन्त्र में की हैं। यह संग्रह भारत में बहुत ही लोकप्रिय है। इसकी भूमिका भी पञ्चतन्त्र के समान है, किन्तु मूर्ख राजपुत्रों का पिता पाटलीपुत्र का राजा सुदर्शन है। इसके चार विभाग हैं—मित्र-लाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और सन्धि। इसके लेखक का पता नहीं है और न इसके समय के बारे में निश्चित रूप से

कुछ भी कहा जा सकता है। यह पुस्तक ५०० वर्ष से अधिक पुरानी होनी चाहिए, क्योंकि इसकी प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति ई० स० १३७३ में लिखी गई थी। इसकी कहानियाँ रोचक और शिक्षाप्रद हैं।

वेताल पञ्चविंशति—इसमें वेताल (शवों में निवास करने वाला पिशाच) की पच्चीस कहानियों का संग्रह है। एक योगी उज्जैन के विक्रम राजा को एक वृक्ष पर टँगे हुए शव को कुछ बोले बिना श्मशान तक ले जाने को कहता है, जहाँ कि जादू के कुछ कृत्य किये जाने वाले हैं। ज्यों ही राजा अपने कन्धों पर उस शव को ले जाता है, त्यों ही उसके अन्दर का पिशाच कहानी सुनाने लगता है। उसके प्रश्न पूछने पर राजा भूल से उत्तर दे देता है। परिणामतः शव पुनः वृक्ष पर चला जाता है। इस प्रकार राजा से पच्चीस बार भूल होती है। इसके लेखक और समय का कोई पता नहीं है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका—इसमें राजा विक्रम का बत्तीस पैड़ियों वाला सिंहासन रोचक कहानियाँ सुनाता है। इसके भी लेखक और समय का कोई पता नहीं है।

शुकसप्तति—इसमें एक स्त्री अपने पति के विदेश चले जाने पर दूसरे पुरुषों के पास जाना चाहती है और इस सम्बन्ध में अपने तोते की सलाह लेती है। तोता उसकी बात का अनुमोदन करता है, किन्तु उसे कहता है कि घर से बाहर जाने के पूर्व कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, जैसा कि अमुक स्त्री को करना पड़ा था। इस पर वह उस स्त्री की कहानी सुनना चाहती है, और तोता कहानी सुनाने लगता है, किन्तु उसे अधूरी ही रखता है। इस प्रकार सत्तर रातें बीत जाती हैं और उसका पति लौट आता है।

बृहत्कथामञ्जरी—ई० स० १०३७ के लगभग क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा के आधार पर इस ग्रन्थ को रचा। विस्तार में यह कथा-सरित्सागर का तीसरा भाग है।

कथासरित्सागर—यह पद्यात्मक है। इसमें १२४ तरङ्गें और

२२००० श्लोक हैं। इसका लेखक काश्मीरी कवि सोमदेव है, जिसने इस ग्रन्थ को ई० स० १०७० के लगभग रचा। लेखक स्वीकार करता है कि उसने गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा से बहुत-कुछ लिया है, जिसका उल्लेख दण्डी, बाण आदि ने भी किया है। इसमें बहुत से सुन्दर और रोचक किस्से हैं। एक राजा ने संस्कृत व्याकरण न जानने से अपनी रानी के वचनों को बराबर न समझ सकने के कारण लज्जित होकर संस्कृत का धुरन्धर विद्वान् बनने अन्यथा मर जाने का निश्चय किया। इसमें राजा शिव की कहानी भी है, जिसने श्येन से कपोत को बचाने के लिए अपने-आपको अर्पित कर दिया था।

पद्य (ई० पू० २००–ई० स० ११००)—पद्यात्मक काव्य के दो विभाग किये जाते हैं, जैसे महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में बहुत से सर्ग रहते हैं, नगर, ऋतु, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन रहता है, तथा उसकी वस्तु भी विस्तृत रहती है। खण्डकाव्य का स्वरूप छोटा रहता है। वस्तु भी छोटी रहती है। इसमें गीतकाव्य और शिक्षाप्रद का समावेश हो जाता है।

यों तो वाल्मीकि रामायण को आदि महाकाव्य माना जाता है; किन्तु यदि पद्यात्मक काव्य के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि पाणिनि (ई० पू० ७००-५००) के समय में भी काव्य का ज्ञान वर्तमान था। पाणिनि की बहुत-सी कविताएँ, जो कि अन्य ग्रन्थों में उद्धृत हैं, आज मिलती हैं; जिससे मालूम होता है कि उसने कुछ काव्य अवश्य लिखे होंगे। पातञ्जल महाभाष्य में भी काव्य-ग्रन्थों के बहुत से श्लोक उद्धृत किये गए हैं। उक्त पद्यांश, कवित्व, रीति आदि की दृष्टि से महाकाव्यों से मिलते-जुलते हैं। अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) का बुद्धचरित महाकाव्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

ई० स० १५०-५५० वर्ष तक के शिलालेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है, कि उस समय साहित्य-जगत् में महाकाव्य-शैली पूर्णतया ज्ञात थी। उनमें से कुछ लेख इस प्रकार हैं। रुद्रदामन्

का गिरनार-लेख (ई० स० १५०)—यह लेख गद्यात्मक काव्य में है। उक्त लेख के लेखक को अलङ्कार-शास्त्र का ज्ञान अवश्य था और उसके समय में वैदर्भी रीति के पद्यात्मक काव्य अधिक लोकप्रिय थे। आन्ध्र राजा का नासिक-लेख (ईसा की दूसरी शताब्दी)—इसके पठन से भी परिमार्जित काव्य-रीति के अस्तित्व का पता लगता है। राजा चन्द्र का मेहरोली स्तम्भ-लेख (ई० स० ३४०) के लगभग—काव्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीन शार्दूल-विक्रीडित छन्द हैं। इसमें उपमा, एकदेशविवर्ती रूपक, असंगति, विरोधाभास आदि अलङ्कार प्रयुक्त किये गए हैं। यह काव्य का एक उत्कृष्ट छोटा-सा नमूना है। समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तम्भ-लेख (ईसा की चौथी शताब्दी)—इस लेख से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त स्वतः कविराज कहाता था और कवियों का आश्रयदाता था। इस लेख में वैदर्भी रीति में सुन्दर काव्य प्रयुक्त किया गया है। इसके श्लोकों को पढ़कर कालिदास की याद आये बिना नहीं रहती। गुप्त-काल के अन्य लेखों में भी काव्य के नमूने मिलते हैं। उनके अध्ययन से अलङ्कार-शास्त्र के पूर्ण विकास का पता भी चलता है। इस प्रकार गुप्तकाल में काव्य का पर्याप्त विकास हुआ था। अब कुछ महत्त्वपूर्ण महाकाव्य-ग्रन्थों पर विचार करना आवश्यक है। महाकाव्यों के लेखक कवियों में रघुवंश और कुमारसम्भव के निर्माता कालिदास का स्थान सबसे ऊँचा है। कालिदास के समय के बारे में बहुत मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् कालिदास को गुप्त-काल से सम्बन्धित करते हैं और भारतीय जनश्रुति के अनुसार ई० पू० प्रथम शताब्दी में राजा विक्रम के राजकवि का सौभाग्य कालिदास को प्राप्त था।

रघुवंश—इसमें १९ सर्ग हैं। इसमें राम, उनके पूर्वजों और उत्तराधिकारियों का वर्णन है। पहले नौ सर्गों में दिलीप, रघु, अज और दशरथ का वर्णन है। दसवें से पन्द्रहवें सर्ग तक राम का वर्णन है। बाकी के सर्गों में राम के उत्तराधिकारियों का वर्णन है। यह महाकाव्य कवि की प्रौढ़ कृति का उत्कृष्ट नमूना है। इसमें के कितने ही प्रसंग

काव्य की दृष्टि से विश्व-साहित्य में ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। इन्दुमती के मरने पर अज का विलाप करुण रस का एक सुन्दर स्रोत ही है। इसी प्रकार राम के अयोध्या लौटते समय त्रिवेणी-संगम का वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

कुमार सम्भव—इसमें १७ सर्ग हैं। पहले सात सर्गों में शिव और पार्वती के विवाह, प्रेमालाप आदि का वर्णन है। बाद के सर्गों में कुमार का जन्म, तारकासुर का वध आदि का विस्तृत वर्णन है, इसमें निसर्ग का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है।

भट्टीकाव्य—यह ग्रन्थ राजा श्रीधरसेन के समय वलभी में लगभग ईसा की सातवीं शताब्दी में लिखा गया है। कितने ही टीकाकार भर्तृहरि को इसका लेखक मानते हैं। इसमें बाईस सर्गों में राम-चरित्र का वर्णन किया गया है। किन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य संस्कृत व्याकरण के नियमों के उदाहरण समझाना है।

किरातार्जुनीय—यह भारवि की कृति है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसमें किरात-वेशधारी शिव तथा अर्जुन के युद्ध का वर्णन है, जिसका उल्लेख महाभारत में भी है। भारवि का उल्लेख ई० स० ६३४ के ऐहोल-लेख में आता है, जिससे स्पष्ट है कि यह काव्य ईसा की सातवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता। इसमें शब्द-चित्र के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। फिर भी 'भारवि का अर्थ गौरव' तो प्रसिद्ध ही है। कोई-कोई समालोचक भारवि की कविता को नारियल की उपमा देते हैं जिसके फोड़े जाने पर ही रसास्वादन किया जा सकता है।

शिशुपाल वध—इसका लेखक माघ है। इसका समय ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी के लगभग होना चाहिए। इसमें बीस सर्गों में बताया गया है कि किस प्रकार चेदिराज शिशुपाल कृष्ण द्वारा मारा गया। इसमें कवि की विभिन्न शास्त्रों की आश्चर्यजनक विद्वत्ता का पता

तो अवश्य लगता है, किन्तु काव्य की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

नैषध चरित—इसका लेखक श्रीहर्ष है, जिसका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसमें निषध के राजा नल का चरित वर्णित है। यह विस्तार में बहुत बड़ा है, किन्तु काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है; क्योंकि इसमें अलङ्कारों पर अधिक जोर दिया गया है।

हरविजय—इसका लेखक रत्नाकर नामी काश्मीरी कवि है, जो ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ है। इसमें मदन पर शिव द्वारा प्राप्त विजय का वर्णन है।

नलोदय—साधारणतया कालिदास को इसका लेखक माना जाता है, किन्तु यह काव्य बहुत बाद का है व इसमें कृत्रिमता का आधिक्य है। इसमें नल के सब-कुछ गँवा देने पर पुनः उन्नत अवस्था को प्राप्त होने का वर्णन है।

राघवपाण्डवीय—इसका लेखक कविराज है, जिसका समय ई० स० ८०० के लगभग है। इसमें अलङ्कारों की सहायता से एक ही साथ रामायण व महाभारत के कथानकों का वर्णन है। विश्व-साहित्य में ऐसा और कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमें कृत्रिमता की चरम सीमा हो गई है।

खण्डकाव्य—गीतिकाव्य (ई० स० ४००-१०००)—संस्कृत गीतिकाव्य के स्वतन्त्र ग्रन्थ बहुत कम हैं, किन्तु इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन से गीतिकाव्य के आश्चर्यजनक विकास का पता चलता है। संस्कृत नाटकों में भी यत्र-तत्र उसके उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत व ऋतु-संहार इस काव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनमें से कुछ का ब्यौरा इस प्रकार है—

मेघदूत—इसके पूर्वमेघ व उत्तरमेघ दो भाग हैं। इसमें कुल ११५ मन्दाक्रान्ता छन्द हैं। इसके सौन्दर्य व कवित्व से गेटे के समान जर्मन विद्वान् भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। इसमें, रामगिरि पर्वत पर

एक वर्ष के लिए निर्वासित यक्ष ने मेघ द्वारा अपनी स्त्री को सन्देशा भिजवाया है। पूर्वमेघ में यक्ष मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताता है, जिसमें कवि ने भिन्न-भिन्न स्थलों का सुन्दर वर्णन किया है। उज्जैन को 'स्वर्ग का एक सुन्दर टुकड़ा' कहा गया है। उत्तरमेघ में अलकापुरी, यक्ष की स्त्री का वर्णन व यक्ष का सन्देश वर्णित है। इसमें कवि का प्राकृतिक वर्णन बहुत ही सुन्दर है।

ऋतु-संहार—इसमें ६ सर्गों में १५३ छन्द हैं और छः ऋतुओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। सर्वप्रथम ग्रीष्म का वर्णन आता है, जिसमें दिवस में कड़ी धूप रहती है, किन्तु सन्ध्याकाल बहुत ही सुहावना और ठण्डा रहता है; चाँदनी रातें तो प्रेमी पागलों के लिए विशेष रूप से सुहावनी बन जाती हैं। फिर कड़ी धूप के दुष्परिणामों का वर्णन है। इसके पश्चात् वर्षा ऋतु का आगमन होता है। चातक पक्षी दिखाई देने लगते हैं। छोटी-छोटी नदियाँ इठलाती हुई समुद्र की ओर दौड़ी चली जाती हैं। इसके पश्चात् नव विवाहिता वधू के समान सौन्दर्य से लदी शरद् ऋतु आती है और चहुँ ओर सौन्दर्य का साम्राज्य छा जाता है। इसके पश्चात् शीत ऋतु आती है, जब कि अग्नि और धूप बहुत ही प्रिय लगते हैं। रात्रि का समय आकर्षक नहीं रहता। कवि बसन्त का वर्णन अधिक विस्तृत रूप से करता है। यह वही समय है जब नायिकाएँ कान में कर्णिकार पुष्प लगाकर तथा बालों की लटों में अशोक-चमेली के फूल गूँथकर अपने प्रेमियों के पास जाती हैं। इसी समय मधुकर का गुनगुनाना और कोयल की कुहू सुनी जाती है; आम में बौर भी दिखाई देने लगते हैं और कामदेव अपने बाणों से कुमारियों के हृदयों को बेधता है।

घटकर्पर—इसमें केवल बीस ही छन्द हैं। इसका नाम लेखक के नाम पर रखा गया है। कवि का काल-निर्णय करना कठिन है। जन-श्रुति के अनुसार यह विक्रम के नौ रत्नों में से एक था।

चौरपञ्चाशिका—इसका लेखक काश्मीरी कवि बिल्हण (ईसा की

ग्यारहवीं शताब्दी) है। इसमें ५० छन्द हैं और काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। कहा जाता है कि कवि किसी राजकुमारी के प्रेम में फँसा था। राजा ने उसे मृत्यु-दण्ड दिया, इस पर उसने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित करके 'अद्यापि स्मरामि' शब्दों से प्रारम्भ होने वाले ५० छन्द लिखे, जिन्हें सुनकर राजा अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमारी का विवाह कवि से कर दिया।

शृङ्गारशतक—यह भर्तृहरि की कृति है। इसमें १०० छन्द हैं। कवि ने शृङ्गार रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

शृङ्गारतिलक—इसको कालिदास की कृति कहा जाता है। इसमें २३ छन्दों में शृङ्गार-रस का बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

अमरुशतक—इसमें १०० छन्दों में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग पर नायक और नायिका के प्रेम का चित्रण किया गया है।

गीतगोविन्द—बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन (ईसा की बारहवीं शताब्दी) के समकालीन जयदेव की कृति है। इसमें कृष्ण और गोपियों के प्रेम का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

शिक्षाप्रद काव्य—ये काव्य-ग्रन्थ उत्तम कोटि के और अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर भी इन काव्यों का उल्लेख आवश्यक है: नीतिशतक—इसका लेखक भर्तृहरि है। इसमें नीतिविषयक भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्धित १०० छन्द हैं। वैराग्यशतक—यह भी भर्तृहरि की कृति है। इसमें १०० छन्दों द्वारा संसार की क्षणभंगुरता और असारता तथा वैराग्य की उपयोगिता का सुन्दर चित्र खींचा गया है। शान्तिशतक—काश्मीरी कवि बिल्हण की यह कृति है। इसमें १०० छन्दों द्वारा शान्ति-प्राप्ति के मार्ग को समझाने का प्रयत्न किया गया है। मोहमुद्गर—इसके लेखक शङ्कराचार्य हैं। उन्होंने इसमें अपनी दार्शनिक वृत्ति को काव्य का स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। चाणक्य-शतक—यह चाणक्य की कृति है। इसमें १०० छन्दों में नीति का

उपदेश दिया गया है। नीतिमञ्जरी—इसमें ऋग्वेदान्तर्गत कथाओं के द्वारा नीति को समझाया गया है।

नाटक—नाटक की उत्पत्ति के विषय में बहुत सा मतभेद है। भारतीय जनश्रुति के अनुसार इसका प्रारम्भ वेदों से ही होता है। ऋग्वेद में नाटक के विकास की सामग्री मिलती है। पुरुरवस्-उर्वशी, यम-यमी, विश्वामित्र-नदी आदि के संवाद-मन्त्रों से नाटक के संवादों के लिए प्रेरणा प्राप्त की गई होगी। 'नट' और 'नाटक' शब्द 'नाचना' अर्थ वाली 'नृत्' धातु से सम्बन्धित होने के कारण यह कहा जा सकता है कि नाटक के विकास में नृत्य का भी विशेष स्थान रहा होगा। प्रारम्भ में कदाचित् नाटक का स्वरूप नृत्यमय ही होगा और शरीर की विविध हलचलों द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाता होगा। जयदेव का गीत-गोविन्द इसी प्रकार के प्रारम्भिक नाटक का नमूना है। ब्राह्मण-काल के यज्ञों का स्वरूप भी अधिकांश में नाटकीय था। ये यज्ञ मूकभावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर थे। ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि को अपने-अपने काम करने पड़ते थे। यज्ञ-वेदी बनाना, यज्ञ-सामग्री की व्यवस्था और सजावट आदि अभिनय के समान ही रोचक बन जाते थे। सम्भवतः इन मूक अभिनयपूर्ण यज्ञों से नाटक को जन्म देने की प्रेरणा प्राप्त की गई हो। अभिनय किये जाने वाले नाटकों का सर्वप्रथम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य (३।२।१११) में है, जहाँ कंस-वध और बाली-वध नाटकों की घटनाओं तथा विभिन्न पात्रों द्वारा उनके अभिनय किये जाने का उल्लेख है। जनश्रुति के अनुसार संगीत का प्रारम्भ भी कृष्ण और गोपियों के प्रेमालाप से ही होता है। अब मुख्य-मुख्य नाटककारों और उनकी कृतियों पर विचार करना चाहिए।

भास—कितने ही प्राचीन ग्रन्थों तथा नाटककारों ने सिद्धहस्त नाटककार के रूप में भास का उल्लेख किया है। उसके समय के बारे में बहुत-कुछ मतभेद है। उसे कालिदास के पहले मानकर ई० पू० चौथी शताब्दी का बताया जाता है। कुछ विद्वानों के मत में कालिदास

के पश्चात् ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी में उसका समय निश्चित होना चाहिए। भास के नाम से १३ नाटक प्रख्यात हुए हैं, जैसे (१) रामायण पर आश्रित—अभिषेक नाटक, प्रतिमा नाटक; (२) महाभारत पर आश्रित—दूत घटोत्कच, मध्यम व्यायोग, कर्णभार, ऊरुभङ्ग, दूत-वाक्य, पञ्चरात्र, बालचरित; (३) कथा-साहित्य पर आश्रित—स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, अविमारक, चारुदत्त। इन नाटकों में स्वप्नवासवदत्ता का स्थान सबसे ऊँचा है। इसमें वत्सराज उदयन और अवन्ति की वासवदत्ता की प्रेम-कहानी है। इसमें कवि ने अपना सम्पूर्ण कौशल दिखाया है।

कालिदास—कालिदास के तीन नाटक मिलते हैं—शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र। शाकुन्तल की वस्तु महाभारत के आदिपर्व से ली गई है। इसमें सात अङ्कों में दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेम-कहानी वर्णित है। इसमें नायक-नायिका का प्रेम में पड़ना और गान्धर्व-प्रथा से विवाहित हो जाना, पश्चात् दुर्वासा के शाप से नायक का नायिका को भूल जाना आदि प्रसङ्गों का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। हेमकूट पर्वत पर नायक-नायिका का पुनर्मिलन भी बहुत प्रभावशाली है। विक्रमोर्वशीय पाँच अङ्क का त्रोटक है। इसमें पुरूरवाः और उर्वशी की प्रेम-कहानी वर्णित है। राक्षसों द्वारा सताई गई उर्वशी की रक्षा करने से पुरूरवाः उसके प्रेम-पाश में बँध जाता है। उर्वशी भी अपनी गलती के कारण स्वर्ग से मृत्युलोक में आकर पुरूरवाः के साथ रहती है। एक निषिद्ध वन में प्रवेश करने से वह लता बन जाती है। पुरूरवाः उसके वियोग में पागल बनकर इधर-उधर भटकता है। अन्त में दोनों का मिलन होता है। उनका आयुस् नाम का पुत्र भी होता है। मालविकाग्निमित्र की वस्तु इतिहास से ली गई है। इसमें समाज का सुन्दर चित्र खींचा गया है। इसमें विदिशा के शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र (ई० पू० दूसरी शताब्दी) और उसकी रानी की दासी मालविका के प्रेम की कहानी का वर्णन है। मालविका के सौन्दर्य से

डरकर रानी उसे राजा की दृष्टि से बचाती है किन्तु राजा उसे देखकर उससे प्रेम करने लगता है और रानी की चोरी से उससे बात करने का प्रयत्न करता है। अन्त में, यह मालूम होता है कि मालविका राजकुमारी है। तब दोनों में विवाह हो जाता है।

शूद्रक—यह कोई राजा था जिसने मृच्छकटिक नाम का दस अङ्कों में प्रकरण लिखा। लेखक के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु यह नाटक ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का होना चाहिए। कुछ विद्वान् इसे ईसा की छठी शताब्दी का बताकर दण्डी को इसका लेखक मानते हैं। यह एक सामाजिक नाटक है, जिसमें समाज का अच्छा चित्र खींचा गया है। घटनास्थल उज्जयिनी और उसका निकटस्थ प्रदेश है। इसका नायक एक ब्राह्मण-व्यापारी चारुदत्त है, जो उदारता के कारण निर्धन हो गया है। इसकी नायिका वसन्तसेना नामी धनाढ्य वेश्या है जो इस गरीब उदार ब्राह्मण से प्रेम करती है और अन्त में उससे विवाह कर लेती है।

श्री हर्षवर्धन (ई० स० ६०६–६४७)—यह उत्तर भारत का सम्राट् था और कवियों का आश्रयदाता था। साथ ही स्वयं भी अच्छा नाटककार था। इसके लिखे तीन नाटक वर्तमान हैं, जैसे रत्नावली, नागानन्द, और प्रियदर्शिका। रत्नावली में वत्सराज उदयन और रानी की दासी सागरिका की प्रेम-कहानी का वर्णन है। यह पता लगने पर कि सागरिका सिंहल द्वीप की राजकुमारी रत्नावली है, राजा का उससे विवाह हो जाता है। नागानन्द का नायक बौद्ध है और इस नाटक का वातावरण पूर्णतया बौद्ध है। प्रियदर्शिका में वत्सराज और आरण्यिका के रूप में वासवदत्ता के काका की लड़की प्रियदर्शिका की प्रेम-कहानी वर्णित है।

भवभूति—यह विदर्भ का रहने वाला एक वेदपाठी ब्राह्मण था। यह कदाचित् उज्जयिनी में भी रहा होगा इसका आश्रयदाता कान्यकुब्ज का राजा यशोवर्मा था, जिसका समय ईसा की आठवीं शताब्दी

का पूर्वार्ध है। इसके तीन नाटक मिलते हैं, जैसे मालतीमाधव, महावीरचरित व उत्तररामचरित। मालतीमाधव १० अङ्क का प्रकरण है। इसका घटना-स्थल उज्जयिनी है, जहाँ के राजमन्त्री की लड़की मालती उज्जयिनी में विद्याभ्यास करने के लिए आये हुए अन्य राजमन्त्री के पुत्र माधव के प्रेम-पाश में बँधती है। इसमें माधव के मित्र मकरन्द व राजा के किसी मित्र की पुत्री मदयन्तिका के प्रेम की भी कहानी है। मालती व माधव एक-दूसरे से मिलते हैं। किन्तु राजा मालती का विवाह अपने मित्र से करना चाहता है, जो उसे पसन्द नहीं है। विवाह के समय मकरन्द मालती बनकर उसको बचा लेता है। दो बौद्ध भिक्षुणियाँ भी नायक व नायिका को सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। महावीरचरित में सात अङ्क हैं। इसमें राम का जीवन-चरित वर्णित है, जिसका अन्त राम के राज्याभिषेक से होता है। उत्तररामचरित में राम द्वारा निर्वासित सीता का वाल्मीकि के आश्रम में रहना, दो पुत्रों को जन्म देना तथा राम का सीता के वियोग में दुखी होना वर्णित है। राम के अश्वमेध यज्ञ के समय अश्व की रक्षा के लिए लक्ष्मण का पुत्र भेजा जाता है। उसकी मुठभेड़ वाल्मीकि-आश्रम के पास लव-कुश से हो जाती है। दोनों में घमासान युद्ध होता है। अन्त में राम के आने पर वाल्मीकि के आश्रम में सबका मिलन होता है।

भट्टनारायण—यह बङ्गाल का रहने वाला था। इसका समय ईसा की नवीं शताब्दी का मध्य भाग है। इसके वेणीसंहार नामक छः-अङ्की नाटक में द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा राज-सभा में घसीटा जाना, शत्रु के रक्त से द्रौपदी के बाल सँवारने की भीम की प्रतिज्ञा आदि का वर्णन है। यह केवल वर्णनात्मक है। इसमें बड़े-बड़े संवाद हैं। काव्य की दृष्टि से इसमें कोई सौन्दर्य नहीं है।

चम्पू—यों तो एक साथ गद्य-पद्य में लिखने की परिपाटी बहुत प्राचीन है, किन्तु साहित्यिक चम्पू की प्रारम्भिक अवस्था जातकमाला

व हरिषेण के लेख (समुद्रगुप्त का स्तम्भलेख) में देखी जाती है। किन्तु प्राप्य काव्य-चम्पू तो बहुत बाद के हैं। इनमें प्राचीनतम दमयन्ती कथा या नलचम्पू है। इसका लेखक त्रिविक्रम भट्ट (ई० स० ९१५) है। इसी शताब्दी के एक दिगम्बर जैन सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में यौधेय देश के राजा की कथा द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए जैन-सिद्धान्तों की उपयुक्तता बताई है। हरिचन्द्र-कृत जीवनधर चम्पू (ई० स० ९००) भी जैन-चम्पू है। भोज व लक्ष्मणभट्ट-कृत रामायणचम्पू भी प्रसिद्ध है। अनन्त-कृत एक भारत चम्पू भी है। लाट देश के षोड्ढल कायस्थ ने उदय सुन्दरी कथा (ई० स० १०००) लिखी। इस प्रकार चम्पू-साहित्य थोड़ा है। विकसित गद्य व पद्य के सामने वह रोचक नहीं हो सका।

अलङ्कार-शास्त्र—ऋग्वेद में उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का उपयोग दृष्टिगोचर होता है। उषादि के सूक्तों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में संस्कृत व परिष्कृत भाषा में सुन्दर भावों का समन्वय किया जाता था। इसी से अलङ्कार-शास्त्र का श्रीगणेश होता है। भरत मुनि-कृत नाट्यशास्त्र, रुद्रदामा के शिलालेख आदि से अलङ्कारों के अस्तित्व का पता लगता है। अलङ्कारों का सर्वप्रथम शास्त्रीय उल्लेख नाट्यशास्त्र (ईसा की द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय में आता है, जिसमें चार अलङ्कार, दस गुण, दस दोष व काव्य के छब्बीस लक्षण वर्णित हैं। अलङ्कार-शास्त्र के बाद के आचार्यों ने काव्य को शास्त्रीय ढङ्ग पर समझने के प्रयत्न किये। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रदर्शित किये, जिन्हें चार विचार-सरणियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे अलङ्कार, रीति रस व ध्वनि। अलङ्कार-विचार-सरणी के अनुसार अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व है। भामह ने अलङ्कारों को व्यवस्थित करके यह मन्तव्य उपस्थित किया। उसके मतानुसार काव्य का शरीर शब्द व अर्थ का बना है, और उसे आभूषित करने वाले अलङ्कार काव्य के आवश्यकीय

अङ्ग हैं। उसने काव्य के रूप-भेद (गद्य-पद्य) व भाषा-भेद (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश) किये हैं। उद्‌भट रुद्रट आदि इसी विचार-सरणी के अनुयायी थे। रीति-विचार-सरणी के पुरस्कर्ता वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा। इसके पहले दण्डी ने भी काव्य में रीति के महत्त्व को स्वीकार किया है। बाण, दण्डी आदि के ग्रन्थों में भी इस मन्तव्य का उल्लेख मिलता है। वामन के मतानुसार शब्द व अर्थ काव्य के शरीर हैं, तथा रीति आत्मा है, जिसे 'विशिष्टपद रचना' कहा गया है। रीति तीन प्रकार की मानी गई है—वैदर्भी, गौड़ी व पाञ्चाली। वैदर्भी में दसों गुण रहते हैं; गौड़ी में ओज व कांति का, तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का आधिक्य रहता है।

जब कि अलङ्कार व रीति-विचार-सरणियाँ विकसित हो रही थीं, उस समय कुछ आलङ्कारिक भारतीय नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित रस पर अपने विचार व्यवस्थित कर रहे थे। प्रथम, अलङ्कार के रूप में रस को काव्य में स्थान मिला। रुद्रट ने सर्वप्रथम इसे काव्य के अङ्ग के रूप में उपस्थित किया। तत्पश्चात् रस का स्थान काव्य में महत्त्वपूर्ण बनता गया। नाट्य-शास्त्र के 'रस-निष्पत्ति'-सम्बन्धी सूत्र को समझाते हुए आचार्यों ने चार सिद्धान्त विकसित किये, जैसे (१) उत्पत्तिवाद, (२) अनुमितिवाद, (३) भोगवाद व (४) अभिव्यक्तिवाद। पहले सिद्धान्त के अनुसार नट के हृदय में रस की उत्पत्ति होती है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार नायक व नट का तादात्म्य मानकर दर्शकों द्वारा रस का अनुमान किया जाता है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार अभिधा व भावकत्व शक्तियों द्वारा काव्य व नाटक में रस का अनुभव होता है, जिससे भोग नामी आनन्ददायिनी कार्य-प्रणाली द्वारा आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। चौथे सिद्धान्त के अनुसार शताब्दी की शक्तियों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति-मात्र होती है। लोल्लट पहले सिद्धान्त के, शंकुक दूसरे के, भट्ट नायक तीसरे के और अभिनवगुप्त चौथे के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। अभिनव गुप्त ने काव्य में रस के महत्त्व को

समझकर ध्वनि से उसका सामञ्जस्य बैठाया तथा परिणामस्वरूप ध्वनि-वाद के सशक्त रहते हुए भी रस को काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। उसने रस को परिभाषित किया और अलङ्कार शास्त्र में उसके स्थान को स्पष्ट किया। इस प्रकार रस-सम्बन्धी सिद्धान्तों के अधूरेपन को दूर किया गया। ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन से एक कदम आगे बढ़कर उसने रस को काव्य का तत्त्वांश या उसकी आधारशिला मान लिया, जिसका प्रभाव भावी अलङ्कारिकों पर पड़े बिना नहीं रहा। इसी लिए विश्वनाथ के रसात्मक 'वाक्यं काव्यं' (रसपूर्ण वाक्य काव्य है) वचन सर्वमान्य हो गए। मम्मट आदि को भी रस के महत्त्व को मानना पड़ा। अन्त में काव्य-क्षेत्र में 'रस-ध्वनि' के सिद्धान्त को सर्वोच्च स्थान—प्राप्त हुआ।

यों तो ध्वनि-विचार-सरणी का प्रारम्भ ध्वनिकार से होता है, किन्तु ध्वनि का सिद्धान्त पहले से ही अस्तित्व में था। कदाचित् वैयाकरणों व दार्शनिकों के स्फोट आदि अस्पष्ट सिद्धान्तों से ध्वनि के सिद्धान्त को प्रेरणा मिली हो, क्योंकि ध्वनि के विकास के पहले से ही आलङ्कारिकों को स्फोट आदि का ज्ञान था। पहले, शब्दों की दो शक्तियाँ मानी गई थीं—अभिधा व लक्षणा। ध्वनिवादियों ने एक तीसरी शक्ति पर जोर दिया, जिसे व्यञ्जना कहा गया। व्यञ्जना का तात्पर्य यह है कि अभिधा व लक्षणा के निरर्थक हो जाने पर जिस शक्ति से एक गूढ़तम अर्थ का बोध होता है, वह व्यंजना-शक्ति है। उस गूढ़ार्थ को व्यङ्गार्थ कहते हैं। उत्कृष्ट काव्य में व्यङ्गार्थ का रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसी व्यङ्गार्थ को 'ध्वनि' कहा गया है। ध्वनिवादी इसे काव्य की आत्मा मानते हैं। व्यङ्गार्थ के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गए हैं—जैसे ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य व चित्र आनन्दवर्धन के पश्चात् लगभग सब आलङ्कारिकों ने ध्वनि के सिद्धान्त को मान लिया है। ध्वन्यालोक के समान अन्य किसी ग्रन्थ ने अलङ्कार शास्त्र के विकास को प्रभावित नहीं किया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में विभिन्न सिद्धान्तों का उत्तम सामञ्जस्य उपस्थित किया। उसने अलङ्कार, गुण, वृत्ति, रीति, रस, ध्वनि आदि सबको यथा योग्य स्थान दिया, किन्तु फिर भी ध्वनि का प्रभुत्व बना रहा।

नाट्य-शास्त्र—संस्कृत में नाटक के लिए 'रूपक' शब्द प्रयुक्त किया जाता है; और उसके दस भेदों में 'नाटक' भी एक है। धनञ्जय-कृत दशरूपक (१।७) में नाट्य-रूपकादि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"किसी अवस्था की अनुकृति करना नाट्य कहलाता है। उसके देखे जाने के कारण उसे 'रूप' कहते हैं। उसमें 'रूप' का समावेश होने से उसे 'रूपक' कहते हैं। उसका आश्रय रस है, व उसके दस प्रकार हैं।" रूपक के दस भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क व इहामृग। नाटक की वस्तु ऐतिहासिक रहती है, और नायक उदात्त गुणों वाला रहता है। प्रकरण की वस्तु काल्पनिक रहती है तथा नायक साधारण व्यक्ति रहता है। अन्य प्रकार साधारणतया एक ही अङ्क के रहते हैं अतएव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रूपक के तीन मुख्य अङ्ग रहते हैं—वस्तु, नेता व रस। वस्तु दो प्रकार की रहती है—आधिकारिक व प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध नेता से रहता है। नेता इष्ट फल की सिद्धि के लिए जो-कुछ करता है, उसका समावेश इसी में होता है। प्रासङ्गिक वस्तु आधिकारिक को सहायता देती है। इसमें उन सब घटनाओं का समावेश होता है, जो अधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक बनती हैं। वस्तु के पुनः प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र आदि तीन भेद माने गए हैं। उसके विकास की दृष्टि से दो भेद और किये गए हैं। (१) सूच्य, (२) दृश्यश्रव्य।

नाटकीय वस्तु के सम्यक् विकास के लिए जिन कारणों की आवश्यकता होती है, उन्हें अर्थ प्रकृति कहते हैं। ये पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी व कार्य। वस्तु के विकास की पाँच अवस्थाएँ भी होती हैं, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति व फलागम। इन पाँच अर्थ प्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं से पाँच सन्धियाँ बनती हैं, जैसे मुख, प्रति-

मुख, गर्भ, अवमर्श व निर्वहण। नाटकीय वस्तु के विकास का उद्देश धर्म, अर्थ, काम आदि त्रिवर्ग की प्राप्ति है। नेता के लिए आवश्यक है कि वह विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर व युवा हो। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, मान आदि से युक्त रहना चाहिए, तथा शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु व धार्मिक बनना चाहिए। नेता के चार प्रकार होते हैं, जैसे ललित, शान्त, उदात्त व उद्धत। पुनः नेता इन चार प्रकारों में से एक में आता है—(१) दक्षिण—बहुत-सी नायिकाओं से प्रेम करने वाला, किन्तु ज्येष्ठा से विशेष रूप से प्रेम करने वाला; (२) शठ—स्वकीया नायिका के भी विपरीत जाने वाला; (३) धृष्ट—अन्य नायिका से स्पष्ट रूप से प्रेम करने वाला; (४) अनुकूल—एकपत्निव्रती। पीठमर्द, विट, विदूषक आदि नायक के सहायक पात्र रहते हैं। नायक का विरोधी एक प्रति-नायक भी रहता है, जो लालची, उद्धत, उग्र, मूर्ख, अपराधी व व्यसनी रहता है। नायिका के तीन भेद हैं—स्वीया—नायक की पत्नी; अन्या—किसी दूसरे से सम्बन्धित; (३) साधारण स्त्री—गणिका आदि। इन नायिकाओं की आठ अवस्थाएँ रहती हैं—स्वाधीनपतिका वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया व अभिसारिका। विभिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग निर्धारित किया गया है। अनीच व कृतात्म पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी महादेवी लिङ्गिनी आदि भी इसका प्रयोग कर सकती हैं। स्त्रियों के लिए प्रायः प्राकृत है। अधमों के लिए शूरसेनी है। पिशाच मागध आदि अत्यन्त नीच मनुष्यों के लिए अपनी-अपनी भाषा विहित है। नाटक में रस का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि द्वारा इसका आस्वादन किया जाता है। विभाव स्थायीभाव की पुष्टि करता है तथा उसके दो प्रकार हैं—जैसे (१) आलम्बन, जिसका रस का मुख्य आधार रहता है और (२) उद्दीपन, जिससे रस के विकास में उत्तेजना मिलती है। नेत्र, मुख

आदि द्वारा आन्तरिक भावों का प्रदर्शन अनुभाव कहाता है। स्थायी भाव के कारण शरीर व मन पर जो प्रभाव होता है, उसके चिह्नों को सात्विक या व्यभिचारी भाव कहते हैं। नाटक में स्थायी भाव प्रधान रूप से रहता है व अन्य भावों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। इन विभिन्न भावों की सहायता से जो रस उत्पन्न होता है, उसके आठ प्रकार हैं—जैसे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स व अद्भुत। कोई-कोई शान्त और वात्सल्य रसों का भी अस्तित्व मानते हैं। इन आठ रसों के स्थायीभाव क्रमशः इस प्रकार हैं—रति, हास शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुत्सा व विस्मय।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में नाटक के विभिन्न अङ्ग शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किये गए थे। यों तो भारतीय नाट्य-शास्त्र इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है; किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी में किये गए नट-सूत्रों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि भरत मुनि के पहले भी प्राचीन आचार्यों ने इस दिशा में प्रयत्न किया था।

१२

कला व विज्ञान

(१)

कला

प्राचीन भारत की कलाओं के विकास पर धर्म का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। कला के प्राचीनतम नमूनों पर धर्म की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। कला का उपयोग धर्म के तत्त्वों को समझाने के लिए किया जाता था। कला का प्रदर्शन मन्दिरों, देवताओं की मूर्तियों, पत्थर या काष्ठ पर खुदे हुए धार्मिक कथा के चित्रों आदि के द्वारा किया जाता था। भारतीय कला के इतिहास और विकास को समझने के लिए यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। प्राचीन भारत में इन कलाओं का विशेष रूप से विकास हुआ था—वास्तुनिर्माण-कला, स्थापत्य और शिल्पकारी, चित्रकला, सङ्गीत आदि।

वास्तुनिर्माण-कला—इस कला का इतिहास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद में पुर (ऋ० १।१०३।३;२।२०।८;३।१२.६; ४।३२।१०), व्रज (ऋ० ५।६।७) आदि का उल्लेख आता है, जिनसे तत्कालीन किलों का बोध होता है। ऋग्वेद में घरों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति-मन्त्रों (ऋ० ७।५४;५५) में गृह देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर गृह (ऋ० ६।२।८; १।१२१।१;१०।१४६।३ आदि), सद्म (ऋ० ७।१८।२२), प्रसद्म

(ऋ० ८।१०।१); दीर्घ प्रसद्म (ऋ० ८।१०।१) आदि का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े घर बनाये जाते थे। ये घर लकड़ी, मिट्टी, पत्थर या तीनों को मिलाकर बनाए जाते थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में इसका ज्ञान था।

सिन्धु नदी के किनारे मोहञ्जोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे भी इस कला के विकास का पता लगता है। सिन्धु-संस्कृति के लोग पकाई हुई बड़ी-बड़ी ईंटें बनाना जानते थे, जिनका उपयोग आज तक किया जाता है। इन ईंटों के बड़े-बड़े भवन बनाए जाते थे, जिनके खण्डहर खोदकर निकाले गए हैं। बड़े-बड़े स्नानागार, कमरे आबपाशी की व्यवस्था आदि के जो भग्नावषेश पाये गए हैं उनसे तत्कालीन वास्तुनिर्माण-कला के विकास का पता लगता है।

मौर्य काल के पूर्व घर आदि बहुधा ईंट या लकड़ी के बनाये जाते थे। आज जितनी भी प्राचीन इमारतें या उनके भग्नावशेष वर्तमान हैं, उनमें ई० पू० तीसरी शताब्दी के पहले की बहुत ही कम है। कुछ इमारतें ई० पू० पाँचवीं या छठी शताब्दी की हैं; जैसे प्राचीन राजगृह (कुशागारपुर) का किला तथा दीवारें—राजगृह नगर के मध्य में गृध्रकूट पर्वत पर अशोक के आश्रम तक जाने के लिए बड़ी-बड़ी ढालदार सड़कें और दस मील पूर्व में आकगिरी पर हंसस्तूप तक जाने का भव्य मार्ग, पिपराह्वा स्तूप—यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में है और भारत की वास्तुनिर्माण-कला का प्राचीनतम नमूना है। यह गर्भचैत्य है। गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनकी राख उनके शिष्यों में बाँटी गई थी, जिसे छोटे-छोटे पात्रों में रखकर जमीन में गाड़ दिया गया था और उस स्थान पर एक स्मारक भी खड़ा किया गया था। इसी प्रकार उनके जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित स्थलों पर भी स्मारक खड़े किये गए थे, जिन्हें मूलचैत्य कहते थे। राख के स्मारकों को गर्भचैत्य कहते थे।

मूलचैत्य अन्दर से खोखले नहीं रहते, जैसे कि गर्भचैत्य रहते हैं। पिपराह्वा स्तूप अशोक के सौ वर्ष पहले का होना चाहिए। बौद्धकाल के अन्य प्राचीन स्तूप भी वर्तमान हैं, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—मारुत-स्तूप—यह मध्य भारत में सतना के पास है। मानिक्याल-स्तूप—यह काबुल और कन्धार के मार्ग पर स्थित है। शक क्षत्रप मनिबुल ने इसे बनवाया था। साँची-स्तूप—साँची (मध्य भारत) में तीन स्तूप हैं। धर्मराजिका-स्तूप—यह तक्षशिला में है। यहाँ और भी छोटे-छोटे स्तूप हैं, जो इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ये स्तूप ईंटों के बने हुए विशाल रूप वाले हैं। इन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से तत्कालीन वास्तुनिर्माण-कला के विकास का पता चलता है।

स्तूपों के अतिरिक्त वास्तुनिर्माण-कला के बौद्धकाल के अन्य नमूने भी मिलते हैं, जो कि अधिकांश अशोक के समय के या उसके पश्चात् के हैं। बौद्ध संघ के नियमों के अनुसार भिक्षुओं के वर्षावास के लिए नए प्रकार की इमारत की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस ओर तत्कालीन धनाढ्य लोगों ने कोई बात उठा न रखी। बौद्ध जातकों से मालूम होता है कि बिम्बिसार ने इस कार्य के लिए अपना वेणु-वन प्रदान किया था, तथा सेठ निधनपिण्डद ने अपना जेतवन दिया था। यह प्रथा बौद्ध-काल भर में प्रचलित थी। इस प्रकार के बहुत से सङ्घाराम पश्चिमी घाट पर्वत की कंदराओं में कोरे गए। कोर्ले, इलोरा, अजन्ता आदि की गुफाओं के सङ्घाराम अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध हैं। इनमें बड़े-बड़े दालान, विशाल कमरे आदि बने हुए हैं, जिनमें बौद्ध भिक्षु वर्षावास का समय बिताते थे। कार्ले की गुफाएँ ईसा के पूर्व की होनी चाहिएँ, क्योंकि उनमें मध्यवर्ती विशाल कमरे में बौद्ध की मूर्ति नहीं है। श्री राखालदास बैनर्जी के मतानुसार इनका समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी होना चाहिए। ईसाइयों के प्रारम्भिक गिरजे इन्हीं वर्षावासों के नमूने पर बनाये गए थे। इन वर्षावासों में भिक्षुओं के लिए अलग-अलग कमरे बनाये गए थे। स्थविरों के लिए बड़े-बड़े कमरे मध्य में रहते थे,

जिन्हें विहार कहते थे। यहाँ पर भिक्षु पूजा-पाठ आदि करते थे। इसी प्रकार गुफाओं में चैत्य बनाये जाते थे, जिनमें भिक्षु, भिक्षुणियों और गृहस्थों के पूजा-पाठ के लिए बड़े-बड़े कमरे रहते थे, व इन सबके आने-जाने के लिए अलग-अलग मार्ग भी रहते थे। केन्द्रीय कमरे के एक छोर पर एक स्तूप बना रहता था, जिसकी पूजा की जाती थी। बौद्धों के समान जैन और ब्राह्मण भी ऐसी गुफाएँ बनवाते थे। भारत में इस प्रकार की लगभग १२०० गुफाएँ हैं, जिनमें केवल ३०० ब्राह्मणों या जैनों की और बाकी ९०० गुफाएँ बौद्धों की हैं। इन गुफाओं का ९/१० वाँ भाग बम्बई प्रदेश में और १/१० वाँ भाग बिहार, मद्रास, राजपूताना, पञ्जाब, अफगानिस्तान आदि में है। अशोक (ई० पू० २७३-२३२) के समय से तो लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी तक इन गुफाओं की शृङ्खला एक-सी चली आती है।

चैत्य गुफाओं के अतिरिक्त उस समय के बहुत से बौद्ध विहार भी वर्तमान हैं। चीनी यात्री यू एन-च्वेङ् (ईसा की ७वीं शताब्दी) ने यहाँ हजारों सङ्घाराम देखे थे, जिनमें नालन्दा का सङ्घाराम सौन्दर्य और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम था। यहाँ प्राचीन काल का एक विहार है, जहाँ कितने ही बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ऐसा ही एक विहार सारनाथ में भी है। इसी प्रकार के प्राचीन विहार बङ्गाल, बिहार, नासिक, अजन्ता, कान्हेरी, एलोरा आदि स्थानों में भी हैं। इनमें भिक्षुओं के रहने के छोटे-छोटे कमरों की सुन्दर व्यवस्था रहती थी।

अशोक के स्तम्भ भी वास्तुनिर्माण-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ये रेतीले पत्थर के बने हुए हैं तथा साधारणतया पचास फुट ऊँचे और पचास टन वजन के हैं। इन पर इतना अच्छा लेप लगा हुआ है कि उसके कारण वे फौलाद के बने मालूम होते हैं। आज भी वह लेप ताजा ही मालूम होता है। कदाचित् यही वराहमिहिर-कृत बृहत्संहिता (अ० ५६) में उल्लिखित हजारों वर्ष टिकने वाले 'वज्रलेप' का

नमूना हो। दक्षिण कनाडा में स्थित जैन स्तम्भ भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन वास्तुनिर्माण-कला के उत्तम नमूनों के रूप में कितने ही प्राचीन मन्दिर वर्तमान हैं, जो ईसा की छठी, सातवीं या आठवीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में रामनगर में एक प्राचीन शिव-मन्दिर है, जो ईसा के पूर्व या पश्चात् की प्रथम शताब्दी का माना जाता है। इतिहास से पता चलता है कि गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म उत्कर्ष को पहुँच चुका था। सम्भव है कि उस समय बहुत से अच्छे-अच्छे मन्दिर बनवाए गए होंगे, किन्तु एक भी अवशिष्ट नहीं है। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् के जो मन्दिर हैं, उनके दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) उत्तर भारत के मन्दिर और (२) दक्षिण भारत के मन्दिर। इनके पुनः दो-दो उपविभाग किये जाते हैं—उत्तर-पश्चिम व उत्तर-पूर्व के मन्दिर, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के मन्दिर। उत्तर भारत के मन्दिरों की विशेषता के बारे में डॉ० स्मिथ लिखते हैं कि आर्यावर्त-शैली की विशेषता यह है कि उसमें ऊपर निकली हुई गुम्मद रहती है, जिसमें पसलियों के समान ऊपर उठी हुई रेखाएँ रहती हैं। यह बाँस की बनी हुई रथ के ऊपर वाली छत की नकल है। उत्तर-पश्चिम के मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनके शिखर सीधे रहते हैं, सिरे पर एक लम्बा शिखर रहता है, आस-पास बहुत से छोटे-छोटे शिखर रहते हैं। इन मन्दिरों का मुख्य शिखर चौरस आधार पर से चार स्थान पर ढाल बनाकर सीधा ऊपर उठता है और ऊपर के गोल पत्थर से मिल जाता है। इस प्रकार खजुराहो, नेमावर, खुर्दा, ऊन और ग्वालियर (मध्य भारत), तथा देउल (खानदेश, बम्बई प्रदेश), सिन्नर (नासिक जिला) आदि स्थानों में है। उत्तर-पूर्व के मन्दिरों की विशेषता यह है कि इनके शिखरों का आधार चतुर्भुज आकार का रहता है, किन्तु कोण अन्दर की ओर कमान बनाते हुए जाकर गोलाकार बनाते हैं। इस प्रकार के मन्दिर पुरी, भुवनेश्वर (उड़ीसा), सोहागपुर,

अमरकण्टक, छत्तीसगढ़ (मध्य-प्रदेश) आदि स्थानों में है।

पश्चिम दक्षिण (चालुक्य-शैली) के मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें शिखर नहीं रहते। उनका ऊपरी सिरा सीढ़ीदार 'पिरेमिड' के समान रहता है व ऊपर एक ठोस गुम्मद रहती है। इस प्रकार के मन्दिर बदामी (कर्नाटक), तञ्जौर (सुब्रह्मण्यम् का मन्दिर), काञ्ची (मुक्तेश्वर का मन्दिर) आदि के हैं। दक्षिण-पूर्व के मन्दिरों को 'गोपुर वाले मन्दिर' कहते हैं। इनके शिखर का ऊपरी भाग गोल या चौरस रहने के बदले लम्बे व गोल किनारों का रहता है। मदुरा में मीनाक्षी का मन्दिर, मद्रास में वेदगिरीश्वर का मन्दिर, त्रिचनापल्ली में तिरुचिन्न पतिराय का मन्दिर व तञ्जौर में राजराजेश्वर का मन्दिर इसी श्रेणी के हैं।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त काश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर नेपाल के मन्दिर तथा गुजरात व आबू पर्वत के जैन मन्दिर, जिनमें से दो संगमरमर के बने हुए हैं, अपनी-अपनी विशेषताओं से परिपूर्ण हैं, व कला की दृष्टि से सुन्दर हैं।

स्थापत्य, शिल्पकारी आदि—स्थापत्य, शिल्पकारी आदि के बारे में वैदिक काल का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता; किन्तु यजुर्वेद (३०।६-७, ११, १७, २०) में मणिकार, सुवर्णकार आदि का उल्लेख आता है, उसके सहारे कहा जा सकता है कि कदाचित् शिल्पकारी का ज्ञान उस समय रहा हो। क्योंकि गहने पहनने की भावना में ही कला की भावना भरी हुई है। मोहञ्जोदड़ो व हड़प्पा से यक्ष, पृथ्वी, पशुपति आदि की छोटी-छोटी सुन्दर मूर्तियाँ मिट्टी के छोटे-बड़े बरतन, खिलौने, सोने आदि के छोटे-छोटे फूल इत्यादि कला के सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं। मौर्य काल से स्थापत्यादि कला के विकास का स्पष्ट पता चलता है। इस काल की कला के अच्छे-अच्छे नमूने आज भी वर्तमान हैं। अशोक के स्तम्भों व उनके ऊपर के लेप से उत्कृष्ट कला का ज्ञान होता है। सारनाथ (बनारस) में जो अशोक का स्तम्भ

है, उसके ऊपरी छोर पर एक ही ओर पीठ किये हुए चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं, जो अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी गई हैं व जिनका चित्र स्वतन्त्र भारत ने अपनी राज-मुद्रा के लिए अपनाया है। ये मूर्तियाँ इतनी अच्छी व सजीवतापूर्ण हैं कि देखने में मालूम होता है कि साक्षात् सिंह ही बैठे हों। डॉ० स्मिथ का तो कहना है कि इतनी अच्छी मूर्ति बनाने की कला का ज्ञान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। इस समय की और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। बेसनगर (मध्य भारत) में स्त्री की दो बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ मिली हैं, जो बिलकुल सजीव मालूम होती हैं। परखम से प्राप्त मूर्ति, जो आजकल मथुरा के संग्रहालय में है, इस काल के कुछ पूर्व की कला का नमूना है। ऐसी ही मूर्तियाँ साँची से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तियों के अतिरिक्त, बौद्ध स्तूपों की पथरीली चहारदीवारी व उसमें बने हुए तोरणों पर खुदे हुए चित्रों की उत्कृष्ट कला से उस समय के कलाविदों के कौशल का पता चलता है। भारूत-स्तूप (ई० पू० दूसरी शताब्दी) की चहारदीवारी व तोरणों पर गौतम बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातकों की कथाएँ चित्र रूप में अङ्कित की गई हैं। एक स्थान पर नागजातक का वर्णन चित्रित है व दूसरे स्थान पर बुद्ध की माता मायादेवी का स्वप्न चित्रित किया गया है। तीसरे स्थान पर श्रावस्ती के जेतवन का चित्र है जिसमें भूमि, वृक्ष व विभिन्न स्थल व अनाथपिण्डर का सिक्कों से लदी बैलगाड़ी खाली करना चित्रित किया गया है। इसी प्रकार अजातशत्रु व प्रसेनजित् का एक बड़े जुलूस में बुद्ध से मिलना अङ्कित है। ऐसी कला बौद्ध गया के मन्दिर की चहार-दीवारी व स्तम्भों पर भी अङ्कित की गई है। साँची के स्तूपों की चहार दीवारी के तोरणों पर की गई कारीगरी में इस कला के सौन्दर्य की चरम सीमा होती है। इन तोरणों पर बौद्ध देवलोक, बिम्बिसार का बुद्ध के दर्शनों के लिए दरबारियों के साथ राजगृह से निकलना, निर-ञ्जना नदी के पूर में बुद्ध को डूबने से बचाने के लिए शिष्यों सहित

काश्यप का नाव में बैठकर शीघ्रता से जाना, बुद्ध का पानी की सतह पर से चलकर आना आदि का बहुत ही सुन्दरता से अङ्कन किया गया है।

शुङ्गकाल के पश्चात् इस कला के विकास के तीन विभिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे गान्धार-कला, मथुरा-कला व अमरावती (कृष्णा नदी के किनारे)-कला। जब बैक्ट्रिया के यूनानियों ने अफगानिस्तान व पञ्जाब को जीता, तब वे अपने साथ अपनी कला को भी ले आए। यह विदेशी कला स्थानीय वातावरण में पुष्पित व पल्लवित होकर आस-पास फैलने लगी। बैक्ट्रिया की कला से प्रभावित पश्चिमोत्तर भारत की कला को गान्धार-कला कहते हैं। प्रारम्भ में भारत में रहने वाले यूनानियों ने अपने कलाकारों द्वारा मूर्तियाँ, तथा मन्दिर आदि बनवाये। समय के प्रवाह से सब यूनानी बौद्ध या हिन्दू बन गए। इन यूनानी भारतीय कलाकारों ने सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति बनाना प्रारम्भ किया। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं। इन पर पत्थर में कपड़े के जो मोड़ बनाये गए हैं वे बिलकुल नैसर्गिक हैं। ये कलाकार बुद्ध की जीवन-घटनाओं व जातक-कथाओं को पत्थर पर अङ्कित करने लगे। कुशान-सम्राटों ने भी इस कला को अपनाया। कनिष्क के तीसरे वर्ष की बोधिसत्त्व की मूर्ति से भी, जो सारनाथ (बनारस) में मिली है, कला की उत्कृष्टता का पता चलता है। कनिष्क के राजत्वकाल में गान्धार के यूनानी कलाविदों ने मथुरा की मौलिक कला को सुधारा और यही सुधरी हुई कला मथुरा-कला के नाम से विख्यात हो गई। मथुरा-कला द्वारा गान्धार-कला ने भारत की विभिन्न कला-शैलियों को प्रभावित किया था। परखाम की मूर्ति व सारनाथ में बोधिसत्त्व की मूर्ति यूनानियों द्वारा परिष्कृत किये जाने के पूर्व की मथुरा-कला के नमूने हैं। यूनानी कलाकारों ने मथुरा की कला को इस प्रकार सुधारा कि गान्धार की मूर्तियों के ठीक समान मूर्तियाँ मथुरा में भी बनाई जाने लगीं। उन्होंने यूनानी वेश-भूषा का समावेश इसमें करा दिया।

यहाँ बुद्ध-चरित भी नये ढङ्ग पर चित्रित किया जाने लगा। हिन्दू व जैनियों की पुरानी-से-पुरानी मूर्तियाँ, जो आज उपलब्ध हैं, सब मथुरा के कलाकारों द्वारा ही बनाई गई हैं। शिव की सबसे पुरानी मूर्ति मथुरा में मिली है व कुशान-काल की बनी हुई है। सूर्य की भी सबसे पुरानी मूर्ति यहीं से मिली है, जो कुशान-काल की है। इसमें सूर्य के रथ में सात के बदले चार ही घोड़े जुते हुए हैं। मथुरा के पास माट नामी स्थान में प्राचीन काल में एक संग्रहालय था, जिसमें राजाओं व विख्यात व्यक्तियों की मूर्तियाँ इकट्ठो की गई थीं। इस संग्रह में कनिष्क, विम केडफिसा, चष्टन आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों पर राजाओं के नाम खुदे हुए हैं।

जैन मूर्ति-शास्त्र का प्रारम्भ भी मथुरा-काल से होता है। प्राचीन जैन मूर्तियाँ पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों पर पाई जाती हैं, जिन्हें, 'आयाग-पट्ट' कहा जाता था। ऐसे बहुत से 'आयागपट्ट' मथुरा में पाए जाते हैं, जिनमें से बहुतेरों पर जैन-स्तूप का चित्र खुदा हुआ है। ऐसे बहुत से टुकड़ों पर तीर्थंकरों के नाम खुदे हुए हैं; ऋषभदेव, पार्श्व और महावीर के नाम बहुतायत से पाए जाते हैं। ये पत्थर के टुकड़े मूर्तियों के नीचे के भाग में लगे होंगे। इन प्राचीन जैन मूर्तियों में आधुनिक मूर्तियों के समान वृक्ष, यक्ष, लाञ्छन, वाहन, शासनदेवी आदि नहीं दिखाई देते।

मथुरा-कला कुशान-साम्राज्य के पतन-काल तक वर्तमान रही। बाद में गुप्तों के काल में इसका पुनरुत्थान किया गया। इसने दक्षिण भारत के दो स्थानों (देनुबुलपादम् और अमरावती) की कला पर गान्धार-कला का प्रभाव डाला। यद्यपि अमरावती की कला में विदेशी प्रभाव के कुछ चिह्न पाए जाते हैं, तथापि वह पूर्णतया भारतीय है। यहाँ पर भी बौद्ध-स्तूप और बौद्ध मूर्तियाँ पाई गई हैं। गुप्तकाल में भी इस कला का अच्छा विकास हुआ था। इस काल के कला के नमूने ईसा की ४वीं शताब्दी से प्रारम्भ होते हैं। बेसनगर (मध्यभारत) के

पास उदयगिरि-गुफाओं में अच्छी शिल्पकारी की गई है। यहाँ पर नदी-देवता की जो मूर्ति है, वह विशेष उल्लेखनीय है। दिल्ली के पास ढले हुए लोहे का एक स्तम्भ है, जो इसी काल का है। इस समय के बने बहुत से पत्थर के स्तम्भ भी मिले हैं, जो अशोक के स्तम्भों के समान हैं। गुप्तकाल के पश्चात् भी इस काल का विकास होता रहा। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसके अच्छे नमूने मिलते हैं। अजन्ता, बाक, इलोरा आदि की गुफाओं में पत्थर को खोदकर जो काम किया गया है, वह सचमुच ही सराहनीय है। मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् भारतीय कला का विकास रुक गया और एक प्रकार से उसका अन्त हो गया।

चित्रकला—भारत की चित्रकला का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में प्रागैतिहासिक लोगों के बनाये हुए चित्र मिलते हैं। सरगुजा में कई जगह ऐसे चित्र प्राप्त हुए हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में भी कई गुफाओं में जंगली जानवरों और शिकार के चित्र मिले हैं। प्राचीन भारत में ऐतिहासिक काल में भी चित्रकला का अच्छा विकास हुआ था। बौद्ध जातक, रामायण, भास तथा कालिदास के नाटक, महावंश आदि में इस कला की लोकप्रियता का स्पष्ट उल्लेख है। भारत में आये हुए चीनी यात्रियों ने भी इस कला का उल्लेख किया है। भवभूति के उत्तर रामचरित के प्रथम अङ्क में अर्जुन चित्रकार द्वारा बनाये गए राम के वनवास-सम्बन्धी चित्रों को देखकर सीता ऐसी विह्वल हो जाती हैं कि राम को स्मरण दिलाना पड़ता है कि वह सब चित्र में है। जैन-ग्रन्थ नायधम्मकथा में एक मनोरञ्जक आख्यायिका है। मिथिला-नरेश कुम्भराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिए सुन्दर चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवारों पर एक चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अँगूठा देखकर उसका पूरा और सच्चा चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहन का चित्र चित्रशाला में देखा, तब उसके मन में चित्रकार तथा राजकुमारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ, और चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी गई।

परन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि भित्तिचित्र केवल चित्रकार की अनुपम कारीगरी का परिणाम है, तब उसकी कूँची, रंगों की डिबिया आदि तोड़-फोड़कर उसे हमेशा के लिए निर्वासित कर दिया। प्रासादों एवं चैत्यों के भित्तिचित्रों का एक रोचक वर्णन रामचन्द्रगणी-कृत कुमार विहारशतक में मिलता है। गुजरात के राजा कुमारपाल के बनाए जैन चैत्य का इसमें सुन्दर वर्णन है। एक स्थान पर लिखा है कि चित्र-शालाओं की दीवारें ऐसी रम्य और दर्पण-सी बनी हैं कि एक तरफ के बने हुए चित्र सामने की दीवारों पर प्रतिबिम्बित होते हैं।

प्राचीन चित्रों के अवशेष के आलोचनात्मक अध्ययन से चित्रकला के आश्चर्यजनक विकास का पता लगता है। इसके सबसे प्राचीन नमूने रामगढ़ पर्वत (बिहार) की जोगीमारा गुफा के चित्र हैं। इनका समय ई० पू० पहली और दूसरी शताब्दी बताया जाता है। इसके पश्चात् इस कला का उत्कृष्ट नमूना अजन्ता की गुफाओं के सुन्दर चित्रों में है। ये चित्र ई० स० ५० से लेकर ई० स० ६४२ तक के हैं। इस प्रकार इन गुफाओं में लगभग छः सौ या सात सौ वर्ष तक के इस कला के लगा-तार विकास के नमूने वर्तमान हैं। इटली के पॉम्पीआई नगर के अति-रिक्त दुनिया में और कहीं प्राचीन चित्रकला की इतनी सौन्दर्ययुक्त सामग्री नहीं है। इन चित्रों में अधिकांश का साँची की शिल्पकारी से घनिष्ठ सम्बन्ध दीखता है, इसलिए ये बहुत पुराने होने चाहिएँ। इनके अतिरिक्त बाघ (मालवा), एलोरा, सित्तन्नवासल, तन्जौर, काँची (दक्षिण भारत) आदि के मन्दिरों में भित्तिचित्र अभी तक वर्तमान हैं, जो कि ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी के बाद के हैं।

प्राचीन काल में चित्रकला को लोकप्रिय बनाने के लिए और उसे प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए चित्रशालाओं का आयोजन किया गया था। चित्रशाला में सभी श्रेणी के लोगों के मनोरञ्जनार्थ सामग्री उप-स्थित रहती थी। ये चित्र मस्त हाथियों से बालकों को, वानर, ऊँट व रथों से ग्रामीणों को, देवचरित्रालेखन से भक्तजनों को, इन्द्र के अन्तः-

पुरवासियों के चित्रों से रानियों को, नाना प्रकार के नाटकों से नटों को, देवासुर-संग्राम से वीरों को आनन्दित करते थे। बौद्ध जातकों में भी चित्ररचना के सम्बन्ध में ऐसे ही उल्लेख मिलते हैं। चित्रकला भारतीय संस्कृति का प्रधान अङ्ग थी। कविता और सङ्गीत के समान उसे सर्वत्र स्थान प्राप्त था। किन्तु अजन्ता के प्रासाद-मन्दिरों को छोड़कर प्राचीन भारत के भित्तिचित्र के अवशेष प्रायः नहीं जैसे हैं।

चित्रकला-सम्बन्धी शास्त्रीय साहित्य भी प्राचीन काल में अवश्य रहा होगा। इस प्रकार का कुछ साहित्य आज भी उपलब्ध है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इसका कुछ वर्णन है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण के प्रसिद्ध अध्याय चित्र-सूत्र में इसका विस्तृत उल्लेख है। ई० स० ११२६ में चालुक्य वंश के राजा सोमेश्वर ने अभिलषितार्थ चिन्तामणि या मानसोल्लास नाम का ग्रन्थ लिखा, जिसमें चित्रकला का विवेचन किया गया है। सोमेश्वर अपने को चित्रविद्या-विरञ्चि कहता है। उसके मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं। पहला प्रकार विद्धचित्र है, जिसमें वस्तु का साक्षात्कार होता है या उसकी साक्षात् प्रतिकृति होती है; परन्तु इस सादृश्य का अनुभव चित्रकार अपने मन से करता है। दूसरा प्रकार अविद्धचित्र कहलाता है, जिसका विधान आकस्मिक कल्पना से ही होता है। अविद्धचित्रों के प्रमाण उनके आकार-रचना में ही होते हैं। रसचित्र तीसरा और धूलिचित्र चौथा प्रकार है। केरल-निवासी श्री कुमार-कृत शिल्परत्न नामक ग्रन्थ में भी इस कला का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ प्राचीन परम्परा के आधार पर बना हुआ है। इसका समय ईसा की १६वीं शताब्दी है।

सङ्गीत कला—इसका प्रारम्भ भी अत्यन्त ही प्राचीन काल से हुआ है। प्राचीन गन्धर्व और किन्नर इस कला में निपुण थे। प्राचीन दन्तकथाओं के अनुसार इसका विकास गन्धर्वों द्वारा हुआ। इसलिए इसे गन्धर्व-विद्या और इसके ग्रन्थ को गन्धर्व-वेद कहा गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, जैसे दुन्दुभि, वाण (बाँसुरी)

और वीणा। वाण के मधुर शब्द का यम के निवास-स्थान में सुनाई देने का उल्लेख भी ऋग्वेद में है। कितने ही स्थलों पर सामन का भी उल्लेख आया है। सामवेद का गाया जाना तो लोक-प्रसिद्ध है। ऋग्वेद काल में सामगान लोगों को पूर्णतया ज्ञात था। यजुर्वेद (३०।६-७, ११।१७।२०) में भिन्न-भिन्न व्यवसायों के साथ में वीणा, बाँसुरी, शङ्ख आदि बजाने वालों का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार संगीत-कला का उत्तरोत्तर विकास होता ही गया; जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर आता है। लव-कुश द्वारा रामायण का गाया जाना, पातञ्जल महाभाष्य में कुशीलवों और उनके गीतों का उल्लेख तथा पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अर्जुन का बृहन्नला बनकर राजा विराट के यहाँ राजकुमारी को नृत्य, गायन आदि सिखाने का उल्लेख, नाट्य और सङ्गीत का घनिष्ठ सम्बन्ध आदि सङ्गीत-कला के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

प्राचीन काल में राजा व धनाढ्य लोग इस कला के विशेष प्रेमी थे। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त स्वतः सिद्धहस्त गवैया था, जिसने नारद व तुम्बुरु को भी नीचा दिखा दिया था। वह सिक्कों पर वीणा बजाते हुए अङ्कित किया गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिनसे राजा की छत्रछाया में सङ्गीत के विकास का पता लगता है।

इस कला का शास्त्रीय ढंग पर वर्णन सर्वप्रथम भरतमुनि-कृत नाट्यशास्त्र में मिलता है। भामह आदि आलङ्कारिकों ने भी अपने अलङ्कार-ग्रन्थों में इसका कुछ-कुछ वर्णन किया है। इस सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण साहित्य इस प्रकार है—भारतीय नाट्यशास्त्र, भामह-कृत अलङ्कारशास्त्र, मतङ्ग-कृत बृहद्देशी, कल्लिनाथ-कृत सङ्गीत-रत्नाकर, रागविबोध, सङ्गीत-परिजात, सङ्गीत-दर्पण। इन ग्रन्थों में इस कला का शास्त्रीय वर्णन किया गया है। प्राचीन सङ्गीत-कला के मूल तत्त्व श्रुति, जाति, ग्राम, राग आदि थे। आधुनिक सङ्गीत-कला इन तत्त्वों

पर नहीं बनी। वह तो देशी राग-रागिनियों पर बनी है, जो बाद के गवैयों ने भिन्न-भिन्न समय पर बनाए थे। मुख्य राग छः हैं, जो भिन्न भिन्न समय गाये जाते हैं। जैसे हिन्दौल, श्रीराग, माघमल्लार, दीपक, भैरव व मालकौंस। इनसे सम्बन्धित ३६ रागिनियाँ हैं। फिर उनके भी बहुत से भेद-उपभेद हैं जिनकी गिनती करना भी मुश्किल है। आधुनिक सङ्गीत-कला के शास्त्रीय विकास का श्रेय गत चार सौ वर्ष के गवैयों को मिलना चाहिए। उत्तर भारत के नामी गवैयों में एक प्राचीन दन्तकथा प्रचलित है कि यथार्थ में सङ्गीत विद्या के चौदह प्रकार हैं, जिनमें इसका वर्तमान स्वरूप भी एक है। वर्तमान शैली का आधार हनुमान के सिद्धान्त हैं। अन्य ग्रन्थों में भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हनुमान इस शास्त्र के प्राचीन लेखकों में से थे। सङ्गीत-रत्नाकर, सङ्गीत-पारिजात सङ्गीत-दर्पण, राग-विबोध आदि में हनुमान को गान्धर्व विद्या का लेखक कहा गया है एक और स्थान पर उसके ग्रन्थ के कुछ उद्धरण भी दिये गए हैं।

अन्य विद्याओं के समान सङ्गीत विद्या ने भी विदेशों को प्रभावित किया था। यह विद्या भारत से ईरान, अरब आदि देशों में होती हुई ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप पहुँच गई थी। अत्यन्त प्राचीन काल में भी इसके यूनान पहुँचने के प्रमाण मिलते हैं। स्ट्रैबो के कथन से मालूम होता है कि प्राचीन यूनानी स्वतः इस बात को स्वीकार करते थे कि उनकी गायन विद्या भारत की देन है। भारत के वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यों का भी यूरोप में प्रचार हुआ था। वर्तमान भारतीय सङ्गीत-कला के समान शास्त्रीय ढङ्ग पर विकसित किसी अन्य देश की कला नहीं है।

नृत्यकला—नृत्यकला का उल्लेख प्राचीन संस्कृत-साहित्य में आता है। ऋग्वेद (१।९२।४;६।२९।३) में नृत्यकला-प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है, जो अपनी विशेष पोशाक में सज-धजकर नृत्य करती हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि उषा चमकीले वस्त्र धारण करके प्राची

दिशा में नर्तकी के समान दिखाई देती है। पुरुष सुवर्ण आदि के आभूषणों से सुसज्जित होकर युद्ध-सम्बन्धी नृत्य का प्रदर्शन करते थे। यजुर्वेद (३०।२१) में 'वंशनर्तिन्' का उल्लेख है, जो बाँस पर नाचा करता था। रामायण में लिखा है कि अयोध्या में नृत्य और गीत रात-दिन हुआ करते थे। राजा लोग इन्हीं से सोते और जागते थे। वानर-राज बालि के यहाँ अन्तःपुर में रानियों के मनोरञ्जनार्थ इस कला का प्रदर्शन किया जाता था। एक नृत्य-कला-निष्णात नर्तकी ने अपनी कला-पटुता से रावण को मोह लिया था। महाभारत में राजा विराट के यहाँ अर्जुन का वृहन्नला के रूप में राजकुमारी को नृत्यकला सिखाना उल्लिखित है। बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता था कि बौद्ध भिक्षु नृत्यादि के प्रदर्शन में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में लिखा है कि राजभवन में नृत्यशाला भी रहती थी। उसमें दो नाट्याचार्यों का उल्लेख है, जो मालविका आदि को नृत्य, संगीत अभिनय आदि सिखाते थे। इस नाटक में उद्धत, लास्य आदि नृत्य के भेदों को क्रमशः शिव और पार्वती से सम्बन्धित किया गया है।

नृत्य-कला के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र है। भरत मुनि ने संगीत, नृत्य, नाट्य आदि ललित कलाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ रत्नाकर में नृत्य का विस्तृत विवेचन किया है। इन ग्रन्थों से नृत्य के प्रकार आदि के विषय में मनोरञ्जक बातें मालूम होती हैं। इनमें कहा गया है कि ताण्डव-नृत्य का एक प्रकार है जिसके पुरस्कर्ता शिव थे। शिव ने अपने शिष्य को इसका ज्ञान दिया और उसने भरत मुनि को। शिव का सच्चा ताण्डव तो महाप्रलय के समय होता है, जब कि विश्व का विनाश प्रारम्भ होता है। पतञ्जलि और व्याघ्रपाद ऋषि की प्रार्थना से शिव ने 'आनन्द-ताण्डव' का प्रदर्शन किया था। उस समय चतुर्मुखी ब्रह्मा ताल देते थे, महाविष्णु मृदङ्ग बजाते थे, तथा तुम्बरु व नारद साथ-साथ गाते थे। इस कला का दूसरा प्रकार नृत्त है, जो कि

विशुद्ध और सरल नर्तन-मात्र ही है। इसमें भावभंगी, भाषा आदि का समावेश नहीं होता। उसका तीसरा प्रकार लास्य है, जिसका सम्बन्ध स्त्रियों से है। इसीलिए इसको पार्वती ने अपनाया था।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी इस कला का बहुत महत्त्व था। इसका संस्कारितापूर्ण विकास राजाओं और धनाढ्यों के आश्रय में हुआ। प्राचीन भारत में इस कला को सामाजिक क्षेत्र में भी अपनाया गया था। मनोरञ्जन के विशिष्ट अवसरों पर समाज के स्त्री-पुरुष भी सामूहिक या वैयक्तिक रूप से नृत्य-कला का प्रदर्शन करते थे। गुजरात का 'गर्बा' नृत्य आज भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है। मलाबार के 'कथकली', 'चाक्यारकूत्त' आदि व 'मणिपुर नृत्य' आज भी इस कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। धर्म का क्षेत्र भी इस कला के प्रभाव से न बच सका। कृष्ण और गोपियों की रास-क्रीड़ा के रूप में इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता बढ़ने लगी। भक्ति-स्रोत में नृत्य का स्रोत भी मिल गया और ये दोनों सम्पूर्ण भारत में बह निकले। मीरा, तुकाराम आदि भक्तों के जीवन में भी ये दोनों धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आज भी इन धाराओं को कथा, कीर्तन, भजन आदि में देखा जा सकता है। दक्षिण भारत के मन्दिरों की देवदासियों ने भी 'भारत नाट्यम्' आदि के रूप में इस कला को रक्षित रखने का कुछ कम प्रयत्न नहीं किया है।

(२)

विज्ञान

प्राचीन भारत में गणित, ज्योतिष, भौतिक शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आयुर्वेद आदि का पर्याप्त विकास किया गया था। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इन शास्त्रों के मूल तत्त्वों का ज्ञान वैदिक काल में भी था। आगे

भी ये शास्त्र उत्तरोत्तर वृद्धि ही करते गए, जिससे भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण विकास में अच्छी सहायता प्राप्त हुई।

गणित—अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। उस समय छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (१७।२) में इन संख्याओं का उल्लेख है—एक; दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त व परार्ध। इस (यजु० १८।२५) में दो और चार के पहाड़े का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि अङ्कगणित के मौलिक तत्त्व वैदिक काल में पूर्णतया ज्ञात थे। शतपथ ब्राह्मण के अग्नि-चयन प्रकरण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की संख्या ४,३२००० दी है। इसी प्रकार, अन्य वेदों के अक्षरों की गणना भी की गई है। वैदिक काल के पश्चात् भी अङ्कगणित का विकास होता रहा। गणित की 'सशून्य दशांश गणनाविधि' का आविष्कार भारतीय गणितज्ञों ने ही किया, जिसके लिए समस्त विश्व सदैव उनका ऋणी रहेगा। ई० स० ४०० तक के किसी शिलालेख में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। आर्यभट (ई० स० ४७६) को इस गणनाविधि का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि उसने वर्गमूल और घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है। वराहमिहिर (ईसा की छठी या सातवीं शताब्दी) को इसका ज्ञान था; क्योंकि उसने ३७५० संख्या को 'ख-बाण-अद्रि-रामाः' लिखा है। बाईं ओर से गिनने से राम ३ का, अद्रि ७ का, बाण ५ का व ख अर्थात् आकाश शून्य का सूचक है। ब्रह्मगुप्त (ई० स० ६२४), श्रीधर (ई० स० १०००), पद्मनाथ (ई० स० ११२४) आदि के ग्रन्थों को पढ़ने से मालूम होता है कि उन्हें इस विधि का ज्ञान था। ई० स० ६९५ वर्ष के सनखेड़ा-लेख में कालचुरी संवत् ३४६ पहले शब्दों में लिखा गया है और फिर अङ्कों में, जिससे उक्त विधि के ज्ञान का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। पंजाब के बक्खली गाँव में ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का अङ्कगणित-सम्बन्धी एक हस्तलिखित

ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें उक्त विधि का उपयोग किया गया है। ईसा की १०वीं शताब्दी के पश्चात् सब शिलालेखों में इस विधि का उपयोग किया गया है। अरबों ने इस विधि को भारतीयों से सीखकर ईसा की १२वीं शताब्दी में इसका प्रचार विश्व में किया।

रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है। यज्ञों की वेदियाँ व उनकी ईंटें निश्चित आकार की रहती थीं। इस प्रकार रेखागणित का विकास हुआ। यज्ञ-वेदी आदि से सम्बन्धित मन्त्रों में प्रभा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द (ऋ० १०।१३२।३) आदि रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। शुल्व-सूत्र (बौधायन, कात्यायन और आपस्तम्ब) भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन सूत्रों के लिए ई० पू० ५०० के लगभग का समय सरलता से निश्चित किया जा सकता है। इनमें यज्ञ की वेदी के आकार, नाप आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनमें कोण, त्रिकोण आदि नापने की रीति समझाई गई है। इनके समय में वर्ग, त्रिकोण, वृत्त, विभिन्न कोण आदि बनाने के नियम विकसित कर लिये गए थे। इनमें वर्णित रेखागणित के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(१) कुछ समीकरण, जैसे $३^२ + ४^२ = ५^२$; $५^२ + १२^२ = १३^२$; $१५^२ + २०^२ = २५^२$ आदि; (२) चतुर्भुज के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि; (३) वर्ग के क्षेत्रफल के लगभग बराबर क्षेत्रफल वाला वृत्त बनाने की विधि; (४) $\sqrt{२} = १ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३} \times ४ - \frac{१}{३} \times ४ \times ३४$ (बौधायन शुल्व० १।६१-६२; आपस्तम्ब शुल्व० १।६; कात्यायन शुल्व० २।१३); (५) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि; (६) किन्हीं दो वर्गों के क्षेत्रफल के अन्तर के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि; (७) बौधायन शुल्वसूत्र के अनुसार यदि अ एक वर्ग की भुजा हो व ड एक वृत्त का व्यास हो जिसका क्षेत्रफल $अ^२$ माना गया है तो

$$\text{अ} = \text{ड} \left(१ - \frac{१}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६८ \times ८}\right),$$

अर्थात् $\frac{\text{अ}}{\text{ड}} = \frac{१२२४}{१३९४}$। इन शुल्व-सूत्रों के पश्चात् लगभग हजार वर्ष तक इस विषय का कोई साहित्य प्राप्त नहीं है। इसके पश्चात् आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि ने पुनः इस विद्या को जीवन प्रदान किया। धीरे-धीरे रेखागणित का सम्बन्ध धर्म से छुड़ाकर ज्योतिष-शास्त्र से जोड़ा गया। इसलिए विभिन्न कोणों की विशेषताओं को समझने के प्रयत्न किये जाने लगे, व इस समय के गणितज्ञ नये-नये सिद्धान्तों का आविष्कार करने लगे, जैसे ब्रह्मगुप्त द्वारा वृत्तस्थ चतुर्भुज की विशेषताओं का ढूँढ़ा जाना। इस प्रकार एक विशेष रेखागणित का विकास किया गया। ज्योतिष के लिए त्रिज्यामिति के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, इसलिए उसका भी पर्याप्त विकास किया गया था।

बीजगणित का अङ्कगणित और रेखागणित से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों तो इसका भी प्रारम्भ बहुत पहले से हुआ था, किन्तु ई० स० ४०० व १४०० वर्ष के बीच में इसका विशेष विकास हुआ। आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि, वृत्त के प्रश्नादि का वर्णन किया है। उसने ज्या (Sine) के कार्यों का भी वर्णन किया है। इसके द्वारा आकाश में विभिन्न नक्षत्रों की यथावत् स्थिति को अच्छी तरह समझ सकते हैं। टोलेमी (ईसा की दूसरी शताब्दी) को ज्या के कार्यों का पता नहीं था। पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि ज्या के कार्यों को सर्वप्रथम अरब-गणितज्ञों ने ढूँढ़ा था। किन्तु यथार्थ में ज्या के कार्यों को सर्वप्रथम ईसा की ५वीं शताब्दी में भारतीय गणितज्ञ आर्यभट्ट ने ढूँढा है। वराहमिहिर के पौलश-सिद्धान्त में भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है। ब्रह्मगुप्त भी बीजगणित और रेखागणित का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसी ने सर्वप्रथम यह ढूँढा था कि अ^{२} का वर्गमूल + अ हो सकता है। उसने 'अनिश्चित प्रश्नों'

(Indeterminate Problems) को भी समझने का प्रयत्न किया था।

ज्योतिष—इसका प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। यज्ञों के समय आदि के ज्ञान के लिए ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास हुआ। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि का ज्ञान था। वे वर्ष के बारह महीने तथा लौंध मास भी जानते थे (शतपथ० २।२।१।२७)। तैत्तिरीय संहिता (४।४।१०) में लिखा है कि तीस दिन का साधारण मास चान्द्रमास से थोड़ा बड़ा रहता है; चान्द्रमास २९½ दिन का होता है। उस समय चन्द्र की कलाओं का भी ज्ञान वर्तमान था। शतपथ ब्राह्मण (१।६।४।५) में लिखा है कि चन्द्र व सूर्य का सहवास ही अमावस्या है। चान्द्र व सौर वर्ष के अन्तर का भी ज्ञान था। ऋभुओं को ऋतुओं के समान माना गया है और कहा गया है कि उन्होंने बारह दिन तक काम बन्द कर दिया तथा सूर्य के घर में वास किया (ऋ० ४।३३-३७; ऐतरेय० ३।३०।२)। इस समय सूर्य व चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था। एक मत ऐसा भी है कि पाँचवें मण्डल के मन्त्र-द्रष्टा अत्रि ऋषि इन ग्रहणों को पहले से जान सकते थे। चित्रा, रेवती, पूर्व फाल्गुनी, मघा आदि नक्षत्रों का ज्ञान भी वैदिक काल में था; क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद (१०।८५) के विवाह-सम्बन्धी सूक्त में है।

वैदिक काल में ज्योतिष का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि वेदाङ्गों में इसका भी समावेश किया जाने लगा। लगध का वेदाङ्ग-ज्योतिष एक मामूली व छोटा ग्रन्थ है। तिलक इसे ई० पू० १४०० वर्ष, मैक्समूलर ई० पू० ३०० वर्ष तथा वेबर ईसा की पाँचवीं शताब्दी का बताते हैं। इसमें सूर्य व चन्द्र की गति को समझाने का प्रयत्न किया गया है। सूर्य ३६६ दिन में एक पूरा चक्कर लेता है। दिन का काल ६० घटिका बताया गया है। वर्ष को बारह सौर मासों में और मास को तीस दिन में विभाजित किया गया है (वेदाङ्ग-ज्योतिष—याजुस ज्योतिष २८-२९)। वेदाङ्ग-ज्योतिष और पञ्चसिद्धान्तों के बीच के समय के कोई

ग्रन्थ नहीं मिलते; किन्तु बहुत से ज्योतिषाचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख अवश्य आता है, जैसे वृहस्पति, पितामह, पराशर, गर्ग, सिद्ध-सेन, जीवशर्मा; लाटाचार्य, सिंहाचार्य, सावित्र-ग्रन्थ, षष्ठाब्द-ग्रन्थ आदि। अतएव इस काल में भी ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ था। सूर्य, वशिष्ठ, पैतामह, पौलस, रोमक आदि पञ्चसिद्धान्तों में इस शास्त्र की प्रगति का अच्छा पता चलता है। इनका समय लगध के पश्चात् व आर्यभट्ट (ई० स० ४७६) के पूर्व माना जाता है। इनमें सूर्य व अन्य ग्रहों को एक चक्कर लगाने में कितना समय लगता है, उसका विचार किया गया है। इस समय राशियों का नहीं था। पाँच वर्ष का युग माना जाता था, जिसमें दो लौंध मास, साठ सौर व सड़सठ चान्द्रमास रहते थे (वराहमिहिर-पञ्च सिद्धान्तिका २।२-६; १८।१-६०)। वेदाङ्ग ज्योतिष व पैतामह सिद्धान्त के अनुसार चान्द्र वर्ष ३६६ दिन का है। शास्त्रीय ढङ्ग पर ज्योतिष के विकास का प्रारम्भ ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आर्य भट्ट के समय से होता है। इस समय सूर्य आदि की गति का ठीक-ठीक पता लगाया गया था। सौर्य गति का समय ३६५ दिन, पाँच घण्टे, ५५ मिनट व १२ सेकण्ड निश्चित किया गया था, जोकि बिलकुल ही ठीक है। ग्रहण के सम्बन्ध में भी इस समय के आचार्यों का ज्ञान बहुत आगे बढ़ गया था। उन्हें राशि का ज्ञान भी हो गया था और दिवस के कम-अधिक होने का भी पता था आर्यभट्टीय-कालक्रिया, १७-१८; ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, १४।१०-१२; भास्कर २, गोलाध्याय, ५।७।१०-३२)। कुछ विद्वानों का मत है कि यूनानी ज्योतिष के प्रभाव के कारण ही भारतीय ज्योतिष की प्रगति हुई भारतीय ज्योतिष ने राशि का सिद्धान्त आदि यूनान से लिए हैं। भारतीय ज्योतिष के बहुत से परिभाषिक शब्दों में भी यूनान का प्रभाव झलकता है, जैसे हारिज (Horigon), कोण (Cone), केन्द्र (Centre), होरा (Hora) इत्यादि।

रोमक व पौलिश-सिद्धान्तों के नामों से उनका विदेशी होना स्पष्ट तया सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन ज्योतिषाचार्यों के जीवन व कार्य पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है।

आर्यभट्ट—इनका जन्म पाटलीपुत्र में ई० स० ४७६ में हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—आर्याष्टशतक व दशगीतिक। दूसरे ग्रन्थ में ग्रहण तथा ग्रहों की ठीक-ठीक गति पर विचार किया गया है, और मूल सूर्य-सिद्धान्त को आधार माना गया है।

वराहमिहिर—इन का जन्म ई० स० ५०५ के लगभग हुआ था। इनके टीकाकार पृथुस्वामी के मतानुसार इनकी मृत्यु ई० स० ५८७ में हुई। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं— वृहत्संहिता—इसमें फलित ज्योतिष का वर्णन है; पञ्चसिद्धान्तिका—यह करणग्रन्थ है; वृहज्जातक—इसमें भौतिक शास्त्र का वर्णन है, व लघुजातक। *श्रीशेष*—ये या तो वराहमिहिर के समकालीन थे, या उनके कुछ पीछे हुए। इनकी रोमक-सिद्धान्त पर टीका लोकप्रिय न हो सकी। *ब्रह्मगुप्त*—इनका जन्म राजस्थान के भिनमाल नगर में ई० स० ५९८ में हुआ। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र विचार-शक्ति द्वारा कितने ही सिद्धान्तों का आविष्कार किया। आर्यभट्ट के सिद्धान्तों से इनका बहुत मतभेद था। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—ब्रह्मसिद्धान्त—ईसा की १२वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य इसके सिद्धान्तों को मानते थे। यह ग्रन्थ अरबी भाषा में सर्वप्रथम अनुवादित किये जाने वाले ज्योतिष-ग्रन्थों में से है। खण्डखाद्य—इसका भी अनुवाद अरबी भाषा में किया गया था।

भास्कराचार्य—इनका जन्म खानदेश (बम्बई प्रदेश) के विज्जलवीड़ गाँव में ई० स० १११४ में हुआ था। ये ज्योतिष, गणित आदि के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। इन्हें गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान था, जब कि न्यूटन का जन्म भी नहीं हुआ था। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—सिद्धान्त-शिरोमणि—यह गणित का ग्रन्थ है। इसका पहला भाग

'पाटीगणित' या 'लीलावती' कहलाता है। इसमें अङ्कगणित व 'मेन्स्युरेशन' का वर्णन हैं। दूसरा भाग 'बीजगणित' व तीसरा भाग 'गोलाध्याय' है, जिसमें ज्योतिषशास्त्र का वर्णन है। करण-कुतूहल— यह ज्योतिष-ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त भास्कर-व्यवहार व विवाह-पटल भी इनके ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की लगभग बीस टीकाएँ प्राप्त हैं, जिनसे इनकी लोकप्रियता का पता लगता है।

भौतिकादि शास्त्र—भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणिशास्त्र, भूगर्भविद्या, धातुविद्या (इसे लौहशास्त्र भी कहते थे) आदि के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक काल के पश्चात् इन शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। इन विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे गए, जिनमें से कुछ आज भी मिलते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन भारत में दर्शन शास्त्र के साथ-ही-साथ तथा उसकी सहायता के लिए ही भौतिक आदि शास्त्रों का विकास किया गया था। प्राचीन भारत के वैज्ञानिक विकास के बारे में बहुत-कुछ जानकारी इन ग्रन्थों से प्राप्त होती है— पातञ्जल-सूत्र पर व्यासभाष्य, चरक संहिता, प्रशस्तपाद का भाष्य, उद्योतकर-कृत वार्तिक व वराहमिहिर की बृहत्संहिता।

भौतिक शास्त्र—प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दार्शनिक तत्त्वों की भूमिका में भौतिक शास्त्र-सम्बन्धी तत्त्व भी निहित थे, जिनको आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता से समझा जा सकता है। उनमें से कुछ तत्त्व हैं—(१) वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित एकत्व का सिद्धान्त, (२) त्रिगुणात्मक प्रकृति, (३) परमाणुवाद तथा गतिशीलता, (४) प्रकाश व उसका विश्लेषण तथा (५) शब्द आदि। उनका अल्प विवेचन इस प्रकार है—

(१) एकत्व का सिद्धान्त—शुक्ल यजुर्वेद (४०।७), छान्दोग्यादि उपनिषद् व वेदान्त-दर्शन में एकत्व के सिद्धान्त का बहुत ही अच्छा

प्रतिपादन किया है। मध्यकालीन विभिन्न आचार्यों ने 'तत्त्वमसि' के विवेचन द्वारा इस एकत्व पर और भी अधिक प्रकाश डाला है। यद्यपि यह एकत्व आध्यात्मिक धरातल का है किन्तु उसमें भौतिक एकत्व का भी भाव भरा है; क्योंकि भारतीय आचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् का वकास उसी एक परम तत्त्व से हुआ है। सांख्य-दर्शन ने इस विकास को व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार दृश्यमान अनेकत्व में एकत्व ही अन्तर्निहित है। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र के 'एलेक्ट्रान' आदि सिद्धान्त तथा आईन्स्टिन प्रभृति वैज्ञानिकों के नये शोध भौतिक जगत् में इसी एकत्व को प्रयोगात्मक रूप से स्थापित करते हैं।

(२) त्रिगुणात्मक प्रकृति—प्राचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को समझने का प्रयत्न किया था। प्राकृतिक जगत् का विकास मूल प्रकृति (Original Matter) से माना गया है, जैसा कि सांख्य-दर्शन ने माना है। मूल प्रकृति को सत्त्व, रज व तम आदि तीन गुणों की साम्यावस्था बताया गया है (ईश्वर कृष्ण-सांख्यकारिका ३)। सत्त्व से प्रकृति के अन्तर्निहित तत्त्व (Essence) का बोध होता है, रज से शक्तिमत्ता (Energy) व तम से स्तब्धता (Mass or Inertia) का बोध होता है। इन्हीं तीन गुणों में वैषम्य होने पर प्राकृतिक जगत् का विकास प्रारम्भ होता है।

(३) परमाणुवाद व गतिशीलता—भारतीय दार्शनिकों को परमाणु वाद (Atomic Theory) का भी ज्ञान था। पाश्चात्य जगत् को तो ईसा की १८वीं शताब्दी में डाल्टन ने इस सिद्धान्त का पाठ पढ़ाया। किन्तु कणाद ने कितने ही समय पूर्व उस सिद्धान्त को दार्शनिक जगत् के सामने उपस्थित किया था। वेदान्तियों, बौद्धों व जैनों ने भी अपने-अपने ढङ्ग पर इस सिद्धान्त को विकसित किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अत्यन्त ही छोटे-छोटे परमाणुओं की बनी हुई है। एक

परमाणु का आकार $\frac{१}{३४६५२५}$ इञ्च माना गया है। प्रकृति की गतिशीलता के कारण ये परमाणु मिलते हैं व पृथक् होते हैं। यह क्रिया अनादि काल से चली आती है। प्रकृति की गतिशीलता (Motion) के संयोग, विभाग, निरपेक्ष आदि के कारणों पर अच्छा विचार किया गया है। प्रशस्तपाद के मतानुसार प्रकृति की गतिशीलता विभिन्न प्रकार की होती है, जैसे तात्कालिक (Instantaneous) वेग (Impressed motion), संस्कार (a series of motions) आदि। उसके मतानुसार एक द्रव्य में एक समय में एक ही प्रकार की गति रहती है। इस गतिशीलता के और भी भेद बताये गए हैं जैसे (१) प्रयत्न —जो इच्छा से उत्पन्न होता है, (२) आकर्षण—पृथ्वी की ओर वस्तुओं का आकर्षण, (३) स्यन्दन—द्रव पदार्थों की गति, जैसे नदी का बहाव, (४) अदृष्ट के कारण गति, जिसका कारण समझ में न आ सके, (५) संयोगजन्य—परस्पर संयोग से उत्पन्न गति, (६) नोदन—दबाव के कारण उत्पन्न होने वाली गति, (७) अभिघात गति, (८) लचीले पदार्थ के संसर्ग से उत्पन्न गति, व (९) वेगद्रव्यसंयुक्तगति—किसी वेग वाली वस्तु के संयोग से उत्पन्न गति। 'नोदन' के भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत दरसाए हैं। उदयन अपना मत दरसाते हुए विमानों का भी उल्लेख करते हैं, जोकि यथार्थ में महत्त्वपूर्ण है (उदयन-किरणावली, वायुनिरूपण)। इस सम्बन्ध में डॉ० ब्रजेन्द्र नाथ शील लिखते हैं कि उदयन ने धूमादि से आपूरित चर्म्मपुट वाले विमानों का उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि उदयन के समय (ई० स० ९७० के लगभग) में भारतीयों को विमानों का ज्ञान था।

(४) प्रकाश (Light) व उसका विश्लेषण (Analysis)—प्रकाश के सात रङ्गों का ज्ञान भारतीयों को वैदिक काल से ही था। ऋग्वेद (१-५१-८; १-१०५-९; १-१५२) में सूर्य को सात घोड़ों के रथ में बैठने वाला, तथा 'सप्तरश्मि' अर्थात् सात प्रकार की किरणों वाला कहा गया

है। सूर्य की किरणों को अत्यन्त वेगवान् घोड़ों की उपमा देना बिलकुल ही उपयुक्त है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त ही शीघ्रगामी है।

(४) शब्द—प्राचीन भारत के दार्शनिकों ने शब्द के विभिन्न रूपों को भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर समझने का प्रयत्न किया था। उन्होंने शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया है। मीमांसकों के अनुसार शब्द के तीन भेद हैं, जैसे नाद, ध्वनि व स्फोट। न्याय वैशेषिक के अनुयायी 'वीचि-तरंग-न्याय' को मानते हैं, जिसके अनुसार शब्द हर क्षण आकाश में वृत्ताकार बनता है, और इस प्रकार हवा में सदैव बढ़ने वाले वृत्त बनते जाते हैं, जैसा कि जल पर दृष्टिगोचर होता है। घण्टे के कम्पन-युक्त शब्द का भी विश्लेषण किया गया था व उसे 'कम्पन-सन्तान-संस्कार' कहते थे। प्रतिध्वनि को शब्द की छाया माना जाता था। कोई-कोई उसे शब्द के पश्चात् तज्जन्य अन्य शब्द मानते हैं। सङ्गीत-सम्बन्धी श्रुति, स्वर आदि का भी वैज्ञानिक ढङ्ग पर विवेचन किया गया था, जिसका विवरण भारतीय नाट्य-शास्त्र के २८वें अध्याय में हैं।

रसायन शास्त्र—रसायन-शास्त्र का विकास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, क्योंकि आयुर्वेद के लिए इसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है, और वैदिक काल में आयुर्वेद का विकास प्रारम्भ हो गया था (अथर्व० ५।२३।१–७) यजुर्वेद में मणिकार, सुवर्णकार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातु-ज्ञान का पता लगता है। रसायन-शास्त्र के ज्ञान के बिना धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ समझ में आ ही नहीं सकतीं। रसायन-शास्त्र के विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण सुश्रुत चरक, पतञ्जलि, वराहमिहिर आदि के ग्रन्थों से मिलता है। चरकसंहिता के शरीर स्थान (१।२७।३१) में भौतिक द्रव्यों के गुणों का वर्णन है। पार्थिव द्रव्य गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, सान्द्र, गन्ध इत्यादि गुण वाले होते हैं। आप्य द्रव्यों में द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छल, सरस आदि बहुत से गुण रहते हैं। लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श आदि गुण वायव्य द्रव्यों में होते हैं। मृदु,

लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द आदि बहुत से आकाशात्मक गुण हैं। सुश्रुतादि ने महाभूतों के परस्पर सम्मिश्रण का उल्लेख किया है। (सुश्रुत, सूत्रस्थान १४।७–६)। आकाश में वायु, अग्नि व जल का, वायु में अग्नि, जल तथा अणुता विशेष से भूमि का, अग्नि में धूमादि रूप से भूमि आदि का समावेश रहता है। पतञ्जलि के लौह-शास्त्र से बहुत-सी रासायनिक क्रियाओं (Metallurgical and chemical Processes) का पता लगता है; विशेषकर धातु-सम्बन्धी क्षार (Metallic salts), विविध सम्मिश्रण (Alloys and amalgums) आदि बनाने, धातु निकालने व शुद्ध करने की विधियों का स्पष्ट ज्ञान होता है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है; किन्तु इसके बहुत से उद्धरण बाद के ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कदाचित् पतञ्जलि ने ही सर्वप्रथम 'विद' नामी मिश्रणों (Mixtures) का पता लगाया था। नागार्जुन ने, जो लौह-शास्त्र का अच्छा विद्वान् था, पारे को बनाकर रासायनिक सम्मिश्रणों (compounds) के ज्ञान में वृद्धि की थी।

प्राचीन भारत में रसायन-शास्त्र की सहायता से औद्योगिक विकास भी किया गया था। वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (अ० ५६) में विविध, लेप, चूर्ण आदि बनाने की विधि का उल्लेख किया है। इन लेपों में एक 'वज्रलेप' भी है, जिसका उपयोग कदाचित् अशोक के स्तम्भों पर किया गया है। इन लेपों का उपयोग बौद्ध काल के मन्दिर, मठ आदि में किया जाता था। अशोक के स्तम्भ रेतीले पत्थर के बने हैं; किन्तु इस वज्रलेप के कारण कितने ही दर्शकों ने समझा कि वे फौलाद के बने हैं। यह लेप बाईस सौ वर्ष पश्चात् भी ज्यों-का-त्यों है और वराहमिहिर के कथन को सत्य प्रमाणित करता है। इसी प्रकार बिहार में जो आजीविकों की गुफाएँ (मौर्य काल) हैं, उनकी दीवारों पर भी ऐसा ही लेप अब भी वर्तमान है, जिसके कारण वे काँच के समान चमकती हैं। वराहमिहिर ने इन लेपों के अतिरिक्त शिलादारण, शस्त्रपान, वृक्षायुर्वेद आदि का भी उल्लेख किया है (बृहत्संहिता,

३२।११२–११७; खड्गलक्षण, ४९।२३-२६)। उसने 'यन्त्रविदः', 'यन्त्रज्ञाः' आदि तथा भिन्न-भिन्न रङ्गों और सुगन्धित द्रव्यों को बनानेवालों 'रागगन्धयुक्तिविदः' का उल्लेख किया है (बृहत्संहिता, अ० १५,१६)। उसने सुगन्धित द्रव्यों का भी वर्णन किया है, जिसमें बकुल, उत्पल, चम्पक, अतिमुक्तक आदि पुष्पों के तत्त्वांश की सहायता से वैसी ही सुगन्धि वाले कृत्रिम द्रव्यों को बनाने की विधि वर्णित है (बृहत्संहिता, अ० ७६)। रसायन-शास्त्र का ज्ञान वराहमिहिर आदि के पश्चात् भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। संस्कृत-साहित्य से इस सम्बन्ध के कितने ही प्रमाण उपलब्ध हैं। गुणाढ्य-कृत वासवदत्ता में रसायन-शास्त्र के विद्वानों का उल्लेख है। दण्डी को दशकुमारचरित में योग-चूर्ण का, जिसके सेवन से एकदम गहरी नींद आ जाती थी, तथा योगवर्तिका का, जो अग्नि के बिना प्रकाश देती थी, उल्लेख है। वासवदत्ता में एक ऐसे चूर्ण का भी उल्लेख है, जिससे शरीर की सब क्रियाओं का स्तम्भन हो जाता था। वृन्द (ई० स० ९५०) ने रसामृतचूर्ण (sulphide of mercury) के बनाने का उल्लेख किया है। इससे एक भाग गन्धक और आधा भाग पारा रहता था। उसने पर्पटीताम्र (Cuprous sulphide) का भी उल्लेख किया है। भस्मीकरण, अधः-पातन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन आदि द्वारा विभिन्न रसायनों के बनाने का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में आता है।

वनस्पति-शास्त्र—ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि में सब जीवधारियों को दो विभागों में बाँटा गया है—तस्थुष् (स्थावर) व जगत् (जंगम) और सूर्य को उनकी आत्मा कहा गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी सूर्य को समस्त जीवन-शक्ति का स्रोत मानते हैं। वेदों (ऋग्वेद, १।३२।५,२।१।४,८।४३।९; वाजसनेयी सं० २२।२८; तैत्तिरीय सं० ७।३।१९।१, ७।३०।२०; अथर्व० १०।७।३८) तथा उपनिषदों (बृहदारण्यक ४।६।१) में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आया है कि वनस्पतियों में जीव है और उन्हें भी जागृति, सुख, दुःख आदि का अनुभव होता है।

वैदिक काल के पश्चात् भी इस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। उदयन ने वनस्पतियों के जीवन, मरण, निद्रा, जागृति, रुग्णता, औषध्युपचार, अनुकूल के प्रति आकर्षण, प्रतिकूल से अपकर्षण आदि पर विशेष प्रकाश डाला है (उदयन-पृथिवी-निरूपण)। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मानव शरीर के समान वृक्षादि भी जीते, मरते, सोते, जागते, बीमार होते और भेषज-प्रयोगादि करते हैं। इनमें सुख-दुःख-समन्वित अन्तः-संज्ञा भी रहती है। महाभारत (शान्ति-पर्व) में लिखा है कि इन पर गरमी, ठण्ड, मेघ-गर्जन, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का प्रभाव पड़ता है, तथा इनमें इन्द्रिय-ज्ञान भी रहता है। वृक्ष सुनते, देखते, सूँघते और जलादि का पान करते हैं। चरक, सुश्रुत, उदयन आदि ने अपने ग्रन्थों में वनस्पति-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा है। उन्होंने वनस्पतियों के भिन्न-भिन्न विभाग बताए हैं। चरक (चरक सं० सूत्रस्थान १।७१ ७२) ने वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि और वीरुध ऐसे चार विभाग बयाये हैं। सुश्रुत (सुश्रुत सं०, सूत्रस्थान १।२६) ने भी इन्हीं विभागों को माना है। चक्रपाणि ने अपनी चरक की टीका में वनस्पतियों के दो मुख्य भेद किये हैं, जैसे वीरुध और औषधि। इन दोनों के भी दो-दो उपभेद बताये गए हैं।

प्राणि शास्त्र—प्राचीन काल में वनस्पति-शास्त्र के समान प्राणि-शास्त्र का भी विकास हुआ था। वेद, उपनिषद् आदि में यत्र-तत्र प्राणियों की उत्पत्ति, विभाजन आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ मालूम होता है, जिससे तत्कालीन प्राणि-शास्त्र के ज्ञान का पता चलता है। किन्तु चरक, सुश्रुत, प्रशस्तपाद, उमास्वाती (ई० स० ४१) आदि के ग्रन्थों तथा पौराणिक साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से इस शास्त्र का विवेचन किया गया है। चरक ने प्राणियों के मुख्य चार विभाग किये हैं, जैसा कि सुश्रुत ने भी किया है, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। प्रशस्तपाद ने इनके दो और विभाग किये हैं—योनिज और अयोनिज। पुराण आदि ग्रन्थों में विभिन्न पशुओं की कितनी ही विशेष-

ताएँ बताई गई हैं। उमास्वाती ने कुछ पशुओं के लक्षण इस प्रकार बताए हैं। रुरु—यह एक प्रकार का मृग है। इसके बहुत से विकट विषाण होते हैं और देह शम्बराकार होती है तथा यह सदा जल के समीप विचरण करता है। यह शरद ऋतु में अपने सींगों को त्याग देता है तथा रोने लगता है। इसलिए इसे 'रुरु' कहते हैं। कारण्डव—यह सफेद हंस का एक भेद है। यह छोटा होता है। कोई-कोई इसे 'करहर' भी कहते हैं। इसका कौए के समान मुख और लम्बे पैर होते हैं। कङ्क—इसकी चोंच लम्बी होती है और बाणपत्र के समान पङ्ख होते हैं। इसके पैर लम्बे होते हैं और पङ्खों के नीचे पीला रङ्ग होता है।

भूगर्भ-विद्या—प्राचीन भारत में इन शास्त्रों के अतिरिक्त भूगर्भ-विद्या, धातु-विद्या आदि का ज्ञान भी वर्तमान था। पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा कहना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयों ने पृथ्वी में से नाना प्रकार की बहुमूल्य धातुएँ खोद निकाली होंगी। इसीलिए तो उसे 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' कहा गया। इसके अतिरिक्त वेदों में सोना, चाँदी, ताम्बा आदि भिन्न-भिन्न धातुओं का स्पष्ट उल्लेख आता है (ऋ० १।४७।३, १।१६३।६, ४।२।१७, ४।१०।६, १।१२२।२)। पुराण आदि में सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन में पाँच तत्वों का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए पृथ्वी की बनावट पर भी प्रकाश डाला गया है (ब्रह्माण्ड, पूर्व भाग, अ० ३-६, ८-११,१४)।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के विकास का प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद से आयुर्वेद-विषयक बहुत सी बातें मालूम होती हैं। ऋग्वेद (८।७१।२,४) में अश्विनीकुमार के टूटे पैर को जोड़ देने की प्रार्थना की गई है और शरीर के भग्न अंगों को कृत्रिम साधनों से ठीक करने का उल्लेख है। अथर्ववेद (२।३१-३३) में विभिन्न रोगों का तथा उनके उत्पादक कीटाणुओं का वर्णन है। इन रोग-कीटाणुओं के सम्बन्ध में अथर्ववेद में लिखा है—"सूर्य भी ठीक सामने से आए तो वह स्वयं सबको दृष्टिगोचर होकर न दीखने वाले

रोग-कीटों का नाश करता है; क्योंकि वह अपनी तेज किरणों से दीखने और न दीखने वाले सब कीटों का नाशकर्ता तथा उच्छेदकर्ता है। ये वाष, कष्मक, एनत्, शिपिविन्तुक आदि नाना प्रकार की रोगकीट-जातियाँ और दिखाई देने वाला तथा न दिखाई देने वाला रोगकीट भी मार दिया जाय।" चरकसंहिता के विमान-स्थान में इन रोग-कीटाणुओं के बारे में लिखा है कि "सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः" अर्थात् कई प्रकार के कीटाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे आँखों से नहीं दिखाई पड़ते। शतपथ ब्राह्मण (१०।५।४।१२; १२।३।२।३ और आगे) में मनुष्य के शरीर की सब हड्डियों की पूरी संख्या दी है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद बनाना ही उसके महत्त्व और विकास का द्योतक है। जनश्रुति (सुश्रुत सं०, सूत्रस्थान १।६-७) के अनुसार आयुर्वेद के ८ भेद थे, जिनमें पिशाचों द्वारा उत्पादित और विषों से उत्पन्न होने वाले रोगों का भी समावेश होता है। प्राचीन काल में आयुर्वेद के साधारणतया ८ विभाग माने गए थे, जो कि इस प्रकार हैं—(१) शल्य —इसमें बाण, काँटे, लकड़ी आदि बाह्य पदार्थ निकालने की विधि तथा फोड़े, फुन्सी आदि को चीर-फाड़ द्वारा सुधारने की क्रिया का समावेश होता है। (२) शालाक्य—यह आँख, कान, नाक आदि की बीमारियों से सम्बन्धित है। (३) काय-चिकित्सा—इसमें रुग्ण शरीर के लिए औषधि आदि के उपचार का समावेश होता है। (४) भूतविद्या—इसका भूत, पिशाचादि के प्रभाव को दूर करने की विधि से सम्बन्ध है। (५) कुमार-भृत्य—यह बालकों के स्वास्थ्य तथा बच्चों की माँ, धाय आदि के रोगों से सम्बन्धित है। (६) अगद—इसमें दवा देने को क्रिया, विधि आदि का समावेश होता है। (७) रसायन—यह विविध रसायन आदि बनाने से सम्बन्धित है, (८) वाजीकरण—इसमें मानव-जाति की वृद्धि के लिए प्रयोगादि का समावेश होता है।

बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन आयुर्वेद के विकास का स्पष्ट पता लगता है। अशोक के लेखों से मालूम होता है कि उसने अपने

राज्य में स्थान-स्थान पर औषधालय खुलवाए थे तथा उत्तम-उत्तम जड़ी-बूटियाँ विदेशों में भिजवाई थीं। इस समय के शल्यकर्म के विकास के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। विनयपिटक के महावग्ग (६।१–१४) में लिखा है कि अश्वघोष ने एक भिक्षु के भगन्दर रोग पर शल्यकर्म का प्रयोग किया था। उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिषक आयुर्वेदान्तर्गत शल्य-चिकित्सा का बड़ा भारी विद्वान् हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन महावग्ग में मिलता है। उसने · शरोरोग, कामला आदि विषम रोगों के आराम करने में प्रसिद्धि पाई थी। चीर-फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाये जाते थे, परन्तु राजा एवं सम्पन्न लोगों के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे (सुश्रुत सं०, सूत्रस्थान, अ० ८)। प्राचीन आचार्यों (सुश्रुत सं० २५।१-२) ने आठ प्रकार के शल्यकर्म माने थे, जिनमें से कुछ ये हैं—विस्राव्य—रुधिर का विस्रवण करना; सीव्य—दो भागों का सीना; लेख्य—चेचक के टीके आदि में कुचलना आदि। अर्श, भगन्दर, योनि-रोग, मूत्रदोष, आर्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के शल्यकर्म का विवेचन किया गया है, तथा बताया गया है कि इन रोगों के लिए भिन्न-भिन्न यन्त्र प्रयुक्त होते थे। व्रणों और उदरादि सम्बन्धी रोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन है। (सु त सं० २५।२८)। गुदाभ्रंश के लिए चर्मबन्धन का भी उल्लेख है। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन करके दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था (सुश्रुत सं० २५।११)।

प्राचीन काल में आयुर्वेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे गए थे; यहाँ तक कि चीनी तुर्किस्तान में से ई० स० ३५० वर्ष के तीन संस्कृत-ग्रन्थ मिले हैं। इन सब ग्रन्थों में चरक और सुश्रुतसंहिता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। उनका विवरण इस प्रकार है। चरकसंहिता के ८ भाग हैं—(१) सूत्रस्थान—औषधि का प्रारम्भ, वैद्य के कर्तव्य, औषधि का उपयोग, रोगोपचार,

भोजन आदि; (२) निदान-स्थान—ज्वर, रक्तस्राव, सूजन, मधुमेह, कुष्ठ; क्षय, मिरगी आदि रोगों का वर्णन; (३) विमान-स्थान—महामारियों का वर्णन, अन्न, रोग-निदान, उपचार, शरीर के विभिन्न रसों की विशेषताएँ; (४) शारीर स्थान—जीव का वर्णन, विभिन्न जातियाँ, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर व जीव का सम्बन्ध इत्यादि; (५) इन्द्रिय स्थान—ज्ञानेन्द्रियों और उनके रोगों का वर्णन, शरीर का रंग, वाग्दोष, शरीर और अंगों के रोग, शक्ति, ह्रास, मृत्यु आदि का विवेचन; (६) चिकित्सा-स्थान—रोगोपचार, स्वास्थ्य-सुधार, जीवन-भोग के साधन, ज्वर, सूजन, बवासीर, दस्त, पीलिया, दमा, खाँसी, संग्रहणी कय, विषप्रभावादि व मदिरापान, जलना, गुप्तरोग, गठिया, लकवा आदि का विवेचन; (७) कल्प-स्थान—जुलाब, मन्त्रोपचार आदि; (८) सिद्धि-स्थान—वस्तिकर्म, पशुवस्तिकर्म विधि, मूत्ररोग आदि। सुश्रुत संहिता में चीर-फाड़ पर विशेष जोर दिया गया है। उसके ६ विभाग हैं—(१) सूत्रस्थान—औषधि, शरीर के तत्त्व शल्यकर्म के औजारों का चुनाव, घाव. फोड़े आदि का वर्णन; (२) निदान-स्थान—रोगनिदान, गठिया, बवासीर, भगन्दर, कुष्ठ, मधुमेह आदि का वर्णन, तथा गुप्तेन्द्रिय के रोगों का विवेचन; (३) शारीर-स्थान—शरीर-शास्त्र या शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विवेचन, जीव व शरीर के तत्त्व, आर्तवदोषादि, गर्भ-स्थिति, शरीर के विकास आदि का वर्णन; (४) चिकित्सा-स्थान—रोगनिदान और चिकित्सा, व्रण, फोड़े, चोट, गठिया, बवासीर, कुष्ठ, मधुमेह आदि का वर्णन; (५) कल्प-स्थान—भोज्य व पेय पदार्थ बनाने की विधि, विषाक्त, अन्न, विष व उनका उपचार; (६) उत्तर स्थान—आँख, कान, नाक, सिर आदि के रोग तथा ज्वर, संग्रहणी, क्षय, हृदय-रोग, नशा, कफ, हैज़ा, मिरगी आदि का उपचार।

१३

शारीरिक विकास

@@@@@@@@@@

शारीरिक विकास का महत्त्व—शारीरिक विकास भारतीय संस्कृति का मुख्य अङ्ग था। कवि-शिरोमणि कालिदास के समान प्राचीन भारतीयों ने 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' (शरीर सर्व प्रथम धर्म का साधन है) के रहस्य को भली भाँति समझ लिया था। उपनिषदों के ऋषियों के समान वे यह भी अच्छी तरह से जानते थे कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (यह आत्मा बलहीन द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता)। दैनिक जीवन के अनुभव ने उन्हें परमात्मा के दिये हुए इस शरीर की उपयोगिता भली भाँति समझा दी थी। शरीर को कष्ट देने से ही मुक्ति मिलती है यह सिद्धान्त तो बाद में प्रतिपादित किया गया था, जबकि समाज के ऊपर एक प्रकार का निराशावाद छाने लगा था। गौतम बुद्ध भी पहले इसका शिकार हुआ और जंगल में जाकर उसने अपने शरीर को नाना प्रकार के कष्ट दिये। किन्तु बाद में वह ऐसे जीवन की निरर्थकता समझ गया व सच्चे आर्य-मार्ग पर अग्रसर हुआ।

वैदिक काल से ही शारीरिक विकास का पता चलता है। वेदों में सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा प्रदर्शित की गई है, और वह भी सब इन्द्रियों के सशक्त रहते हुए (ऋ० ७।६६।१६; १।८६।८; यजु० ३६।२४)। सौ वर्ष तक जीवित रहना, सुनना, बोलना, देखना आदि

तब ही सम्भव हो सकता है, जबकि शरीर-यष्टि उत्तम व सुदृढ़ हो, किसी रोग आदि ने उसे जर्जरित न कर दिया हो। वैदिक काल में जीवन के विभिन्न पहलू इस प्रकार विकसित किये गए थे कि वे शारीरिक विकास में सहायक होते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक काल के आर्य शारीरिक विकास के महत्त्व को भली भाँति समझ गए थे। प्राचीन काल में शारीरिक विकास की कोई सुन्दर आयोजना अवश्य बनाई गई होगी, जिसके स्वरूप को प्राचीन साहित्य के सहारे समझा जा सकता है।

शारीरिक विकास का आयोजन—प्राचीन भारतीयों ने शरीर-विज्ञान को भलीभाँति समझ लिया था। उन्होंने शरीर की विभिन्न क्रियाओं को समझ लिया था। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि शरीर की रक्षा व पुष्टि के लिए वायु, जल, अन्न आदि वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यक है। उपनिषदों (छान्दोग्य० ६।५) में जो 'अन्नमय कोष' 'अन्नं वै प्राणाः' आदि वचन आते हैं, उन सबका यही तात्पर्य है। यह तो स्पष्ट है कि यदि इन तीनों में से एक भी पर्याप्त मात्रा में न मिले, तो जीवन कठिन ही नहीं बल्कि असंभव हो जायगा; इस बात को प्राचीन भारतीयों ने भी भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए इन तीनों की योग्य व्यवस्था पर उन्होंने विचार किया था। शारीरिक विकास के ऐसे आयोजन का विवेचन गीता (६।१७) ने अच्छी तरह से किया है। उसमें लिखा है—"जिसका आहार-विहार व विभिन्न दैनिक कार्य नियमित हैं, व जो नियमपूर्वक सोता व जागता है, उसके सब दुःख योग द्वारा दूर किये जाते हैं।

शारीरिक विकास के लिए वायु, जल, अन्न आदि की पूर्ण शुद्धि अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि इस पर ध्यान न देने से नाना प्रकार के रोग फैल जायँगे व आनंदमय जीवन असम्भव हो जायगा। वायु का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पूर्णतया वायु पर निर्भर है। इसलिए प्राचीन काल में यह व्यवस्था की गई थी

कि अधिक-से-अधिक शुद्ध वायु मनुष्य के शरीर के भीतर व बाहर पहुँच सके, जिससे जीवन-शक्ति बढ़े। इसीलिए आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को छोड़कर अन्य आश्रमों को जंगल से सम्बन्धित किया गया था, जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सके। इसके अतिरिक्त वायु को दूषित होने से बचाने की भी व्यवस्था की गई थी। अथर्ववेद से मालूम होता है कि तत्कालीन लोगों को पता था कि नाना प्रकार के रोग-कीटाणु, जिनमें से अधिकांश अदृश्य भी होते हैं, वायु में इधर-उधर भ्रमण करके उसे दूषित करते हैं। उस दूषित वायु के शरीर में प्रवेश करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए वायु-शुद्धि के निमित्त यज्ञ करने का आयोजन किया गया था। यज्ञ से दो प्रकार के लाभ होते हैं—वायु का शुद्धीकरण व उसकी मेघ धारण करने की शक्ति। यज्ञ में घी, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों के अग्नि में पड़ने से जो धुँआ निकलता है, उसमें रोग-कीटाणुओं के नाश करने की शक्ति रहती है। अनुभव से भी यह मालूम हो सकता है कि यज्ञ के धुएँ से वायु में हल्कापन आ जाता है व उसका सेवन, मन में स्फूर्ति, उल्लास आनन्द आदि उत्पन्न करता है। इसीलिए प्राचीन काल में यज्ञों द्वारा वायु की शुद्धि की जाती थी। प्रत्येक आर्य को सायं-प्रातः अग्निहोत्र करना पड़ता था, तथा सामूहिक रूप से दार्शपौर्णमासिक आदि यज्ञ किये जाते थे। इससे अतिरिक्त बहुत से नैमित्तिक यज्ञ भी किये जाते थे (मनु०४।२५-२८)। भिन्न-भिन्न संस्कारों के अवसर पर भी यज्ञ करना अनिवार्य था। स्वास्थ्य की दृष्टि के अन्त्येष्टि संस्कार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। यों तो मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना अधिक उत्तम है; किन्तु शव को यदि घृत, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से जलाया जाय, तो वायु को शव-दाह के दोषों से बचाया जा सकता है। इस प्रकार यज्ञ वायु-शुद्धि का प्रधान साधन भी था।

केवल वायु-शुद्धि से ही शुद्ध वायु शरीर के अन्दर प्रविष्ट नहीं

हो सकती। उसका शरीर के अन्दर प्रवेश श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर रहता है और यह क्रिया फुफ्फुसों द्वारा होती है। यदि फुफ्फुस अशक्त रहे, तो यह क्रिया बिगड़ जायगी व परिणामस्वरूप शुद्ध वायु के रहते हुए भी शारीरिक शक्ति का ह्रास होता जायगा; श्वास के कितने ही रोग शरीर में घर बना लेंगे व हृदय भी अशक्त हो जायगा, जससे एकाएक मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए फुफ्फुसों का सशक्त व नीरोग रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। इनको सशक्त बनाने के लिए ही प्राचीन काल में प्राणायाम का आयोजन किया गया था। श्वास को यथाशक्ति बाहर भीतर ले जाना व वहाँ रोके रखना ही प्राणायाम की मुख्य क्रिया हैं (मनु० २।७५; ६।६६ ७३)। नियमित रूप से प्राणायाम करने से फुफ्फुसों को पूरा व्यायाम होता है व वे सशक्त बन जाते हैं। परिणामतः, श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी सुधर जाती है, व शुद्ध वायु के कारण सहज ही में दीर्घ-जीवन का उपभोग किया जा सकता है। यदि इस प्रकार फुफ्फुसों को सशक्त न बनाया जाय, तो हम अकाल ही में मृत्यु के ग्रास बने बिना नहीं रहेंगे व अल्पजीवी हो जायँगे, जैसा कि आजकल देखा जाता है। आजकल प्राणायाम को धर्म का ढकोसला समझकर हम लोगों ने उसे तिलाञ्जलि दे दी है, व उसके बदले में धूम्र-पानादि की खराब आदतें बना ली हैं, जिनसे फुफ्फुसों को कितनी ही हानि पहुँचती है। परिणामतः हम अशक्त होते जाते हैं व हमारे शरीर में दमा, खाँसी आदि श्वास रोगों का दौर-दौरा हो जाता है। आजकल हमारे समाज में कितने ही व्यक्ति श्वास-रोगों से ग्रसित रहते हैं, व नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं।

प्राचीन काल में जल की शुद्धि पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था, जैसा कि मनु (६।४६) ने कहा है। साधारणतया नदी, कुएँ आदि का जल पीने के काम में लाया जाता था। वर्षा ऋतु में नदी का जल पीना वर्जित था (मनु० ५।१०८) कुएँ का जल विशेष रूप से पवित्र माना जाता था; क्योंकि वह पृथ्वी के गर्भ में से आता था।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह जल ठीक ही रहता है। शरीर-शुद्धि के लिए जल को आवश्यक माना गया था। भारतवर्ष उष्ण-प्रधान देश रहने से यहाँ जल की आवश्यकता पद-पद पर होना स्वाभाविक ही है। यदि उसे साक्षात् देवता भी माना जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि प्राचीन भारत में इन्द्र व वरुण देवताओं के रूप में जल को ही स्तुत्य व पूज्य माना गया था (ऋ० १।३२; २।१२; ७।८३; ७।८८)। कृषि-प्रधान देश में वर्षा व उसके जल का इतना महत्त्व होना ही चाहिए। जल का उपयोग स्नान के लिए भी होता था। प्राचीन भारत में दैनिक स्नान लगभग अनिवार्य-सा ही था। इसे धर्म का अङ्ग मान लिया गया था (मनु० ४।२०३; ५।१०९)। स्नान के बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। जन्म के समय स्नान, विविध संस्कारों के समय स्नान, यहाँ तक कि मरने के समय भी स्नान आवश्यक हो गया था। गुरुकुल का ब्रह्मचारी विद्याभ्यास की समाप्ति पर 'स्नातक' कहाता था। आज भी भारत में दैनिक स्नान एक आवश्यक नियम-सा ही हो गया है। विश्व में भारत के अतिरिक्त कदाचित् ही अन्य कोई देश हो, जहाँ के निवासी भोजनादि के पूर्व धार्मिक नियम के रूप में दैनिक स्नान करते हों। शीत-प्रधान देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में स्वास्थ्य की दृष्टि से दैनिक स्नान अनिवार्य हो जाना चाहिए।

अन्न का भी शारीरिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इससे भी प्राचीन भारतीय भली भाँति परिचित थे। उपनिषदों में इस सम्बन्ध को बहुत ही रोचक ढङ्ग पर समझाया गया है। आयुर्वेदादि ग्रन्थों में भोजन की विभिन्न विक्रियाओं का भी वर्णन आता है। उनमें बताया गया है कि किस प्रकार अन्न से रक्त, मेद, मज्जा, वीर्य आदि बनते हैं (छान्दोग्य० ६।५-६; चरक सं०, सूत्रस्थान, २८।४; मनु० २।५३-५७, ४।६२)। इसलिए शारीरिक पुष्टि के लिए अन्न का शुद्ध रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। अन्न का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव पर भी पड़ता है; इसीलिए भोजन के भी तीन प्रकार बनाये गए—सात्त्विक, राजस

तामस (मनु० ११।१५२)। भोजन के छः प्रकार और बताये गए हैं, जिनके कारण 'षड्रस भोजन' नाम पड़ा। यह स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता था। आधुनिक स्वास्थ्य-शास्त्र के अनुसार शरीर की पुष्टि व वृद्धि के लिए भोजन में 'प्रोटीन' 'कार्बो-हाइड्रेट' आदि चार प्रकार के तत्त्व रहने चाहिए। षड्रस भोजन में इन सबका समावेश हो जाता है।

भारतीय भोजन-व्यवस्था में, जिनमें प्राचीन काल से आज तक साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं हुआ, उपरिनिर्दिष्ट चारों तत्त्वों का समावेश हो जाता है। रोटी, दाल, चावल, शाक आदि भारतीय भोजन-व्यवस्था के प्रधान अङ्ग हैं। आजकल जिन 'विटामिन्स' को स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता है, उनका समा-वेश भी इस व्यवस्था में हो जाता है। हरी-हरी शाक-भाजी तथा भोजनोपरान्त खाये जाने वाले फलों में इन 'विटामिन्स' का समावेश हो जाता है। प्राचीन भारतीय भोजन में इन सबका उपयोग करते थे। कदाचित् यह सम्भव हो कि आर्थिक दुरवस्था के कारण सब लोगों को इस व्यवस्था के अनुसार भोजन न मिलता हो। किन्तु इससे उक्त व्यवस्था की वैज्ञानिकता तथा शारीरिक विकास के लिए उपयोगिता में कोई बाधा नहीं आती। जिस प्रकार भोजन के पदार्थ छः रस वाले (मीठे, खट्टे, चरपरे, कड़वे, कसैले व नमकीन) होते हैं, उसी प्रकार उनके छः प्रकार भी होते हैं, जैसे (१) चोष्य—वे पदार्थ जो चूस-कर खाये जाते हैं, जैसे ईख, नींबू, अनार आदि; (२) पेय—पीने के पदार्थ, जैसे पानी, शरबत, दूध आदि; (३) लेह्य—चाटने के पदार्थ, जैसे शिखरन, लपसी, कढ़ी आदि; (४) भोज्य—भोजन के पदार्थ, जैसे भात, रोटी, दाल आदि; (५) भक्ष्य—भक्षण करने के पदार्थ, जैसे लड्डू, पेड़े, बरफी आदि; (६) चर्व्य—चबाने के पदार्थ, जैसे लाई, चिवड़ा, पापड़ आदि। ये पदार्थ क्रमशः एक-दूसरे से भारी हैं (चरक सं०, सूत्र० २६।६)।

मानव-शरीर पञ्च महाभूतों का बना हुआ है। इसलिए भोजन में ऐसे पदार्थों का होना आवश्यक है, जिनसे शरीर के पञ्च महाभूतों का परिमाण व्यवस्थित रहे। इसलिए प्राचीन भारत में षड्रस-भोजन की व्यवस्था की गई। मधुर रस में पृथ्वी और जल का भाग अधिक रहता है। खट्टे रस में पृथ्वी तथा अग्नि का अंश विशेष रहता है। कटु रस में आकाश व वायु की विशेषता रहती है। चरपरे रस में अग्नि व वायु-तत्त्व की विशेषता रहती है। कषैले रस में पृथ्वी तथा वायु-तत्त्व की प्रधानता रहती है (चरक सं० २६।३८।४०)। इसी लिए मधुर रस का सेवन करने से मुँह में चिकनापन, शरीर में आनन्द और इन्द्रियों में तेजी आती है। खट्टे रस के सेवन से मुँह में पानी छूटता, दाँत सिहरते तथा शरीर में रोमाञ्च होता है। नमकीन रस के सेवन से मुँह से पानी गिरता और गले में जलन होती है। कटु रस से मुँह साफ होता है और दूसरे रसों की पहचान करने की जीभ की शक्ति नष्ट होती है। चरपरे रस के सेवन से जीभ में जलन और मुँह में चुनचुनी छूटती है, तथा मुँह व नाक से पानी छूटता है। कषैले रस के सेवन से जीभ भारी पड़ जाती है, तथा कण्ठ व स्रोतसों का अवरोध होता है। इन सभी रसों की मूल उत्पत्ति जल से हुई है (चरक सं०, सूत्र० २६।३९)।

आयुर्वेद से 'विटामिन' का समन्वय—चरक संहिता (सूत्र० १।६७) में पदार्थों के तीन भाग किये गए हैं—शमन, कोपन तथा स्वस्थहित। शमन पदार्थ वे हैं जो अपने गुणों के द्वारा वात, पित्त, कफ आदि दोषों का शमन करते हैं। ये पदार्थ प्रत्यक्ष में शारीरिक क्रिया के सञ्चालन में प्रधान सहायक न होते हुए भी दोष-साम्य स्थिर रखते हैं। इस प्रकार वे शारीरिक स्वास्थ्य-सम्पादन कराने वाली क्रियाओं का काम सुगम कर देते हैं। शमन पदार्थ दोषों का शोधन नहीं करते अर्थात् वात, पित्त, कफ आदि को मूत्र, मल, वान्ति आदि के द्वारा निकालते नहीं हैं और जो दोष समान अवस्था में हैं, उन्हें भड़काते या कुपित नहीं करते, किन्तु जो दोष विषम अवस्था में होते हैं, उन्हें समान

अवस्था में कर देते हैं। यह सात प्रकार से होता है। जो पदार्थ वात, पित्त, कफ आदि दोषों तथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, धातु को तथा पुरीष, मूत्र, पसीना आदि मलों को कुपित करते हैं, वे कोपन पदार्थ कहलाते हैं; जैसे नमकीन पदार्थों या फलों के साथ दूध खाना अथवा हरी शाक-भाजी व मूली खाकर दूध पीना, उड़द की दाल के साथ मूली खाना आदि विरुद्ध आहार हैं। इससे धातु, मल आदि कुपित होते हैं। इसी प्रकार जो पदार्थ वातादि दोष, रसादि धातु और पुरीषादि मलों को अपने प्रभाव से अपने प्रमाण के अनुसार कायम रखते हैं, अर्थात् उन्हें समावस्था में रखने के कारण होते हैं, वे स्वस्थहित कहलाते हैं। वे स्वास्थ्य के लिए हितकारी हैं, इसलिए स्वस्थहित कहलाते हैं। प्रत्येक ऋतु के अनुसार जो सेव्य पदार्थ हैं वे स्वस्थहित हैं। पदार्थों में उष्णवीर्य तथा शीतवीर्य दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। जिन-जिन पदार्थों में उष्णता उत्पादन करने तथा पाचन-शक्ति बढ़ाने की शक्ति होती है वे उष्णवीर्य पदार्थ हैं, और जिसमें स्नेहन, शान्ति, वीर्य, बल आदि बढ़ाने की शक्ति होती है, वे शीतवीर्य पदार्थ कहलाते हैं। पदार्थों में बीस प्रकार के गुण होते हैं। उन गुणों के गण आयुर्वेद-शास्त्र में विस्तार से कहे गए हैं। उनमें से स्वस्थहित अर्थात् स्वास्थ्य के लिए हितकारी पदार्थों के जीवनीय बृंहणीय, सन्धानीय, दीपनीय, बल्य, कण्ठ्य, वर्ण्य, हृद्य, तृप्तिकर, स्तन्यजनक, शुक्रजनक, वीर्यशोधक, स्नेहोपयोगी, श्रमहर, दाहनाशक, शोणित-स्थापन, संज्ञा-स्थापन, प्रजास्थापन तथा वयःस्थापन करने वाले गण वर्णित हैं (चरक सं० सूत्र० ४।६-१८)। पश्चिमी विद्वानों का 'विटामिन'-सम्बन्धी वर्गीकरण भी इन्हीं गणों का अस्त-व्यस्त तथा अव्यवस्थित विवेचन है।

शक्ति-विकास के साधन—वायु, जल, अन्न आदि को शास्त्रीय ढङ्ग पर शरीर-पुष्टि की सामग्री बनाने में प्राचीन भारत ने बहुत उन्नति की थी। किन्तु शारीरिक शक्ति का विकास इतने से ही नहीं हो सकता। शरीर-सम्पत्ति की वृद्धि तथा पुष्टि के लिए प्राचीन भारत में जो साधन

आयोजित किये गए थे, वे इस प्रकार हैं—शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, भिन्न-भिन्न अवयव तथा उनकी क्रियाओं के सम्यक् ज्ञान के द्वारा शारीरिक विकास किया जा सकता है। व्यायाम के द्वारा विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों की वृद्धि की जाती है तथा उनकी विभिन्न क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाता है, जिससे वे क्रियाएँ यथोचित रूप में हुआ करें (चरक सं० सूत्र० ७।३१-३३)। प्राचीन काल में नाना प्रकार के व्यायाम ज्ञात थे जो वय, अवस्था, जाति आदि के अनुकूल होते थे। इसके अन्तर्गत प्राणायाम, योगासन आदि का समावेश हो सकता है। प्राणायाम से फेफड़ों को कसरत मिलती है और योगासन से शरीर के विभिन्न अङ्ग सुदृढ़ तथा नियन्त्रित बनते हैं। शीर्षासन, पद्मासन आदि का महत्त्व आज भी अनुभव से समझा जा सकता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से आसनों पर विचार करें तो समझ में आ जायगा कि इनमें मानव-शरीर के मेरुदण्ड और स्नायु-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने का तत्त्व निहित है।

स्त्रियों तथा पुरुषों के व्यायाम में साधारणतया भेद माना गया था स्त्रियों का दैनिक जीवन ही इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया था कि उन्हें पर्याप्त रूप में व्यायाम मिले और उनकी शरीर-सम्पत्ति अच्छी बनी रहे। भारत पहले ही से कृषि-प्रधान देश रहा है। यहाँ के अधिकांश स्त्री-पुरुष देहातों में ही रहते आए हैं। देहातों में स्त्रियों को कितने ही घरेलू व्यायाम हो जाया करते थे, जैसा कि आजकल देखा जाता है। प्रातः उठकर चक्की पीसना, कपड़े धोना, बरतन मलना, घर की सफाई करना, गाय-बैल का काम करना आदि स्त्रियों की जिम्मेवारी रहती थी। नगरों में भी स्त्रियाँ घरेलू काम साधारणतया अपने हाथों से ही करती थीं, जिससे उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था। इसके अतिरिक्त और कई प्रकार से स्त्रियाँ अपने शारीरिक बल का विकास करती थीं। प्राचीन साहित्य के पठन से मालूम होता है कि धनाढ्य व ऊँचे कुल की स्त्रियाँ खेल-कूद, तैरना आदि भी जानती थीं। पार्वती की कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख कालिदास के कुमार-सम्भव में आता है।

नृत्य-कला का उपयोग भी शारीरिक शक्ति के विकास के लिए किया जाता था। यों तो स्त्री-पुरुष दोनों ही इस कला के उपासक थे; किन्तु कला की दृष्टि से स्त्रियों ने ही इसका अच्छा विकास किया था। इस कला के द्वारा स्त्रियों का मनोरञ्जन भी होता था, साथ ही उन्हें पर्याप्त व्यायाम भी मिल जाता था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ तथा राजकुमारियाँ नृत्य-कला सीखती थीं। साधारण व गरीब स्त्रियाँ भी इस कला से वञ्चित नहीं रहती थीं। उत्सव आदि के अवसर पर स्त्रियों द्वारा सामूहिक रूप से इसका प्रदर्शन भी होता था। कितनी ही स्त्रियाँ, विशेषकर क्षत्राणियाँ अस्त्र-शस्त्र चलाना जानती थीं और अपने पति के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाती थीं। अस्त्र-शस्त्र के अभ्यास में उनकी शारीरिक शक्ति का खूब विकास होता था।

रामायण, महाभारत आदि से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सर्व साधारण पुरुषों को व्यायाम-शालाओं का बड़ा शौक था। राजा-महाराजाओं के यहाँ बड़ी-बड़ी मल्ल शालाएँ रहा करती थीं; जिनमें कितने ही मल्ल मल्ल-विद्या का अभ्यास करते थे। रामायण में लङ्का-वर्णन के प्रसङ्ग पर मल्लों तथा मल्लशालाओं का भी उल्लेख आया है। महाभारत में कंस की मल्लशाला तथा उसके मल्लों का उल्लेख आता है, जिनको कृष्ण ने धराशायी करके अपनी शारीरिक शक्ति का परिचय दिया था। भीम के मल्ल-विद्या-नैपुण्य को कौन नहीं जानता? इस भीमकाय भीम की अद्वितीय शारीरिक शक्ति का लोहा बालपन से ही दुर्योधन आदि कौरवों को लेना पड़ा था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मल्लविद्या व्यायाम का एक विशेष अङ्ग थी तथा बड़े-बड़े राजा, महाराजा इसे प्रोत्साहन देते थे। इन राजमल्लों के अतिरिक्त इस विद्या का प्रचार जन-साधारण में भी था। वे भी दण्ड, बैठक, मुगदर फेरना, दौड़ना आदि नाना प्रकार की कसरत से अपनी शारीरिक शक्ति का विकास करते थे। यह प्राचीन व्यायाम-प्रणाली आज भी विकृत रूप में हमारे देश में वर्तमान है। आधुनिक अखाड़े प्राचीन मल्लशालाओं व व्यायाम-

शाखाओं के ही भग्नावशेष हैं। प्राचीन मल्लों के समान आजकल के पहलवान भी राज्याश्रय पाते हैं और दुनिया भर में भारतीय मल्ल-विद्या की कीर्ति-पताका फहराते हैं।

धनुर्विद्या को भी प्राचीन व्यायाम-व्यवस्था का एक अङ्ग माना जा सकता है। धनुर्विद्या के अन्तर्गत धनुष-बाण आदि अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या का समावेश हो जाता है। प्राचीन काल से इसका शास्त्रीय ढङ्ग पर विकास किया गया था। इस विद्या का एक बड़ा ग्रन्थ भी था, जिसे यजुर्वेद का उपवेद कहा जाता था। धनुर्विद्या की शिक्षा क्षत्रियों व विशेषकर राजकुमारों के लिए अनिवार्य सी ही थी, तथा इसके सिखाने की भी व्यवस्था की गई थी। रामायण, महाभारत आदि में कितने ही स्थलों पर इसका उल्लेख आता है। लव, कुश, अर्जुन आदि ने धनुर्विद्या में असाधारण नैपुण्य प्राप्त किया था। यह व्यवस्था या तो गुरुकुलों में ही की जाती थी अथवा स्वतन्त्र-रूप से रहती थी। यहाँ युद्ध से सम्बन्धित नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को चलाने का कौशल प्राप्त कराया जाता था, जिससे शारीरिक शक्ति का भी अच्छा विकास हो जाता था। क्षत्रियों को तो सर्वदा अपनी भुजाओं के बल पर निर्भर रहकर वीरत्व का बाना पहनना पड़ता था। इसीलिए वेदों में उन्हें समाज रूपी 'पुरुष' की भुजाओं से सम्बन्धित किया गया। विवाह के अवसर पर भी उन्हें अपने बल, पौरुष, वीरत्व, आदि को प्रदर्शित करना पड़ता था, अन्यथा उनके गले में वरमाला पड़ ही नहीं सकती थी। प्राचीन काल के स्वयंवरों का वर्णन पढ़ने से यह बात समझ में आ जायगी। सीता-स्वयंवर में राम का बल-पौरुष, द्रौपदी-स्वयंवर में अर्जुन का और कालिदास-कृत रघुवंश में वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर में अज का पुरुषार्थ व शस्त्र-विद्या-नैपुण्य स्पष्ट ही है। जो बल, पौरुष, युद्ध-कौशल आदि से युक्त नहीं था, उसे क्षत्रिय ही नहीं कहा जाता था। क्षत्रिय के लिए इन सब गुणों का रहना आवश्यक था।

प्राचीन काल में राजा, महाराजा, रईस आदि आखेट को जाने के

बड़े शौकीन थे। आखेट को भी एक प्रकार का व्यायाम समझा जाता था, रामायण महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका स्थान स्थान पर उल्लेख है। मीगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के आखेट को जाने का विशद वर्णन किया है। अशोक के लेखों में भी इसका उल्लेख है।

अभ्यङ्ग तैल-मर्दन भी प्राचीन काल में व्यायाम का मुख्य अङ्ग माना जाता था। प्राचीन साहित्य, इतिहास आदि से पता चलता है कि प्राचीन काल के भारतीय तैल-मर्दन के बड़े शौकीन थे। क्या छोटे, क्या बड़े सब ही अपने शरीर में मालिश करते अथवा करवाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य को इसका इतना शौक था कि जब राज-दरबार में रहता था, उस समय भी उसके शरीर पर मालिश की जाती थी। बौद्ध जातकों में भी मालिश करने वालों का उल्लेख है। आज तक भी यह प्रथा भारत में वर्तमान है व उत्तर प्रदेश में तो बहुतायत से पाई जाती है। स्वास्थ्य व शारीरिक विकास की दृष्टि से तैल-मर्दन अत्यन्त ही हितकर है। इससे त्वचा का रूखापन जाकर रक्त की क्रिया में प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जीवन-शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

प्राचीन काल में शारीरिक विकास के लिए बहुत से खेल-कूद आदि भी किये जाते थे, जिनके द्वारा बालक तथा नवयुवक मनोरञ्जन के साथ-साथ अपनी शारीरिक शक्ति का विकास भी करते थे। यजुर्वेद में 'वंश-नर्तिन्' का उल्लेख है। बौद्ध जातकों में भिक्षुओं के लिए जो कुछ निषिद्ध है, उसकी एक तालिका दी है, जिसमें 'अक्खरिका' नाम के एक खेल का उल्लेख है। संस्कृत साहित्य में कितने हो स्थलों पर 'क्रीड़ा शैल' का उल्लेख आता है, जहाँ पर सब लोग मनोरञ्जनार्थ जाते थे। यहाँ नाना प्रकार की क्रीड़ाओं की व्यवस्था अवश्य रहती होगी। कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती की कठिन तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है कि जो पार्वती कन्दुक-क्रीड़ा से भी थक जाती थी, वह इतना दुष्कर तप कैसे कर सकती है। भास ने भी इस कन्दुक-क्रीड़ा का उल्लेख

किया है। संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के कुछ और खेलों का उल्लेख है। कालिदास के मेघदूत में वर्णन आता है कि अलकापुरी की कन्याएँ सुवर्ण सिकता में 'गुप्तमणि' नाम का खेल खूब खेलती थीं।

इन्द्रिय-निग्रह शारीरिक विकास के लिए कितना आवश्यक है इसको भी प्राचीन भारतीयों ने अच्छी तरह समझ लिया था। इसीलिए जहाँ देखो वहाँ इन्द्रिय-निग्रह पर जोर दिया गया है। इसके बिना शारीरिक ही क्या, किसी भी शक्ति का विकास नहीं किया जा सकता बल्कि उनका ह्रास ही हो जाता है। प्राचीन भारत में यह आदेश था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नियमित बनाए। इन्द्रियों का दमन करके संयम का जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार उसमें वीर्य, शौर्य, तेज आदि की वृद्धि होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक तो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना पड़ता था। उसे काम-वासना से दूर रहकर स्त्री का ध्यान करना भी मना था (मनु० २।११७, २१५)। भूल से वीर्य-पात होने पर उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था। पच्चीस वर्ष की अवस्था में विवाह आदि के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन संयमयुक्त रखना पड़ता था। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही मैथुन करने का आदेश था, अन्यथा वीर्य-रक्षा करना ही उचित समझा गया था (मनु० ३।४५-५०)। प्राचीन काल के आर्य-वीर्य रक्षा के कारण अपनी शरीर-सम्पत्ति को बढ़ाकर दीर्घायु का उपभोग करते थे व वृद्धावस्था में भी सशक्त रहते थे। हनुमान्, भीष्म आदि के समान कुछ व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, व अद्वितीय बल के आगार बन जाते थे। इस प्रकार शारीरिक विकास की व्यवस्था में इन्द्रिय-निग्रह का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था।

प्राचीन भारत की वेश-भूषा भी स्वास्थ्य-वृद्धि और शारीरिक विकास में सहायक बनती थी। सरलता वेश-भूषा का मूल सिद्धान्त था। प्राचीन भारत में साधारणतया दो वस्त्र काम में लाये जाते थे, उत्तरीय व अधर। उत्तरीय से कमर के ऊपर का भाग व अधर से उससे

नीचे का भाग ढाँपा जाता था। सिर पर भी साफे के रूप में कपड़ा लपेटा जाता था। साँची भारूत आदि की शिल्पकारी से इसका पता चलता है। विशेष कार्य करने वालों की वेश-भूषा विशेष प्रकार की भी रहा करती थी। राजा, दरबारी, सैनिक आदि की वेश-भूषा उनके कार्यों के उपयुक्त रहा करती थी। उष्ण-प्रधान भारत में उत्तरीय अधर वस्त्रादि के समान वेशभूषा ही स्वास्थ्य व शक्ति-वर्धक रह सकती है। यहाँ कपड़े ढीले ही होने चाहिएँ। चुस्त कपड़े तो शीत-प्रधान देशों के लिए हितकर होते हैं।

उपरोक्त वर्णन के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में शारीरिक विकास की सुन्दर व्यवस्था थी। शुद्ध वायु-सेवन के महत्त्व को समझकर ही जीवन का अधिकांश भाग जंगल के शुद्ध व पवित्र वातावरण में व्यतीत किया जाता था। आहार शास्त्र के ज्ञान की सहायता से शुद्ध अन्न-जल ग्रहण किया जाता था। मानव-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के ज्ञान द्वारा उनकी शक्ति बढ़ाने के लिए नाना प्रकार व्यायाम अयोजित किये गए थे। इन सब प्रयत्नों की सफलता के लिए व मानव-जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्म-संयम का सिद्धान्त अपनाया गया था। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय दीर्घायु, ऊँचे, बलिष्ठ व सुन्दर शरीर-यष्टि के होते थे। प्राचीन यूनानी आदि उन्हें देखकर आश्चर्य-चकित होते थे व उन्हें साक्षात् देवता समझते थे।

१४

विदेशों में भारतीय संस्कृति

प्राचीन भारत का विदेशों पर प्रभाव—प्राचीन भारतीयों ने अपनी संस्कृति को भारत की भौगोलिक सीमा में ही परिसीमित नहीं रखा था, किन्तु विदेशों में भी उसका प्रचार व प्रसार किया था। इतिहास से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति का प्रचार विश्व के विभिन्न देशों में हुआ था। क्या पूर्व में, क्या पश्चिम में, प्राचीन काल के कितने ही सभ्य देशों ने भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर बहुत-सी बातें भारत से सीखीं। धर्म, दर्शन, साहित्य, गणित, विज्ञान, कला आदि के कितने ही बहुमूल्य सिद्धान्त विदेशों ने भारत से सीखे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का विश्व-व्यापी प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय संस्कृति के विश्व-व्यापी प्रभाव के दो मुख्य कारण हैं—(१) भारत का वैदेशिक व्यापार, व (२) प्राचीन भारतीयों की धर्म-प्रचार-वृत्ति। प्राचीन भारत के वैदेशिक व्यापार के बारे में 'आर्थिक विकास' के अध्ययन में विस्तृत रूप से लिखा दिया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत के व्यापारी व्यापार के लिए विश्व के विभिन्न भागों में जाते थे। इस प्रकार वे विदेशियों के निकटतम संसर्ग में आने लगे, व उन पर अपनी संस्कृति का प्रभाव डालने लगे। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीयों में धर्म-प्रचार-वृत्ति भी थी, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद (१०।६५।११) के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (सारे विश्व

को आर्य बनाएँ) वचनों में मिलता है। इसी प्राचीन प्रणाली को मानकर ई० पू० तीसरी शताब्दी में अशोक ने पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका व दक्षिण यूरोप के विभिन्न देशों में बौद्ध-प्रचारक भेजे थे, जिन्होंने वहाँ अपने धर्म के केन्द्र स्थापित किये व वहाँ के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। ईसा प्रथम शताब्दी से पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों तथा द्वीपों में बौद्ध-प्रचारक पहुँचने शुरू हो गए थे, जिनके प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जापान आदि में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त स्थापित किये गए। इसी समय जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि द्वीपों में ब्राह्मण-धर्म फैल गया, जिसके चिह्न आज भी वहाँ वर्तमान हैं। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कितने ही विदेशी हजारों कोस पैदल चलकर इस पवित्र भूमि के दर्शन करने तथा ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए वहाँ आते थे। फाहियान, सुनसुन, यूएनच्वेङ्, इत्सिंग आदि बौद्ध चीनी यात्री इन्हीं में से थे। इस प्रकार मनुज (२।२०) के 'एतद्देशप्रसूतस्य' आदि वचन का रहस्य समझ में आ जायगा।

ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय संस्कृति के विश्व-व्यापी प्रभाव के सम्बन्ध में कितने ही ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हैं, जो सारांश में इस प्रकार हैं—भाषासाम्य, सांस्कृतिक साम्य, प्राचीन लेख आदि, तथा प्राचीन भारत का औपनिवेशिक विकास।

भाषा-साम्य—यूरोप की भाषाओं तथा जेन्द, संस्कृत आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि इन भाषाओं में परस्पर बड़ी आश्चर्यजनक समानता है। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि ये सब भाषाएँ किसी एक ही भाषा से बनी हैं, या किसी एक भाषा से प्रभावित हुई हैं। इन उदाहरणों से भाषा-साम्य समझ में आ जायगा (१) शतम् (संस्कृत), केण्टम (लैटिन), सेतेम (जेन्द), एकेटन (ग्रीक), केट (केल्टिक), हुंड (जर्मन), हण्ड्रेड या सेंचरी (इंगलिश); (२) अहम् (संस्कृत), अजम

(ज़ेन्द), अज़े (प्राचीन बल्गेरियन), हेगो (ग्रीक), इगो (लैटिन), इक (गॉथिक); (३) द्वि (संस्कृत), द्व (ज़ेन्द), दुश्रो (ग्रीक व लैटिन), ट्वै (गॉथिक), द्व (स्लेह्वोनिक), टू (इंगलिश), इसी प्रकार संस्कृत त्रि, चतुर, पञ्च आदि के रूप विभिन्न भाषाओं में पाये जाते हैं; (४) पितृ (संस्कृत), पितर (जेन्द), पेटर् (लैटिन), (गॉथिक), फॉदर (इंगलिश); (५) मातृ (संस्कृत), मातर् (ज़ेन्द); मेटर् (लैटिन), मोटे (लिथ्युनियन), मदर (इंग्लिश); (६) भ्रातृ (संस्कृत), भरातर् (ज़ेन्द), फ्रेटर (लैटिन), ब्रद्र (गॉथिक), ब्रोटेरलिस (लिथ्यु-नियन); (७) सूनु (संस्कृत), हुनु (ज़ेन्द), सुनुस (लिथ्युनियन), सन (इंग्लिश); (८) स्वसृ (संस्कृत), ज्वेन्हर (ज़ेन्द), सोरॉर (लैटिन), स्विस्टर (गॉथिक), सेसु (लिथ्युनियन), सिस्टर (इंग्लिश)। इस भाषा-साम्य से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि इन भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। कदाचित् भारत के आर्य अत्यन्त ही प्राचीन काल में इन देशों में जाकर बसे होंगे, और उन्होंने वहाँ की भाषाओं को प्रभावित किया होगा। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये सब भाषाएँ, जिनमें वैदिक संस्कृत भी सम्मिलित की जाती हैं, किसी अन्य प्राचीन भाषा से बनी हैं, तथा उस प्राचीन भाषा के बोलने वाले किसी समय एक साथ ही रहते थे। उन्हें 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन आर्यों का आदिम निवास-स्थान यूरोप के किसी देश में बताया जाता है। इस मत का निराकरण पहले ही कर दिया गया है। पाश्चात्य धार्मिक सिद्धान्तों, दन्त-कथाओं आदि पर दृष्टि-गोचर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा ने अन्य भाषाओं को भी प्रभावित किया है, जिसके परिणामस्वरूप यह भाषा-साम्य दृष्टिगोचर होता है।

सांस्कृतिक साम्य—प्राचीन ईरानियों के धार्मिक सिद्धान्तों तथा यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि के सिद्धान्तों में बड़ी समानता है और ये सिद्धान्त भारत के धार्मिक सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इसी

प्रकार प्राचीन यूनान और रोम के सिद्धान्त तथा सामाजिक रीति-रिवाजों की भारतीय धार्मिक सिद्धान्त और रीति-रिवाजों से आश्चर्यजनक समानता दिखाई देती है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। वैदिक धर्म व ईरानी धर्म में इतना सांस्कृतिक साम्य है कि उसके सहारे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों धर्मों के मानने वाले किसी समय एक ही होंगे। ऋग्वेद की भाषा व अवेस्ता की भाषा में इतना साम्य है कि उनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस साम्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—(१) संस्कृत का 'स' ज़ेन्द में 'ह' हो जाता है, जैसे असुर (सं०), अहुर (ज़े०); सोम (सं०); होम (ज़े०); सप्त (सं०), हफ्त (ज़े०); सेना (सं०), हेना (ज़े०); (२) संस्कृत का 'ह' ज़ेन्द में 'ज़' हो जाता है, जैसे हृदय (सं०), ज़र्दय (ज़े०); हस्त (सं०), ज़स्त (ज़े०); वराह (सं०) वराज़ (ज़े०); हिम (सं०), ज़िम (ज़े०); बाहु (सं०), बाज़ु (ज़े०); (३) संस्कृत का 'ज' ज़ेन्द में 'ज़' हो जाता है, जैसे जन (सं०), ज़न (ज़े०); वज्र (सं०), वज्र (ज़े०); जानु (सं०), ज़ानु (ज़े०); यजत (सं०), यज़त (ज़े०); (४) संस्कृत 'श्व' ज़ेन्द में 'स्प' हो जाता है, जैसे विश्व (सं०), विस्प (ज़े०); अश्व (सं०), अस्प (ज़े०); श्वान (सं०), स्पान (ज़े०); (५) संस्कृत का 'त्र' ज़ेन्द में 'थ्र' हो जाता है, जैसे, मित्र (सं०), मिथ्र (ज़े०); मन्त्र (सं०), मन्थ्र (ज़े०); (६) बहुत से शब्द दोनों भाषाओं में एक से रहते हैं, जैसे पितर् (सं०), पितर् (ज़े०); मातर (सं०), मातर (ज़े०); पशु (सं०), पशु (ज़े०); गो (सं०), गो (ज़े०); नमस्ते (सं०), नमस्ते (ज़े०); मत्रि (सं०), मत्रि (ज़े०)।

ऋग्वेद और अवेस्ता के धार्मिक सिद्धान्त भी अधिकांश एक से ही हैं। ऋग्वेद व अवेस्ता के देवताओं की एकता इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—असुरमेध (ऋ०), अहुरमज़द (अ०); अर्यमन् (ऋ०) ऐर्दमन् (अ०); मिथ्र (ऋ०), मिथ्र (अ०); भग (ऋ०), भग

(अ०)। वैदिक चातुर्वर्ण्य का साम्य भी अवेस्ता में मिलता है, किन्तु उन वर्णों के नाम भारतीय नामों से अलग हैं, जैसे अथ्रवण (ब्राह्मण या पुरोहित), रथेस्टर (क्षत्रिय), वस्त्रियोशस् (कृषक या वैश्य) व हुइटिस (शूद्र)। प्रो० दर्मेस्तर के मतानुसार 'दिनचर्या' में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, जो कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से बहुत मिलता-जुलता है। भारत के द्विजों के समान ईरानी भी यज्ञोपवीत धारण करते थे। यज्ञोपवीत संस्कार सातवें वर्ष होता था, व यज्ञोपवीत जिसे 'कुस्ती' कहा जाता था, कमर में धारण करते थे। आज भी प्राचीन ईरानियों के प्रतिनिधि पारसी कमर में 'कुस्ती' धारण करते हैं। इस सम्बन्ध में 'वेनिदाद्'—'फरगर्द' १८ में लिखा है—"ज़रतुस्त्र ने अहुरमज़्द से पूछा, 'ऐ अहुरमज़्द ! किस अपराध के कारण एक अपराधी मृत्यु-दण्ड पाने का अधिकारी बनता है ?' इस पर अहुरमज़्द ने कहा, 'जो कोई वसन्त ऋतु में कुस्ती धारण नहीं करता, गाथा नहीं पढ़ता, जल-पूजा नहीं करता, वह मृत्यु-दण्ड का भागी है'।" भारतीयों के समान ईरानी भी पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे, व गाय की पूजा करते थे। उनके यज्ञ भी वैदिक यज्ञों के समान ही रहते थे। उनके घरों में हमेशा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। ऋग्वेद व अवेस्ता के मध्य और भी बहुत-सी धार्मिक समानता दिखाई देती है, जिससे यह बरबस कहना पड़ता है कि अत्यन्त ही प्राचीन काल में भारत के अग्निहोत्री ब्राह्मणों की एक शाखा; जो कि अथर्ववेद को विशेष रूप से मानने वाली थी, ईरान जाकर बस गई होगी। 'ईरान' नाम भी यथार्थ रूप में 'आर्य' नाम से ही बना है।

प्राचीन ईरानियों व यहूदियों के धार्मिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनमें भी बड़ी भारी समानता है और यहूदी धर्म ईरानियों के धर्मगुरु ज़रतुस्त्र के धार्मिक सिद्धान्तों पर विकसित हुआ है। यहूदी देवता 'जेहोवा' व ईरानी देवता 'अहुरमज़्द' में बहुत समानता है। ज़रतुस्त्र की 'अहुरमज़्द' की भावना व 'ओल्ड

टेस्टामेण्ट' की 'इलोहिम' या 'जेहोवा'-सम्बन्धी भावना बहुत मिलती-जुलती है। अवेस्ता में 'अहुरमज़्द' के लगभग बीस नामों का उल्लेख है। उनमें से दो 'अह्मि' व 'अह्मि यद् अह्मि' हैं। यहूदी देवता के भी ऐसे ही नाम हैं। 'एक्सोडस' (३।१४) में लिखा है कि "और ईश्वर ने मूसा से कहा है कि 'आय एम दैट आय एम' (I am that I am) व यह भी कहा, कि इस्त्रैल के बच्चों को तो इस प्रकार कहना कि 'आय एम' (I am) ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।" इन नामों से भगवद्गीता के 'अहम्' की तुलना की जा सकती है। लोकमान्य तिलक के मतानुसार यहूदी 'जेहोवा' व खाल्डियन 'यह्व' संस्कृत के 'यहु', 'यह्व', 'यह्वत' व स्त्रीलिङ्ग रूप 'यह्वी', 'यह्वती' के बिलकुल समान है। ये शब्द ऋग्वेद (६।७५।१, ८।१३।२४, १०।११०।३) में कितने ही स्थानों पर उल्लिखित हैं। ऋग्वेद में 'यह्व' शब्द 'महान्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (निघण्टु ११।२, २।६, ३।३; निरुक्त ८।८) व सोम, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार यहूदी 'जेहोवा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'यह्व' से होती है। इस सम्बन्ध में टॉमसटेलर का ('रिलीजस सिस्टम्स ऑफ दी वर्ल्ड' पृष्ठ ११) कथन है—"यह (जेहोह्वा) शब्द यहूदियों को भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के कारण प्राप्त हुआ। यह व्यापार खाल्डिया व पारस की खाड़ी के द्वारा होता था। ईरानियों के अंग्रमेन्यु व यहूदियों के शैतान की भावना बिलकुल समान है। बाइबल में शैतान सर्प का रूप धारण करता है। अवेस्ता में अंग्रमन्यु भी जलते हुए सर्प का रूप धारण करता है। ऋग्वेद (१,३२।१,२,५; निघण्टु १।१०) के इन्द्र-वृत्र-युद्ध में भी वृत्र को अहि कहा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के वृत्र ने अवेस्ता के अंग्रमेन्यु व बाईबल के शैतान को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में जर्मन दार्शनिक शोपनहार ("रिलीजन एण्ड अदर एसेज़" पृष्ठ १११) कहता है—"इससे उस कथन की भी पुष्टि होती है, जो अन्य युक्तियों से प्रमाणित किया जा चुका है कि

'जेहोव्हा' 'आर्मज़' का व 'शैतान' 'अह्मीमन' का परिवर्तित स्वरूप है। 'आर्मज़' स्वतः ही इन्द्र का परिवर्तन-मात्र है।" संसारोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी ईरानियों व यहूदियों के सिद्धान्तों में समानता है। ज़रतुश्त्र के मतानुसार पहले काल-विभागों में आकाश उत्पन्न किया गया, दूसरे में जल, तीसरे में भूमि, चौथे में वृक्ष, पाँचवें में प्राणी और छठे में मनुष्य। मूसा के मतानुसार, "पहले दिन स्वर्ग व पृथ्वी उत्पन्न किये गए; दूसरे दिन आकाश व जल; तीसरे दिन भूमि, घास, पत्ती, फल और वृक्ष; चौथे दिन प्रकाश, सूर्य, चन्द्र और तारागण, पाँचवें दिन जंगम प्राणी, पङ्ख वाले पक्षी व बड़ी-बड़ी मछलियाँ; व छठे दिन जीवधारी, मवेशी, लता, पशु, मनुष्य ('जेनेसिस' १।१-२६)।" ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०।९०) में भी लगभग ऐसा ही सृष्टि का वर्णन आता है। यहूदियों के प्रलय-सम्बन्धी विचार भी ईरानियों से लिये गए हैं। महाप्रलय तथा 'हज़रत नूँ की किश्ती' की कथा शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१) में भी आती है, जहाँ मनु एक नाव द्वारा प्राणियों की रक्षा करते हैं। यह कथा कुरान में भी आती है। अवेस्ता में लिखा है कि स्वर्ग में सात 'अमेशस पन्त' हैं। बाइबल में भी लिखा है कि सात देवदूत ईश्वर के सिंहासन को घेरे हुए हैं। यहूदियों ने यज्ञ करने की प्रथा भी ईरानियों से ली, जिन्होंने स्वतः यज्ञ करना भारतीयों से सीखा था। इस प्रकार यहूदी मत, जो कि ईसाई व इस्लाम मतों का जन्मदाता है, बहुत से सिद्धान्तों के लिए ईरानियों के सिद्धान्तों का ऋणी है।

यह बात सर्वमान्य है कि ईसाई मत के धार्मिक सिद्धान्त यहूदी मत के सिद्धान्तों से विकसित हुए हैं। इनके विकास पर बौद्ध धर्म का भी जबरदस्त प्रभाव पड़ा है, जिसका प्रचार अशोक (ई० पू० २७२-२३२) ने पश्चिमी देशों में किया था। प्लिनी (ई० स० ७५ के लगभग) ने ई० पू० १०० के लगभग पेलेस्टाईन में 'एसीनीज़' नाम के एक धार्मिक पंथ का उल्लेख किया है। मिस्र में भी ऐसा ही एक पंथ था, जिसे 'थेरापॉट्स' कहते थे। यह अब निर्विवाद है कि ये 'एसीनीज़'

बौद्ध ही थे। 'बेपटिस्ट' जॉन जो ईसा मसीह के पहले हुआ है और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसका अग्रगामी था, 'एसेनीज़' सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित था। आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ईसा मसीह ने जॉन से बहुत से धार्मिक सिद्धान्त सीखे थे। कुछ विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि ईसा मसीह स्वयं 'एसेनी' था। 'साम्स' (Psalms) व ईसाई मत पर बौद्ध सिद्धान्तों का जो प्रभाव पड़ा है, वह धम्मपद के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्टतया समझ में आ जायगा (धम्मपद ५।१६७-२२३, मेथ्यू २३।२७, ५।५४, २३।३; ल्यूक ६।३१)। शोपनहार ('रिलीजन एण्ड अदर एसेज़' पृष्ठ ११) स्पष्टतया स्वीकार करता है कि यद्यपि ईसाई मत यहूदी मत की आधार-शिला पर स्थित है, तो भी उस पर बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। ईसाई मत की ऐसी स्थिति है, मानो यहूदी धर्म के सूखे ठूठ पर भारतीय ज्ञान की सुन्दर लता फैल गई हो। ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल सैद्धान्तिक ही नहीं था, किन्तु वह ईसाई मत के पवित्र भवनों पर भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम ईसाई गिरजे प्राचीन बौद्ध मठों से बिलकुल ही मिलते-जुलते थे। प्राचीन भारतीय वास्तु निर्माण कला के इतिहास पर अधिकार रखने वाले डॉ० फर्ग्युसन भी इस मन्तव्य की पुष्टि करते हैं। वे यूरोप के कुछ गिरजों तथा कार्ले की बौद्ध गुफाओं में आश्चर्यजनक समानता पाते हैं। श्री रमेशचन्द्र दत्त के मतानुसार ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा है कि आज भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत-से धार्मिक कृत्य बौद्ध धार्मिक कृत्यों से बिलकुल ही मिलते-जुलते हैं ('एन्शण्ट इण्डिया' जि० २, पृष्ठ ३३५-३३६)। एक रोमन कैथोलिक पादरी को यह देखकर अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ था कि तिब्बत में बौद्ध धर्म-सम्बन्धी पूजा, रीति-रिवाज़, प्रार्थनादि की विधि, बौद्ध धर्म के गुरुओं की वेश-भूषा आदि रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बिलकुल ही समान हैं। मध्यकालीन यूरोप के ईसाई मठों और वहाँ के जीवन में तथा बौद्ध मठों और वहाँ के जीवन

में भी समानता दिखाई देती है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध धर्म ने ईसाई मत को पूर्णतया प्रभावित किया है।

ईसा की सातवीं शताब्दी में मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम मत यहूदी व ईरानी मतों से भिन्न नहीं है। इस्लाम के धर्म-ग्रन्थ कुरान (सूरये बकर, मंजिल १, पारा १, २) में ही इस बात को मान लिया गया है। डॉ० सेल अपने कुरान के अनुवाद (कुरान, वि० ४, पृष्ठ ८१) में लिखते हैं—"ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद ने रोज़ा वगैरह के बारे में भी, जैसा कि अन्य बातों में देखा जाता है, यहूदियों के सिद्धान्तों को माना है। यहूदी लोग भी जब रोज़ा रखते हैं तब सूर्योदय से सूर्यास्त तक न केवल अन्न-जल त्याग देते हैं, किन्तु स्त्री-सङ्ग, अङ्गलेप आदि का भी परित्याग करते हैं, तथा रात्रि को जो चाहे सो खाते-पीते हैं। वे भी बच्चे वाली माँ, बूढ़ों व बच्चों को रोज़ों से बरी कर देते हैं।" इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्त 'ला इलाह इल्लिला' में ज़रतुस्त्र के वचन 'नेस्त एज़द मगर यज़दन' का प्रभाव स्पष्टतया दीखता है। कुरान का प्रत्येक अध्याय (नवें के अतिरिक्त) 'बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम' शब्दों से प्रारम्भ होता है, और ये शब्द 'बनाम यज़दन बख्शिशे गर ददर' आदि ज़रतुस्त्रियों के शब्दों की, जिनसे प्रत्येक ज़रतुस्त्री अपनी पुस्तक प्रारम्भ करता है, याद दिलाये बिना नहीं रहते। मुसलमानों की नमाज़ भी अवेस्ता की ईश-प्रार्थना के आधार पर है।

भाषा साम्य तथा सांस्कृतिक साम्य के आधार पर प्राचीन यूनान व रोम के निवासियों को आर्यों की एक शाखा कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में सभी इतिहासकारों का एक मत है। प्राचीन यूनानियों के सम्बन्ध में सिनोबस ('एनशएट सिविलिजेशन' पृष्ठ १००-१०१) लिखते हैं—"जो लोग इस छोटे-से सुन्दर देश में आ बसे थे, वे हिन्दुओं व पारसियों से सम्बन्धित आर्य थे व उन्हीं के समान एशिया के पर्वतों से या कैस्पियन समुद्र की परवर्ती तृणाच्छादित भूमि से

आये थे। यूनानी इस लम्बी यात्रा को, जो कि उनके पूर्वजों ने की थी, भूल चुके थे। वे कहते थे कि इस भूमि के टिड्डी दल के समान हम भी यहीं के हैं। किन्तु उनकी भाषा तथा उनके देवताओं के नामों के कारण उनके आर्य होने में शंका का लेश भी नहीं रहता।" यूनान के प्राचीनतम निवासी मवेशी, भेड़ आदि पालते थे तथा दूध व मांस खाते थे। वे सामूहिक रूप से घूमते-फिरते थे और हमेशा हथियारबन्द रहते थे। वे प्रकृति को भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में पूजते थे, जो कि इस प्रकार हैं—ज्यूस, हेरा, एथिना, अपोलो, आर्टेमिस, हर्मिस, हेफेसटस, एफ्रोडाइट, पोज़ीडन, डायोनिसस इत्यादि। इन देवताओं के मन्दिर रहा करते थे, जहाँ उनकी पूजा की जाती थी। इन देवताओं के कार्य, शक्ति आदि भिन्न-भिन्न थे तथा उनका निवास-स्थान हिमाच्छादित ऑलिम्फस पर्वत था। इस पर्वत पर कोई भी मर्त्य नहीं पहुँच सकता था।

प्राचीन रोम के निवासियों का धर्म यूनानियों के धर्म से भिन्न नहीं था। वे लोग भी यूनानी देवताओं को बदले हुए नामों से पूजते थे। वहाँ मूर्ति-पूजा भी प्रचलित थी। वे देवता वैदिक देवताओं के समान मालूम होते हैं। भारतीयों तथा यूनानियों के समान रोम-निवासी भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानते थे और मुर्दों को जलाते थे। वे लोग मृतक श्राद्ध भी करते थे। इस सम्बन्ध में सिनोबस ("एन्शएट सिविलिजेशन" पृष्ठ २१४-२१५) ने जो-कुछ लिखा है वह विचारणीय है—"इसलिए जीवित व मृत दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण था कि सब रस्में अदा की जायँ। मृत व्यक्ति के परिवार के व्यक्ति एक चिता बनाते और उस पर शव को जलाते थे, तथा राख को एक पात्र में रखकर किसी स्थान में गाड़ देते थे। यही उन आत्माओं का मन्दिर माना जाता था, जो मृत्यु के पश्चात् देवता बन जाते थे। वर्ष के निश्चित दिनों में मृतव्यक्ति के सम्बन्धी इस स्थान पर भोजन लेकर आते थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि आत्मा को भोजन की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ

जमीन पर दूध तथा सुरा उँडेल दी जाती थी, और बलि-पशु का मांस जलाया जाता था। दूध व रोटियों के बरतन वहीं छोड़ दिए जाते थे। ये मृतक-क्रियाएँ बहुत समय तक जारी रखी जाती थीं। प्रत्येक परिवार को यह सब करना पड़ता था।"

रोम के निवासी अग्नि के भी पूजक थे, जो उनके घरों में तथा सार्वजनिक स्थानों में हमेशा जला करती थी, जिसमें सुगन्धित द्रव्य आदि डालकर हवन किया जाता था। भोजन करने के पहले प्रत्येक रोम-निवासी यज्ञ-वेदी के देवता को धन्यवाद देता था और भोजन तथा सुरा का थोड़ा भाग उसे प्रदान करता था। यह भारत के बलिवैश्वदेव का ही विकृत स्वरूप है। होरेस के समान नास्तिक भी भोजन करते समय यह सब-कुछ करता था। यूनानियों के समान रोम-निवासी भी विवाह को धार्मिक कृत्य समझते थे; क्योंकि धर्म की आज्ञा थी कि वंशोच्छेद न होने पाए। इसलिए प्रत्येक रोम-निवासी विवाह के समय कहता था कि मैं सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंशसात्यय की रक्षा के लिए विवाह करता हूँ। यहाँ हमें पारस्करादि गृह्यसूत्रों के 'प्रजां संजनयावहै' आदि वचनों की याद सहसा आ जाती है। आज भी शास्त्रीय विवाह-पद्धति के अनुसार वर-वधू दोनों को यह प्रण करना पड़ता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही हम विवाह करते हैं, न कि इन्द्रिय-लोलुपता के शिकार बनने के लिए। इस प्रकार प्राचीन रोम के रीति-रिवाज़ों पर भारतीय झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

प्राचीन यूनान व रोम के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शन की छाप स्पष्ट ही है। यूनान के प्रारम्भिक दर्शन-शास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। विश्व व ईश्वर का ऐक्य, अनेकत्व का मिथ्या आभास, मानस-शक्ति व वैयक्तिक अस्तित्व का तादात्म्य आदि 'एलेटिक्स' के सिद्धान्त उपनिषदों व वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। एम्पिडोक्लीज के सिद्धान्तों में सांख्य का प्रकृति के अनादित्व और अनंतत्व का सिद्धान्त स्पष्ट दीखता है। पाइथागोरस

के धार्मिक व वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर भारत का कितना प्रभाव है, यह तो सर्वमान्य है। उसका पुनर्जन्म व पञ्चतत्त्व के सिद्धान्त को मानना, तथा उसके नाम से विख्यात रेखागणित के सिद्धान्त का उसके भी पहले आपस्तम्ब, बौधायन आदि शुल्वसूत्रों में पाया जाना इस मन्तव्य, की पुष्टि करते हैं। प्राचीन यूनान की जनश्रुति के अनुसार थेल्स, एम्पीडोक्लीज़ एनेनेगोरस, डेमोक्रायटस आदि विद्वानों ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भारत की यात्रा की थी (मैकडॉनेल "संस्कृत लिटरेचर" पृष्ठ ४२२)। इस सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स ('वर्क्स' १।३६०) कहते हैं—"दर्शनशास्त्रों के बारे में यह कहना पर्याप्त होगा कि न्याय तथा पेरिपेटेटिक, वैशेषिक व आयोनिक, वेदान्त व प्लेटोनिक, सांख्य व इटेलिक, योग और स्टोइक दर्शनों में समानता दिखाई देती है; जिससे गौतम की एरिस्टॉटल से, कणाद की थेल्स से, जैमिनि की सॉक्रेटीज़ से, व्यास की प्लेटो से, कपिल की पाइथागोरस से तथा पतञ्जलि की ज़ेनो से तुलना हो सकती है।" नियोप्लेटोनिस्ट दर्शन के आत्मा और प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व, दुःख का प्रकृति से सम्बन्ध न कि आत्मा से, आत्मा का तेज से तादात्म्य आदि सिद्धान्त सांख्य के सिद्धान्तों से सम्बन्धित किये जा सकते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन ने नियोप्लेटोनिस्ट दर्शन (ईसा की प्रथम कुछ शताब्दियाँ) को प्रभावित किया था; क्योंकि उस समय भारत और मिस्र में ज़ोरदार व्यापार होता था। ईसाइयों के 'नास्टीसीजम' पर भी जो कि ईसा की दूसरी व तीसरी शताब्दी में ज़ोरदार था, भारत का प्रभाव पड़ा है। आत्मा और प्रकृति का पारस्परिक विरोध, बुद्धि मन आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व, आत्मा व तेज का तादात्म्य, मनुष्यों का फेनामेटिकॉय, सायकिकॉय, हायलिकॉय आदि सिद्धान्त सांख्य दर्शन से लिये गए हैं। सिरिया के नॉस्टिक दार्शनिक बाडेसनिस ने भारतीय दार्शनिकों से भारत के बारे में बहुत जानकारी प्राप्त की थी। वह जैसा कि सांख्य दर्शन का सिद्धान्त है, लिङ्ग-शरीर का

अस्तित्व भी मानता था। नॉस्टिकों ने स्वर्ग की भावना भी बौद्ध धर्म से ली है। वर्तमान काल में भी उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व शोपनहार, हर्टमेन आदि जर्मन दार्शनिकों के मन पर अमिट प्रभाव डाले बिना नहीं रहे।

पाश्चात्य जगत् विज्ञान व साहित्य के क्षेत्र में भी भारत का कुछ कम ऋणी नहीं है। यूनानी गणित विद्या चिकित्सा-शास्त्र आदि पर भारतीय प्रभाव के चिह्न आज भी दिखाई देते हैं। भारतीयों द्वारा शोधे गए अङ्कों व 'सशून्य-दशांश-गणना-विधि' का उपयोग आज भी समस्त संसार में हो रहा है। इस गणना-विधि का, न केवल विश्व की गणित-विद्या पर, बल्कि सांस्कृतिक विकास पर कितना भारी प्रभाव पड़ा है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय शुल्व-सूत्र व यूनानियों के ग्रन्थों में रेखागणित-सम्बन्धी इतनी समानता है कि गणित-विद्या के इतिहासकार केण्टोर को मान लेना पड़ा कि यूनान व भारत में अवश्य परस्पर आदान-प्रदान हुआ है। उसके मतानुसार शुल्वसूत्रों पर हेरो (ई० पू० २१५) के रेखागणित का प्रभाव ई० पू० प्रथम शताब्दी पर पड़ा है। किन्तु शुल्वसूत्र तो हेरो के कितने ही पहले के हैं व भारत में रेखागणित का प्रारम्भ यजुर्वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल से होता है, क्योंकि उनमें यज्ञवेदी बनाने की विधि, उसके आकार आदि का वर्णन है। अतएव यह स्पष्ट है कि भारत ने ही इस क्षेत्र में यूनान को प्रभावित किया था। खोज से पता चला है कि यूनानियों का 'मेटिरिया मेडिका', यहाँ तक कि 'चिकित्सा-शास्त्र के पिता' हिप्पोक्रेटीज़ का भी, भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थों के आधार पर बना था।

यूरोप के माध्यमिक युग में भी भारत के विज्ञान, साहित्य आदि ने यूरोप को प्रभावित किया था। इस बार यह काम अरबों द्वारा किया गया था। अरब विद्वानों ने भारतीय विद्याओं को सीखकर उनका प्रचार स्पेन के विश्वविद्यालयों द्वारा यूरोप भर में किया। इस समय अरबों का

साम्राज्य उत्तर अफ्रीका व दक्षिण यूरोप के स्पेन आदि देशों तक फैला था। स्पेन के सेलेमेनका आदि के विश्वविद्यालयों में भारतीय विद्या-निष्णात अरब आचार्यों के चरणों में बैठकर भारतीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए यूरोप के विभिन्न भागों से विद्यार्थी आते थे। अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति, चिकित्साशास्त्र आदि के ज्ञान के लिए अरब विद्वान् स्वतः ही अपने को भारत का ऋणी मानते हैं। अरबी भाषा में अङ्कों के लिए 'हिंसा' (हिन्दसा) शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अङ्क-ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। अबुजाफर व अलबेरुनी के समान अरब विद्वान् यह स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि 'सशून्य-दशांश-गणना-विधि' के शोध का श्रेय भारतीयों को ही मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में 'एनसायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में 'जीरो' पर लिखे गए लेख में लिखा है—"जो कुछ निश्चित है, वह यह है कि हमारी 'सशून्य-दशांश-गणना-विधि' अपने पूर्ण विकसित रूप में, जिसके कारण 'एबेकस' के खानों के बिना भी हम संख्या गिन सकते हैं, भारत में उत्पन्न हुई है। भारतीयों से यह विधि ज्योतिष के टेबलों के साथ ई० स० ७०३ के लगभग भारतीय राजदूत द्वारा बगदाद लाई जाकर अरबों के पास आई। किसी तरह ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध अबुजाफर मुहम्मद अल खारिज्मी ने इस विधि को अरबी भाषा में समझाया। उस समय से यह धीरे-धीरे अरबी जगत् में फैलने लगी। यूरोप में बारहवीं शताब्दी में यह विधि अपने सर्वाङ्ग रूप में अरबों से प्राप्त की गई थी, व इस पर आश्रित अङ्कगणित 'अलगोरित्मस', 'अलगोरिथ्म' आदि नामों में जाना जाता था। यह आश्चर्यजनक शब्द 'अलखारिज्मी' के परिवर्तित रूप के सिवाय और कुछ नहीं है, जैसी कि रेनार्ड ने कल्पना की थी। उक्त गणितज्ञ के ग्रन्थ की कैम्ब्रिज-स्थित हस्तलिखित प्रति के प्रकाशित होने पर उपरोक्त कथन को पुष्टि मिली है। खारिज्मी के अङ्कगणित की रीतियाँ बाद के पूर्वीय ग्रन्थों में सरल बनाई गई थीं। पिसा के लियोनार्डो ने पश्चिम में व मेक्सिमस

प्लेनेडिस ने पूर्व में इन सरल रीतियों का प्रचार किया। अरब 'सिफ्र' के लिए लियोनार्डो द्वारा प्रयुक्त किये गए 'जेफिरो' (Zephiro) से ही अंग्रेज़ी का जीरो (Zero) शब्द बना मालूम होता है।

प्राचीन अरब के सम्पूर्ण चिकित्सा-शास्त्र का मूल आधार आयुर्वेद के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी अनुवाद है। ऐसा कहा जाता है कि बगदाद के खलीफाओं ने बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में करवाया था। इस प्रकार अरब के चिकित्सा-शास्त्र का सूत्रपात हुआ। चरक का नाम लैटिन भाषा तक में पहुँच गया था। अनुशीरवाँ का समकालीन बेजोयेह आयुर्वेद का अध्ययन करने भारत आया था। ईसा की आठवीं शताब्दी में अल मन्सूर ने कितने ही संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया। खलीफा हारूनल रशीद ने भारतीय वैद्यों को अपने दरबार में आमन्त्रित किया था। इस प्रकार अरब लोग चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान के लिए भारत के ऋणी हैं, जिसका प्रचार उन्होंने यूरोप में भी किया। इस सम्बन्ध में मेकडॉनेल ("संस्कृत लिट्रेचर", पृष्ठ ४२७) ने लिखा है—"ईसा के सात सौ वर्ष पश्चात् अरबों पर भारतीय आयुर्वेद का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है, क्योंकि बगदाद के खलीफाओं ने तद्विषयक कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों को अरबी में अनुवादित करवाया। चरक व सुश्रुत के ग्रन्थ ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त के लगभग अरबी में अनुवादित किये गए, और ईसा की दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध अरब हकीम अलरज़ी द्वारा प्रमाण-ग्रन्थ माने जाकर उद्धृत किये गए हैं। यह अरबी चिकित्सा-शास्त्र ईसा की सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप के वैद्यों के लिए प्रमाणभूत रहा। यूरोपीय वैद्य भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थों के लेखकों को भी बहुत मानते होंगे; क्योंकि अरब लेखक इब्नसीना, अलरजी, इब्नसरफ्यूँ आदि के ग्रन्थों के लैटिन अनुवाद में चरक का बार-बार उल्लेख आता है। आधुनिक काल में भी यूरोपीय शल्य-विद्या ने "हिनोप्लेस्टी' के 'ऑपरेशन' का ज्ञान गत शताब्दी में भारत से प्राप्त किया।"

साहित्यिक क्षेत्र में भी प्राचीन भारत का यूरोप पर प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन यूनान की कुछ कथाओं पर भारतीय कथा-साहित्य का प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु मध्यकालीन यूरोप के कथा-साहित्य पर यह प्रभाव बिलकुल ही स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रभाव भी अरबों के ही कारण था। ईरान के सेसानियन राजा खुसरु अनुशीरवाँ (ई० स० ५३१-ई० स० ५७६) ने संस्कृत पञ्चतन्त्र का अनुवाद बरज़ोई नामी ईरानी हकीम द्वारा पेहेलवी भाषा में करवाया। ई० स० ५७० में उसका अनुवाद सिरिक भाषा में किया गया। ईसा की ८वीं शताब्दी में पञ्चतन्त्र के पेहेलवी अनुवाद का अरबी में अनुवाद किया गया। यह अरबी अनुवाद अत्यन्त ही महत्त्व का है; क्योंकि इस पर से बहुत से अनुवाद किये गए, जैसे बाद का सिरिक भाषा में अनुवाद (ई० स० १०००), यूनानी में (ई० स० ११८०), फारसी में (ई० स० ११३०) व दूसरी बार फारसी में (ई० स० १४९४), प्राचीन स्पेनिश भाषा में (ई० स० १२५१), हिब्रू भाषा में (ई० स० १२५१)। यूरोप के मध्यकालीन साहित्य को बनाने में इन अनुवादों का पूरा-पूरा हाथ था। पञ्चतन्त्र के अनुवाद की चौथी आवृत्ति केपुआ के जॉन द्वारा किये गए हिब्रू अनुवाद के लैटिन अनुवाद (ई० स० १२७०) के रूप में हुई। इस अनुवाद का नाम 'डिरेक्टोरियम ह्यूमेनी व्हिलो' था। इस पर से 'डास बुश डेर बेइस्पेल डेर अल्टेन वायसेन' नामी जर्मन अनुवाद किया गया, जो सर्वप्रथम ई० स० १४०१ में छपवाया गया। उल्म नगर में इस अनुवाद के ई० स० १४८३ से १४८५ तक चार संस्करण व ई० स० १५९२ तक तेरह संस्करण और निकले। 'डिरेक्टोरियम' से इटेली भाषा में अनुवाद किया गया, जे० ई० स० १५५२ में व्हेनिस नगर में छपवाया गया। इसी अनुवाद से ई० स० १५७० में सर टॉमस नॉर्थ ने अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार इस अंग्रेज़ी अनुवाद व मूल संस्कृत के प्रथम अनुवाद के मध्य अनुवादों की पाँच आवृत्तियों में एक

हज़ार वर्ष का अन्तर हो जाता है। दमश्क के जॉन द्वारा यूनानी भाषा में लिखित 'बरलाम व जोसेफेट्स' का कथा-संग्रह भारतीय कथा साहित्य के पाश्चात्य देशों में प्रचार के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण है। यह जॉन ईसाई था व खलीफ अल मन्सूर (ई० स० ७५३-७७४) के दरबार में रहता था, जबकि 'कालिलाह व दिमनाह" का अनुवाद अरबी भाषा में किया गया था। जॉन द्वारा लिखित पुस्तक धीरे-धीरे ईसाई मत की धर्म-पुस्तक बन गई, और वह मध्य युग में एशिया व यूरोप की बहुत सी भाषाओं में अनुवादित की गई। इसमें भारतीय कथाएँ संग्रहीत की गई हैं। कथानायक भी बोधिसत्त्व के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है, क्योंकि जोसेफेट उसी का विकृत रूप है, यह जोसेफेट ग्रीक व रोमन चर्च में ईसाई सन्त के पद तक पहुँच गया, यहाँ तक उसका एक दिवस भी निश्चित कर दिया गया—ग्रीक चर्च में २६ अगस्त व रोमन चर्च में २७ नवम्बर। यथार्थ में, विश्व के धार्मिक इतिहास में यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म का बोधिसत्त्व ईसाई-मत में एक महान् ईसाई सन्त मान लिया जाय।

कथा-साहित्य के साथ-ही-साथ शतरञ्ज (चतुरङ्ग) के खेल ने भी भारत से अपनी पश्चिमी यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। यूरोप के मध्य-कालीन सामन्त, जिन्हें कुछ काम न था व जिनके लिए समय बिताना भी मुश्किल था, इसी शतरञ्ज के खेल को खेलकर तथा पञ्चतन्त्र को पढ़-कर अपना समय बिताते थे। सचमुच में यह प्राचीन भारत के लिए गौरव की बात है कि वह मध्यकालीन यूरोप के निकम्मे सामन्तों को काल-यापन की मनोरञ्जन व शिक्षा से परिपूर्ण सामग्री प्रदान कर सका।

प्राचीन लेख—बेबिलोनिया, मिस्र आदि के प्राचीन लेखों से भारतीय संस्कृति के पाश्चात्य देशों पर प्रभाव का स्पष्टीकरण होता है। पश्चिमी एशिया, उत्तर अफ्रीका आदि के विभिन्न प्रदेशों में आर्य लोग ई० पू० १८०० वर्ष के लगभग बस गए थे। बेबिलोनिया, मिस्र आदि के प्राचीन लेखों से इस कथन की पुष्टि होती है। ई० पू० १७६० वर्ष

के 'केसाइट'-जाति के लेख मिले हैं, जिनमें उनके राजाओं के नाम उल्लिखित हैं। उन नामों में वैदिक देवताओं के नाम अंश रूप से दिखाई देते हैं, जैसे 'सुरियस', 'मरुत्तस', 'बगस्' आदि। इन केसाइट लोगों ने रथ में घोड़े जोतने की प्रथा बेबिलोनिया आदि में प्रारम्भ की थी। घोड़े के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने वाला बेबिलोनिया की भाषा का 'सुसु' शब्द संस्कृत के अश्व शब्द से बना मालूम होता है। केसाइट-लेखों के तीन शताब्दी बाद के टेल-एल-अमर्ना के राजकीय पत्रों (ई० पू० १४०० वर्ष के लगभग) से मालूम होता है कि पश्चिमी एशिया के मिटान्नी लोगों पर यूफेटिस नदी के ऊपरी किनारे के भाग में आर्यवंश के राजा राज्य करते थे। इन राजाओं के नाम पूर्णतया भारतीय थे, जैसे सुत्तर्न, दसरत्त, अर्ततम, तथा ये राजा वैदिक देवताओं के उपासक थे। इन्हीं पत्रों में सिरिया व पैलस्टाइन मे राज्य करने वाले भारतीय राजाओं के नाम भी उल्लिखित हैं, जैसे 'येनोम का बिरिदास', 'कीलह का सुवरदत', 'तानाश का यसदत', 'तिरवशान का अर्तमान्य' इत्यादि। ई० स० १९०७ में विंक्लर ने यह प्रमाणित किया कि ई० पू० १३६० के एक सन्धि-पत्र में साक्षी रूप से जिन देवताओं का आह्वान किया गया है, उनमें चार वैदिक देवता भी हैं, जैसे 'इन्द्-अ-र' (इन्द्र), 'उरुव्-न' या 'अ-रु-न' (वरुण), 'मित्र' व 'नासत्य'। कुछ वर्षों पूर्व एशिया मायनर के बोगसकुई स्थान से प्राचीन हिट्टाईट-लेखों में कुछ प्राचीन मिटान्नी लेख मिले हैं। उनमें अश्व-पालन के विषय में लिखा है और "ऐकवर्तन्त वसन्न सत्र" आदि वचनों में 'ऐक', 'तेरस्', 'पंजस्', 'सत्त', 'नव' आदि भारतीय संख्याओं का उल्लेख है। इन लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय मिटान्नी लोगों में योद्धाओं की एक जाति थी, जो 'मरन्न' कहलाती थी। इस शब्द को संस्कृत के 'मर्य' शब्द से सम्बन्धित किया जाता है (चाइल्ड—'दी आर्यन्स', पृष्ठ १८-२१)। प्राचीन मिस्र के एखनॉटन नामी राजा के राजत्वकाल के पहले हिक्सॉस नामी विदेशी जाति ने आक्रमण किया और उसने मिस्र में रथ के उप-

योग का श्रीगणेश भी किया। एखनॉटन का एकेश्वरवाद जो मिस्र के लिए बिलकुल ही नई बात थी, कदाचित् हिक्सॉस-आक्रमण का फल हो; क्योंकि हिक्सॉस आर्य थे व एकेश्वरवाद को भली भाँति अपना चुके थे। हिक्सॉस लोगों के आर्य होने में किसी ऐतिहासिक को सन्देह नहीं है। इन सब ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि ईसा के लगभग १५०० या १६०० वर्ष पूर्व पश्चिमी एशिया में भारतीय आर्यों का प्रभुत्व जम गया था और उन्होंने वहाँ की संस्कृति को भी प्रभावित किया था। इस प्रकार प्राचीन काल से ही पाश्चात्य देशों पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव के चिह्न स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं।

पूर्वीय देशों में भारतीय संस्कृति—पश्चिमी देशों के समान पूर्वीय देशों पर भी प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति की जबरदस्त छाप पड़ी थी, जिसके चिह्न आज भी वर्तमान हैं। इस कार्य में बौद्ध-धर्म का बड़ा भारी हाथ रहा है। चीन के इतिहासकारों के मतानुसार ई० पू० २१७ वर्ष के लगभग बौद्ध-प्रचारक चीन में पहुँचे थे और अपने धर्म का प्रचार करने के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गए थे। इसके कितने ही समय पश्चात् चीनी सम्राट् ने एक बार सपने में देखा कि एक पीले देवता पूजा चाहते हैं। राज्य के ज्योतिषी ने इस सपने का यह मतलब निकाला कि पीले देवता से गौतम बुद्ध का तात्पर्य है। इस पर सम्राट् ने भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाये और ई० स० ६७ में भारत से काश्यप व मातङ्ग नाम के दो भिक्षु भारत से चीन भिजवाये गए। इस प्रकार चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। बौद्ध-साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया जाने लगा। परिणामतः चीन में बौद्ध-धर्म की जड़ें मजबूत होने लगीं। किन्तु कन्फ्यूशियस का मत इसके मार्ग में रोड़े अटकाने लगा; क्योंकि बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार संसार को छोड़कर भिक्षु का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस विरोध के कारण लगभग दो शताब्दी तक किसी भी चीनी को बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी जाती थी। किन्तु भारत से बौद्ध

भिक्षु बराबर चीन जाते ही रहे। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ईसा की चौथी शताब्दी में चीनियों को बौद्ध सङ्घ में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गई। अब चीनियों ने भी भारत की पवित्र भूमि की यात्रा प्रारम्भ कर दी। सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारजीव चीन में ही था, जबकि चीनी बौद्ध यात्री फाहियान भारत में आया था। ईसा की ८वीं शताब्दी में, जब इत्सिंग, जो एक चीनी बौद्ध यात्री था, भारत की यात्रा कर रहा था तब उसे भारत में कितने ही चीनी भिक्षु मिले; जो पवित्र भारत-भूमि के दर्शनों के लिए आये थे। इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार व प्रसार स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में रेवे० जोसेफ एड्किन्स ('जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी'; अक्टूबर १९३३, पृष्ठ ८९७-९००) कहते हैं—"चीन में जो बौद्ध-धर्म का विकास तीव्र गति से हुआ था वह निकटवर्ती देशों से छिपा नहीं था। चीन के राजा शुङ्ग्वेनटि के राजत्वकाल में, जिसने तीस वर्ष से अधिक राज्य किया और जिसका अन्त ई० स० ४५३ में हुआ, भारत व चीन के मध्य-स्थित देशों के राजदूत चीन पहुँचे थे। उनके चीन जाने का उद्देश्य यह था कि वे चीन में बौद्ध धर्म के विकास के लिए वहाँ के राजा को बधाई दें, जिससे भविष्य में उनके देशों का चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाय, क्योंकि वे भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इस राज-वंश के इतिहास में अरबन के राजा पिशनवर्मा का उक्त चीन-सम्राट् को भेजा हुआ पत्र आज भी सुरक्षित है।"

भिन्न-भिन्न चीनी सम्राटों के राजत्वकाल में बौद्ध धर्म की कभी उन्नति और कभी अवनति होती रही। ईसा की सातवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म के विकास को कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचाया गया। इसके पश्चात् राष्ट्रीय धर्म तथा गार्हस्थ्य जीवन पर अधिक प्रेम होने के कारण ऐसा राज-नियम बनाया गया, जिससे लगभग १२००० चीनी बौद्ध भिक्षुओं को जबरदस्ती गृहस्थ बनना पड़ा। ईसा की ९वीं शताब्दी में लगभग ४६०० बौद्ध मठों का विध्वंस किया गया, तथा २,६००००

भिक्षुओं को गृहस्थ बनना पड़ा। ईसा की १०वीं शताब्दी में ३०,००० बौद्ध मन्दिर बन्द कर दिये गए। इतना सब करने पर भी चीन से बौद्ध धर्म न निकाला जा सका। किन्तु उसे वहाँ के राष्ट्रीय धर्म 'टाओइज्म' के साथ कुछ आदान-प्रदान करना पड़ा। उसके कुछ देवता बौद्ध धर्म में अपनाये गए व उसने बौद्ध मठ-प्रथा को अपना लिया। अब कोई भी बौद्ध भिक्षु किसी भी रुकावट के बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता था। इस प्रकार बौद्ध धर्म चीनियों के जीवन में ओत प्रोत हो गया, जैसा कि आजकल भी है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार कुछ आकस्मिक कारणों से हुआ। ई० स० ६३२ के लगभग वहाँ स्ट्रांगसेन नामी सशक्त और महत्त्वाकांक्षी राजा राज्य करता था उसकी इच्छा चीन व नेपाल से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की हुई, जहाँ के राजा पूर्णतया बौद्ध थे। इसलिए, वहाँ की राजकुमारियों के लिए उसे भारत से बौद्ध भिक्षु बुलवाने पड़े। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनसेंग के समय में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था। उसने तिब्बत के उस राजदूत को देखा था, जो अपने देश को बौद्ध साहित्य ले जाने के लिए भारत आया था। स्ट्रांगसेन से छठो पीढ़ी के राजा के राजत्वकाल में नालन्दा का पद्म सम्भव नामी बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म की देख-भाल के लिए तिब्बत बुलवाया गया था। बिहार व बङ्गाल के बौद्ध धर्म पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ने के कारण तिब्बत का बौद्ध धर्म विकृत हो गया। वहाँ ई० स० ७४६ में पहला बौद्ध मठ बनवाया गया। उस समय तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म 'बॉनपूजा' था। इसमें भूत, पिशाच, शिव आदि की पूजा की जाती थी, तथा मनुष्यों को भी बलि दिया जाता था। ऐसी भूमि में बौद्ध धर्म सरलता से अपने पैर जमा सका, किन्तु वहाँ का मौलिक धर्म पूर्णतया निकाला न जा सका। ईसा की ९वीं शताब्दी में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया, तथा भिक्षु व भिक्षुणियों को राजोचित अधिकार दिये गए। ईसा की १०वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म

के विकास को जरा धक्का लगा; क्योंकि उस समय का राजा बौद्ध धर्म के विपरीत था; किन्तु थोड़े ही समय में वह मार डाला गया। ईसा की १३वीं शताब्दी में तिब्बत मंगोलों के अधिकार में गया। मंगोलों सम्राट कुबलाखाँ बौद्ध धर्म के राजनीतिक महत्त्व को समझ गया और उसने मंगोलिया में इसके प्रचार का आदेश दिया। इस इकार मंगोलिया में भी तिब्बती बौद्ध धर्म ('लामाइज़्म) का प्रचार हो गया। ईसा की १४ वीं शताब्दी में सांग-कापा लामा ने बौद्ध धर्म को सुधारा और उसके संगठन को अधिक कड़ा बनाया। उसने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि प्रत्येक लामा पद्मसम्भव का अवतार है। इसके पश्चात् की शताब्दी में लामा 'अवलोकितेश्वर बोधिसत्व' का अवतार माना जाने लगा।

ई० स० ३७२ के लगभग चीनियों ने कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उस समय कोरिया के तीन विभाग थे। उन तीनों विभागों ने धीरे-धीरे बौद्ध धर्म अपना लिया। पचास वर्ष में पूरे देश ने इस नये धर्म को अपना लिया। ई० स० ६१२ में तीनों राजवंश एक हो गए। यह नया राजवंश बौद्ध धर्म का इतना हिमायती था कि उसने यह राजनियम बनाया कि किसी भी व्यक्ति के तीन पुत्रों में से एक को बौद्ध सङ्घ में अवश्य ही प्रविष्ट होना चाहिए। ईसा की १६वीं शताब्दी में इस राजवंश का अन्त हुआ। उसके पश्चात् जो राजवंश आया, उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कोरिया में बौद्ध धर्म का पहला प्रभुत्व न रहा, तो भी आज वह वहाँ बहुत शक्तिशाली है।

कोरिया से जापान भेजे गए बौद्ध प्रचारकों का पहले अच्छा स्वागत नहीं किया गया। किन्तु ईसा की ७वीं शताब्दी में जापान के राजा ने बौद्ध धर्म का पक्ष ग्रहण किया और बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। ईसा की आठवीं शताब्दी में वहाँ ऐसा राजनियम बनाया गया कि शिन्तों देवता बोधिसत्व के अवतार ही हैं। इस प्रकार ईसा की

१७वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म जापान के सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र रहा। ईसा की १७वीं शताब्दी में उच्च वर्ग के लोगों ने कन्फ्यूसियस के सिद्धान्त मान लिए; किन्तु साधारण जनता तो बौद्ध सिद्धान्तों को ही मानती रही। ई० स० १८६७ तक बौद्ध धर्म का यह स्थान बना रहा। उसी वर्ष जापान में क्रान्ति हुई और उसके परिणामस्वरूप 'शिन्तोइज्म' को राजधर्म स्वीकार कर लिया गया। इससे बौद्ध धर्म को बड़ी ठेस लगी। फिर भी आज तक जापान में बौद्ध धर्म का प्रभुत्व बना ही हुआ है, यहाँ तक कि ईसाई मत भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यादान से मालूम होता है कि अशोक ने सोण व उत्तर को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए ब्रह्मदेश में भेजा था। इसके परिणामस्वरूप, पेगु व अराकान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। ब्रह्मदेश की जनश्रुति के अनुसार ईसा की पाँचवीं शताब्दी में सिंहलद्वीप के बुद्धघोष ने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यह बुद्धघोष पहले मगध में रहता था। सिंहलद्वीप में उसके जीवन के बारे में जो-कुछ जनश्रुति प्रचलित है, उसमें उसके ब्रह्मदेश में प्रचार का कोई उल्लेख नहीं है। कदाचित् उसका कोई शिष्य ब्रह्मदेश गया हो। ब्रह्मदेश के लोगों का अपना कोई धर्म नहीं था। अतएव उन्होंने इस नये धर्म को एकदम अपना लिया। आज, वहाँ बौद्ध धर्म ही एक-मात्र धर्म है।

चीनियों के ऐतिहासिक ग्रन्थों तथ मध्य एशिया में की गई खोज के द्वारा यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मध्य एशिया में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था, जहाँ तक भारत के बौद्ध सम्राट् कनिष्क का राज्य विस्तार था। ईसा की प्रथम छः या सात शताब्दियों तक वहाँ बौद्ध धर्म का प्राबल्य रहा। चीनी यात्री यूएनच्वेङ्ग (ईसा की ७वीं शताब्दी) ने इस देश का अच्छा वर्णन किया है। लौटती बार वह चीनी यात्री काशगर, खोटान, यारकन्द आदि होता हुआ चीन गया।

उसने प्रत्येक स्थान में बौद्ध धर्म को बहुत शक्तिशाली पाया। उस समय वहाँ के बौद्ध मठों में हज़ारों बौद्ध भिक्षु रहते थे। यूएनच्वेङ्ग ने लिखा है कि वहाँ के लोगों में किसी प्रकार की समानता न थी। उनकी वेश-भूषा, भाषा, लेखन-शैली, रीति-रिवाज आदि सब भिन्न-भिन्न थे। उनमें केवल बौद्ध धर्म की ही समानता थी। तुर्कों ने उन सबको जीता और उन्हें एकता के सूत्र में बाँध दिया। फिर भी पूर्वी तुर्किस्तान धार्मिक दृष्टि से तो भारत का ही एक अंग था। धीरे-धीरे वहाँ ईसाई मत ने भी प्रवेश किया। किन्तु, वहाँ शीघ्र ही इस्लाम का पदार्पण हुआ और उसने धीरे-धीरे बौद्ध धर्म को धर दबाया। ईसा की १४वीं शताब्दी के पश्चात् से इस्लाम प्रबल हो गया। ई० स० १७५० में मध्य एशिया चीन के अधीन हो गया; किन्तु धर्म में कोई परिवर्तन न हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वीय देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार कब व कैसे हुआ। इस सम्बन्ध में कनिङ्घम ('एन्शण्ट जॉग्राफी ऑफ इण्डिया' भूमिका, पृष्ठ ३५-३६) लिखते हैं—"हाल ही में की गई खोज के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ बौद्ध प्रचारकों का कितना प्रभाव था। तिब्बत, चीन, जापान, मंचूरिया आदि के साथ भारत का जो सम्बन्ध रहा, उस पर कोई टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि मंचूरिया के दूरवर्ती लॉर्ड नॉर्थ द्वीप में भी बौद्धों ने अपने धर्म का प्रचार किया था।"

ब्राह्मण-धर्म का प्रचार—ईसा की प्रथम व द्वितीय शताब्दी में पूर्वी द्वीप समुदाय में ब्राह्मण धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। प्राचीन तामिल साहित्य में उन द्वीपों तक की जाने वाली समुद्र-यात्रा का उल्लेख आता है। वाल्मीकि रामायण (किष्किन्धा काण्ड ४०।३०) में यव द्वीप के नाम से जावा का उल्लेख किया गया है। पूर्वी बोर्नियो में मूल वर्मा नामी किसी राजा के ईसा की चौथी शताब्दी के चार यूपलेख ढूँढे गए हैं, जिनमें ब्राह्मणों के एक उपनिवेश का उल्लेख

है, जिन्होंने शुद्ध वैदिक रीति से वहाँ यज्ञ किया था। चीनी यात्री फाहियान के उल्लेख से भी मालूम होता है कि ईसा की चौथी शताब्दी में जावा में ब्राह्मण रहते थे। फाहियान (लेगी—'फाहियान' अ० ३९) ने लिखा है—"इस प्रकार ९० दिन तक आगे बढ़ने पर वे 'जवद्वीप' नामी देश में पहुँचे, जहाँ नाना प्रकार के भ्रमपूर्ण मत व ब्राह्मण-धर्म प्रचलित हैं। बौद्ध धर्म का तो नाम भी नहीं लिया जा सकता।" जावा में ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के बारे में 'इन्टरनेशनल ज्यॉग्रफी' (एच० एल० मिल द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५६२) में लिखा है—"जावा का पश्चिमी भाग सुण्डानीज़ लोगों से बसा हुआ है; इसके पूर्वी छोर पर मदुरा द्वीप मदुरीज़ लोगों से बसा हुआ है। सब-के-सब मलायिज़ हैं; किन्तु जावानीज़ में हिन्दू-रक्त का अंश है। इनके अतिरिक्त बहुत से चीनी, अरब और अन्य राष्ट्रों के लोग भी यहाँ रहते हैं।······यहाँ की तीन मुख्य भाषाएँ हैं, जो कि परस्पर भिन्न हैं। जावानीज़ भाषा सबसे अधिक विकसित व बृहत् है। इसके दो रूप हैं—साहित्यिक और बोल-चाल का रूप। इसकी अपनी एक लिपि भी है, जिसका उद्गम भारत में हुआ है। ये सब लोग मुसलमान हैं, किन्तु पश्चिम में 'पेगेनिज़्म' और पूर्व में 'ब्रह्मनिज़्म' से प्रभावित हैं।······ मलाया लोगों के बाद, जहाँ तक ज्ञात है, सर्वप्रथम भारतीय यहाँ आकर बस गए। ई० स० १४७८ में मुसलमानों द्वारा हराये जाने के लगभग ८०८ वर्ष पूर्व भारतीय वहाँ आये। उन्होंने अपने धर्म और अपनी ऊँची संस्कृति का जावा व बाली द्वीपों में प्रचार किया, जोकि प्राचीन मन्दिरों और नगरों के खण्डहरों से स्पष्ट हो जाता है।"

बाली द्वीप में भी प्राचीन ब्राह्मणों ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था। यहाँ आज भी कितने ही प्राचीन हिन्दू-मन्दिर वर्तमान हैं। वर्तमान बाली-निवासियों का धर्म 'ब्राह्मण-धर्म' से बहुत मिलता-जुलता है। आज भी वे हिन्दू देवता तथा हिन्दू साहित्य को पूज्य मानते हैं। वे गाय को पवित्र मानते हैं व उसका दूध तक नहीं पीते। इस सम्बन्ध में

'इण्टरनेशल ज्यॉग्रफी' (पृष्ठ ५६३) में लिखा है—"बालिनीज़ मलायोज़ हैं और उनमें हिन्दू-रक्तांश है। ये अभी भी ब्राह्मण-धर्म को मानते हैं, जोकि द्वीप समुदाय में कहीं नहीं बच पाया। उनका साहित्य उन्हीं की भाषा में है, जो जावानीज़ से कुछ भिन्न है।"

इसके अतिरिक्त स्याम, कम्बोडिया, इण्डोचाइना आदि देशों पर भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जिसके कुछ चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीयों ने अपनी संस्कृति को विश्व के विभिन्न भागों में फैलाया था।

१५

उपसंहार

मानव-संस्कृति—भारतीय संस्कृति के बारे में पिछले पृष्ठों में जो कुछ लिखा गया है, उससे इस प्राचीन संस्कृति का महत्त्व समझ में आ जायगा। इस संस्कृति पर ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि यद्यपि यह अत्यन्त ही प्राचीन है, तथापि एक प्रकार से नवीन ही है। ऋग्वेद की उषः के समान यह भी 'युवति पुराणी' कही जा सकती है। यह संस्कृति ऐसे सिद्धान्तों पर आश्रित है, जो पुराने होते हुए भी नये हैं। जिस प्रकार सूर्यादि पुराने होते हुए भी आज तक मानव-जीवन के लिए हितकारी हैं, अतएव नये कहे जा सकते हैं, ठीक वही हाल भारतीय संस्कृति का भी है। यदि बारीकी से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इस संस्कृति की जड़ में वे सिद्धान्त हैं, जिनसे किसी देश-विशेष या जाति-विशेष का ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जाति का सतत कल्याण हो सकता है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों के सामने यही बृहत् दृष्टिकोण उपस्थित था किस प्रकार मानव-समाज का कल्याण हो और मनुष्य-मात्र सुखी हो। प्राचीन भारत के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि सिद्धान्तों को यदि इस कसौटी पर कसा जाय, तो निस्संदेह वे खरे उतरेंगे। ये ही सिद्धान्त इस संस्कृति के प्राण हैं, तथा देश-कालादि से अबाधित हैं। इस दृष्टि से यदि इस संस्कृति को देश-कालादि से सम्बन्धित न करते हुए मानव-संस्कृति कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। यथार्थ में, सब विश्व व सब काल में केवल दो ही संस्कृतियाँ

हो सकती हैं, जैसे मानव-संस्कृति, जो गीता में वर्णित दैवी सम्पत्ति के धरातल पर और दानव-संस्कृति, जो गीता में वर्णित आसुरी सम्पत्ति के धरातल पर स्थित रहती है।

जीवन-शक्ति व विश्व-व्यापी प्रभाव—मानवता के सिद्धान्तों पर स्थित होने के कारण ही भारतीय संस्कृति इतनी प्राचीन होते हुए भी आज वर्तमान है, चाहे काल के प्रताप से उसका स्वरूप विकृत भले ही हो गया हो। किन्तु आज भी उसमें वह अग्नि है, जिसको यदि देदीप्यमान किया जाय, तो उसके प्रकाश से समस्त विश्व पुनः जगमगा उठेगा। इसी जीवन-शक्ति के कारण उसने कितने ही आघातों को सहन किया और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा। पहले-पहल तो यह संस्कृति इतनी दृढकाय तथा जीवन से परिपूर्ण थी कि उसने समस्त विश्व में अपना प्रकाश फैला दिया था। प्राचीन काल की अन्य संस्कृतियाँ उसके प्रकाश में चौंधिया गई थीं। प्राचीन भारतीय वेदों का पवित्र संदेश लेकर विश्व के विभिन्न भागों में पहुँचे और मानव-जाति के लिए कल्याणकारी संस्कृति का पाठ पढ़ाने लगे। कुछ अग्निहोत्री ब्राह्मण जाकर ईरान में बस गए, तथा वहाँ उन्होंने संस्कृति का सूर्योदय किया। इसी सांस्कृतिक प्रकाश से यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि मतों ने प्रेरणा प्राप्त की। भारत के क्षत्रिय प्राचीन बेबिलोनिया, सीरिया, मिस्र आदि देशों में पहुँचे और उन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया तथा वहाँ के लोगों को अपनी संस्कृति का पाठ पढ़ाया। प्राचीन यूनान रोम आदि देशों में भारतीय आर्य पहले ही से बस गए थे। इस प्रकार पाश्चिमात्य जगत् इस संस्कृति से प्रकाशित होने लगा था, जिसके कुछ अंश को आज भी यूरोप में देखा जा सकता है। आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व भारतीय सम्राट् अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि में बौद्ध प्रचारक भेजकर इस संस्कृति के प्रकाश को अधिक देदीप्यमान किया। पौर्वात्य देशों का भी यही हाल रहा। भारतीय संस्कृति ने बौद्ध धर्म के रूप में मध्य एशिया, तिब्बत, मंगोलिया,

चीन, कोरिया, जापान आदि देशों को सांस्कृतिक जीवन प्रदान करके अपने तेज से उन्हें प्रकाशित किया। ब्राह्मणों ने यही काम जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि द्वीपों में किया। इस प्रकार प्राचीन भारतीयों ने अपनी संस्कृति को विश्व-व्यापी बनाने का प्रयत्न किया।

संस्कृति पर प्रहार—ऐतिहासिक काल में इस संस्कृति पर कितने ही प्रहार हुए। ईसा की १२वीं शताब्दी तक तो इन प्रहारों का इसके सुदृढ़ कार्य पर कोई असर न हुआ। इसके विपरीत आघात-कारियों को ही इसके चरणों में बैठकर इसका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ा। यूनान का सिकन्दर विश्व-विजेता बनकर भारत जीतने आया। वह पञ्जाब की व्यास नदी तक गिरते-पड़ते पहुँच गया; किन्तु जब वहाँ उसके सिपाहियों ने सुना कि पूर्व में एक बड़ा भारी साम्राज्य है, तो उनके छक्के छूट गए। आगे बढ़ने की इच्छा रहते हुए भी उसे वापिस लौटना पड़ा। भारतीय संस्कृति पर सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत उसे ही तक्षशिला के नंगे फकीरों से बुरी तरह हार खानी पड़ी। इसके पश्चात् यूनानी, पार्थियन, शक आदि विदेशी जातियाँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग में बसने लगीं। ये जातियाँ राजनीतिक दृष्टि से भले ही कुछ समय तक विजयी रही हों किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से तो भारत ने उन्हें पूर्णतया जीत लिया था। बैक्ट्रियन आक्रमणकारी मीनन्दर ने बौद्ध-सिद्धान्तों के सामने अपना सिर झुकाया और परिणामतः 'मिलिन्द पञ्हो' के साहित्य का जन्म हुआ। यूनानी राजा एण्टीयाक्लीडास का राजदूत विदिशा जाकर वैष्णव बन गया, तथा उसने अपने को 'परम भागवत' पदवी से विभूषित किया। शक, यूशी आदि विदेशी जातियाँ भी इस संस्कृति द्वारा पचा ली गईं। कनिष्क, वासुदेव आदि यूशी जाति के रहते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया भारतीय ही थे, जैसा कि शकक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार-लेख से स्पष्ट होता है। हूणों का भी यही हाल हुआ। तोरमाण मिहिरगुल आदि हूण राजा पक्के शैव बन गए, जैसा कि उनके

स्तम्भ-लेखों से स्पष्ट है। इस प्रकार ईसा की १२वीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति की पाचन-क्रिया बहुत ही अच्छी थी। किन्तु उसके पश्चात् वह बिगड़ने लगी।

मुस्लिम आक्रमण—राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मुस्लिम आक्रमण भारत के लिए अवश्य हानिकारक थे। सांस्कृतिक दृष्टि से मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीयों से ऊँचे तो नहीं थे, किन्तु उनमें स्वमत-प्रचार का जोश था। इस समय काल-गति से भारतीय संस्कृति का कलेवर जर्जरित हो गया था। इसलिए इन जोरदार आक्रमणों की चोट से वह सहम गया। परिणामतः ये आक्रमणकारी पचाये न जा सके। भारतीयों में से कुछ इस्लाम की भेंट चढ़े। इस आघात के पश्चात् भी यह संस्कृति बहुत सँभली। समय के फेर से इसे नये रूप की आवश्यकता थी। कबीर, तुलसी, नरसिंह मेहता, चैतन्य, तुकाराम, वल्लभ आदि मध्यकालीन सन्तों व भक्तों ने इस कमी को पूरा किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि की भक्ति-रूपी त्रिवेणी नये सिरे से बहाई गई। इसमें भारतीय संस्कृति का वही प्राचीन अमृत था, जिसने पुनः भारत के सांस्कृतिक जीवन को सजीव बना दिया।

अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना—ईसा की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस जर्जरित काय भारतीय संस्कृति पर एक और जबरदस्त आघात पड़ा, और वह था अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के परिणाम-स्वरूप इसका पाश्चात्य संस्कृति से संघर्ष। इस संघर्ष के कुछ समय बाद तक ऐसा मालूम होता था कि कदाचित् यह संस्कृति सदा के लिए संसार से विदा हो जायगी, किन्तु मानवता के सनातन सिद्धान्तों पर आश्रित संस्कृति में जीवन क्षीण नहीं हुआ था। इस जबरदस्त आघात से कुछ समय के लिए मूर्च्छा अवश्य आ गई थी। किन्तु इसे पुनः चेत आया और वह उठ बैठी। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि दिव्य विभूतियों ने इस संस्कृति में पुनः चेतना-शक्ति भर दी। भारतीय जाग

बैठे, वे अपने स्वरूप को समझने लगे एवं अपने खोये हुए रत्नों को पुनः पहचानने लगे। इस प्रकार सांस्कृतिक नव जागृति के युग का निर्माण हुआ।

गान्धी का प्रादुर्भाव—सांस्कृतिक नव जागृति के युग में भारतीयों ने अंग्रेज़ों की दासता को अनुचित समझकर उससे मुक्त होने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। ऐसे समय भारत में गांधी का प्रादुर्भाव हुआ। उस तपस्वी ने सत्य और अहिंसा से सज्जित होकर असत्य और हिंसा पर आश्रित साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का निश्चय किया। भारत की आकांक्षाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ महात्मा गांधी में ही केन्द्रित होने लगीं। वे ही मानो शरीरधारी भारत हों। उन्होंने भारतीय संस्कृति को न केवल अपने जीवन में ओत-प्रोत किया, किन्तु मानव-जीवन के सञ्चालन में भी उसकी उपयुक्तता चरितार्थ करके बता दी। उन्होंने पुनः समस्त भारत में भारतीय संस्कृति के प्रतीक सत्य, अहिंसा और तप की त्रिवेणी बहा दी, वह भी ऐसे समय में, जबकि विश्व-शान्ति के मृग-जल के पीछे दौड़ता हुआ अशान्ति-गर्त में गिरता है व नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। महात्मा गांधी ने न केवल भारतीय स्वातन्त्र्य को ही जन्म दिया, अपितु मानव-स्वातन्त्र्य व मानव-सौख्य का महामन्त्र इस सन्तप्त विश्व के सामने उपस्थित किया। उन्होंने विश्व को बता दिया कि मानवता के सिद्धान्तों पर आश्रित भारतीय संस्कृति को अपनाने से ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार, यथार्थ में, भारतीय संस्कृति का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

भारतीयों का कर्तव्य—इस प्राचीन संस्कृति के प्रति भारतीयों का भी कुछ कर्तव्य है। आज विश्व भौतिकवाद से अन्धा बनकर नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहा है। बड़े-बड़े वादों के अन्तर में छिपा हुआ स्वार्थ मूक जनता को रौंद रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति ने 'अणु बम' के समान संहारक अस्त्र-शस्त्रों को जन्म देकर सौख्य व शान्ति का दिवाला निकाल दिया है। विश्व में चहुँओर 'त्राहि-त्राहि' मची हुई

है। ऐसी विकट परिस्थिति में विश्व को भारत में ही आशा की किरण दिखाई देती है। विश्व के दूरदर्शी विचारकों का यह विश्वास है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति ही मानवता की रक्षा कर सकती है। ऐसी परिस्थिति में भारतीयों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। उन्हें चाहिए कि वे अपनी प्राचीन संस्कृति को समझें और यह जानने का प्रयत्न करें कि किस प्रकार इसके द्वारा मानव-जाति का कल्याण किया जा सका था। साथ ही, उन्हें इसके मूलभूत सिद्धान्तों को अपने जीवन में ओत-प्रोत करना चाहिए। वे अपने पूर्वजों के गौरवशील कर्मों से अपने लज्जास्पद कर्मों की तुलना करें और उससे कुछ शिक्षा प्राप्त करके अपना उद्धार करें। इसी प्रकार वे भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को आत्मसात् कर सकते हैं और यन्त्र-युग-जन्य स्वार्थपूर्ण आर्थिक अहमहमिका तथा अणु-बम आदि महा भयंकर अस्त्र-शस्त्रों को जन्म देने वाली दानव-संस्कृति से परित्रस्त विश्व को औपनिषदिक ऋषि, बुद्ध और गान्धी को जन्म देने वाली मानव-संस्कृति का अमृत पिलाकर शाश्वत शान्ति का अनुभव करा सकते हैं।

संस्कृति के दोष—भारतीय संस्कृति के गुणों के साथ-साथ काल-वशात् जो उसमें दोष आ गए हैं, उन्हें भूलना नहीं चाहिए। समाज को संगठित और सुव्यवस्थित बनाने के लिए आयोजित वर्ण-व्यवस्था आज बहुत ही बिगड़ गई है। उसी से समाज में ऊँच-नीच का भाव बढ़ गया है तथा परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति पर अस्पृश्यता का बड़ा भारी कलङ्क लग गया है। यदि भारतीय संस्कृति को पुनः विश्व-विजयी बनना है, तो यह कलङ्क जल्दी ही धुल जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त धर्मान्धता, अन्ध-विश्वास, सामाजिक रूढ़ियों आदि के रूप में और भी दोष व त्रुटियाँ इस संस्कृति के जीर्ण और जर्जरित कलेवर में समा गई हैं, जिनके कारण जीवन-शक्ति क्षीण होती जाती है।

भारतीय संस्कृति की विश्व को देन—पिछले पृष्ठों में स्पष्ट रूप से समझाया गया है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति ने लोक-हित व विश्व-

कल्याण के लिए कितने ही तत्त्व, सिद्धान्त, आयोजनाएँ आदि उपस्थित कीं, उनमें से निम्नाङ्कित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे विश्व आज भी लाभ उठा सकता है। सारांश में यही भारतीय संस्कृति की विश्व को देन है—

(१) भारत के ऋषियों ने जीवन-मरण की पहेली सुलझाने के लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त ढूँढ़ा और योग के रूप में सच्चे जीवन की एक योजना उपस्थित करके आत्मतत्त्व की सर्वोपरि सत्ता स्थापित की।

(२) प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम के समान सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त ढूँढ़ा, जिसको अपनाने से आज भी विश्व के कितने दुःख दूर हो सकते हैं।

(३) भारत के प्राचीन विद्वानों ने गणित विद्या के परमावश्यकीय सिद्धान्त 'सशून्य-दशांशगणनाविधि' को जन्म देकर विश्व का बड़ा भारी उपकार किया। समस्त विश्व ने उक्त गणना-विधि को अपना लिया है।

(४) प्राचीन भारत के आयुर्वेद के सिद्धान्तों को पाश्चिमात्य जगत् ने अपनाया। आयुर्वेद के कितने ही ग्रन्थ अरबी तथा अन्य प्राचीन भाषाओं में अनुवादित किये गए।

(५) प्राचीन भारत के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त पौर्वात्य व पाश्चात्य देशों द्वारा अपनाये गए।

(६) प्राचीन भारत की भाषा ने पाश्चिमात्य देशों की भाषाओं को प्रभावित किया।

(७) भारत के ब्राह्मणों ने पूर्वीय द्वीप-समुदाय में कितने ही उपनिवेश स्थापित किये।

(८) प्राचीन भारत के व्यापारियों ने पाश्चिमात्य देशों से व्यापार किया और वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार भी किया।

(९) प्राचीन भारत के कथा-साहित्य ने मध्यकालीन यूरोप के

साहित्य पर खूब ही असर डाला। पञ्चतन्त्र का अनुवाद एशिया और यूरोप की कितनी ही भाषाओं में हुआ।

(१०) प्राचीन भारत का चतुरङ्ग (शतरञ्ज) का खेल मध्यकालीन यूरोप में फैल गया और वहाँ अत्यन्त ही लोकप्रिय बन गया।